समाधितंत्र प्रवचन भाग-४

(श्री समाधितंत्र शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के १९७४-७५ के समाधिभाव प्रेरक अक्षरशः प्रवचन)

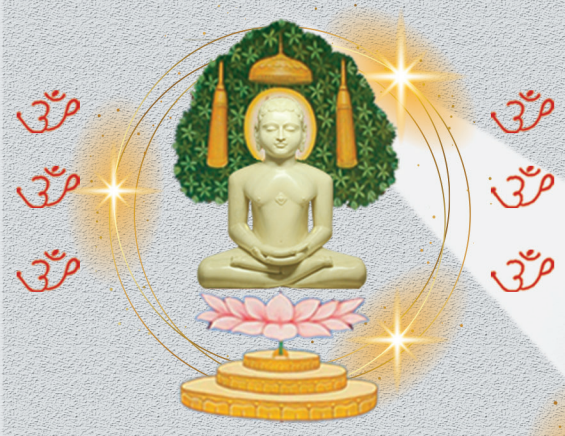

श्री महावीरस्वामी

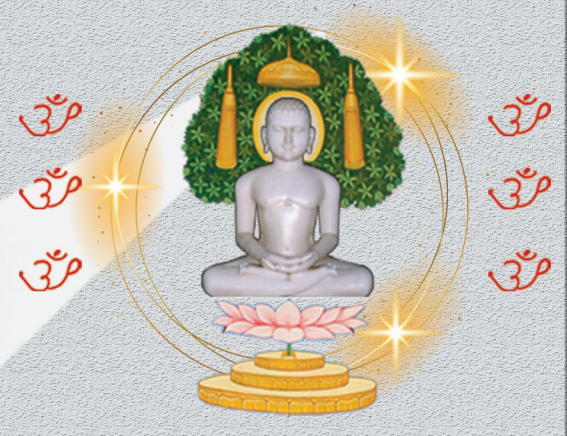

श्री सीमंधरस्वामी

श्री समाधितंत्र

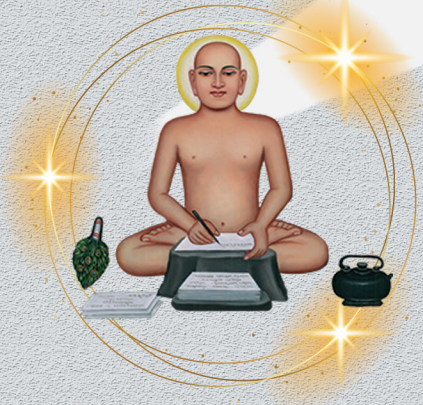

श्री पूज्यपाद आचार्य

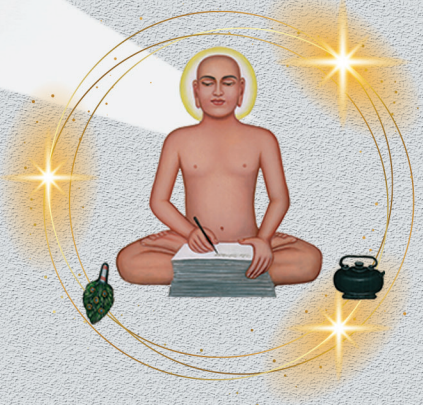

श्री प्रभाचंद्र आचार्य

पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

प्रकाशक :-श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विले पार्ले, मुंबई

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

समाधितन्त्र प्रवचन

(भाग-4)

(**श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादस्वामी** विरचित **श्री समाधितन्त्र शास्त्र** पर **अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के शब्दशः प्रवचन)

(गाथा - 52 से 78, प्रवचन - 66 से 90)

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2077

वीर संवत
2547

ई. सन
2021

—: प्रकाशन :—

भगवान श्री पार्श्वनाथ मोक्षकल्याणक दिवस

श्रावण शुक्ल सप्तमी, 15 अगस्त 2021 के पावन अवसर पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

प्रकाशकीय निवेदन

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी,
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलं।

महावीर भगवान, गौतम गणधर तत्पश्चात् जिनके नाम का उल्लेख किया जाता है, ऐसे भरत के समर्थ आचार्य, साक्षात् सदेह विदेह में जाकर सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि का प्रत्यक्ष रसपान करके भरत में आये हुए, श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव महान योगीश्वर हैं, यह जगत विदित है। अनेक महान आचार्य उनके द्वारा रचित शास्त्रों का आधार देते हैं। इससे ऐसा प्रसिद्ध होता है कि अन्य आचार्य भी उनके वचनों को आधारभूत मानते हैं। ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के भरतक्षेत्र पर महान उपकार हैं। उन्हीं आचार्यदेव की परम्परा में हुए श्रीमद् देवनन्दि अपरनाम पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थ समाधितन्त्र पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल प्रवचन 'समाधितन्त्र प्रवचन', भाग-4 पाठकवर्ग के हस्तकमल में प्रदान करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि में जो कहा जा रहा है, उसे प्रत्यक्ष झेलनेवाले भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और उनके अनन्य भक्त, कि जिनकी विद्यमानता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के विदेहगमन के समय साक्षात् थी, ऐसे प्रियवर पूज्य कहान गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों का क्या कहना! जो विषय वचनगोचर नहीं, विकल्पगोचर नहीं, उसे कथंचित् वक्तव्य करना वह कहान गुरुदेवश्री की समर्थ प्रचण्ड शक्ति के दर्शन कराते हैं, और भावि में ॐकार ध्वनि खिरने की सूचक है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रस्तुत प्रवचन अध्यात्म के अनेकविध रहस्यों को व्यक्त कर रहे हैं। आचार्य पूज्यपादस्वामी के हृदय में प्रवेश कर उनके भावों को स्पष्ट करने का सामर्थ्य प्रस्तुत प्रवचनों में व्यक्त होता है। अनन्त काल से मिथ्यात्वदशा में भ्रमण करता अज्ञानी जीव बहिरात्मदशा को नष्ट करके, अन्तरात्मपना प्रगट करके परमात्मदशा किस प्रकार प्राप्त करता है, उसका रोचक

विवेचन पूज्यपादस्वामी ने समाधितन्त्र में तो किया है परन्तु वर्तमान मुमुक्षु समाज को सादी और सरल भाषा में पूज्य गुरुदेवश्री ने स्पष्ट किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक प्रवचनों में भावभासनपूर्वक की समझ को अधिक महत्ता दी है। ऐसी शैली भी व्यक्त हो रही है। प्रत्येक प्रवचन भेदज्ञानपूर्ण है। पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय ज्ञाताधारा के दर्शन भी प्रत्येक प्रवचनों में हो रहे हैं। अखण्ड एकरूप स्वरूपाश्रित परिणतिपूर्वक समझाने का सामर्थ्य प्रवचनों में उभरकर बाहर आ रहा है। जिनके एक प्रवचन श्रवणमात्र से जिनके भव का अन्त आया, ऐसे पूज्य निहालचन्द्रजी सोगानी का उल्लेख अनेक प्रवचनों में आता है। यहाँ इस बात का उल्लेख इसलिए किया गया है कि पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय देशना का सामर्थ्य तो महापवित्र है ही, परन्तु प्रवचन सम्बन्धित विकल्प के निमित्त से मुमुक्षु जीव के भव का अन्त आ सकता है वह इस बात का प्रमाण है। जिनके विभावअंश में इतना सामर्थ्य है तो उनकी पवित्र ज्ञानदशा के दर्शन से मुमुक्षुजीव का आत्मकल्याण न हो, यह बात अस्थानीय है। ऐसे सबके प्रिय पूज्य गुरुदेवश्री का जितना गुण संकीर्तन किया जाये, उतना कम ही है, इसलिए इस प्रसंग पर उनके चरणों में भक्तिभावपूर्वक शत-शत वन्दन हो, वन्दन हो!

पूज्य गुरुदेवश्री के आन्तरिक जीवन और भावितीर्थाधिनाथपने की प्रसिद्धि करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री की अनन्य भक्त प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री को भी इस ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर भाववन्दन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को ओडियो टेप में उतारने का महान कार्य शुरु करनेवाले श्री नवनीतभाई झवेरी का इस प्रसंग में आभार व्यक्त करते हैं तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने इस महान कार्य को अविरत धारा से चालू रखा और सुरक्षित रखा, तदर्थ उसके भी आभारी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना की सुरक्षा सी.डी., डी.वी.डी. तथा वेबसाईट (www.vitragvani.com) जैसे साधनों द्वारा श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई द्वारा किया जा रहा है। इस कार्य के पीछे ट्रस्ट की ऐसी भावना है कि वर्तमान के आधुनिक साधनों द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये तत्त्वज्ञान का विशेष लाभ जनसामान्य ले कि जिससे यह वाणी शाश्वत् सुरक्षित बनी रहे। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्येक प्रवचन अक्षरशः ग्रन्थारूढ़ हो, ऐसी भावना के फलस्वरूप समाधितन्त्र ग्रन्थ पर हुए प्रवचन यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री तथा प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन के करकमल में सादर समर्पित करते हैं।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। वाक्य रचना पूर्ण करने के लिये कहीं-कहीं कोष्ठक किया गया है। यह प्रवचन सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य गुजराती भाषा में पूजा इम्प्रेशन द्वारा किया गया है। जिसे जाँचने का कार्य श्री सुधीरभाई सूरत, और श्री अतुलभाई जैन, मलाड द्वारा किया गया है।

हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज को इन प्रवचनों का विशेष लाभ प्राप्त हो, इस उद्देश्य से इन प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण और सी.डी. से मिलान कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) द्वारा किया गया है। हम अपने सभी सहयोगियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर और जवाबदारी पूर्ण होने से जागृतिपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक किया गया है तथापि प्रकाशन कार्य में प्रमादवश अथवा अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो त्रिकालवर्ती वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति क्षमाप्रार्थी हैं। ट्रस्ट मुमुक्षुजनों से निवेदन करता है कि यदि कोई अशुद्धि दृष्टिगोचर हो तो हमें अवगत कराने का कष्ट करें, जिससे आगामी आवृत्ति में उसे सुधार किया जा सके।

यह प्रवचन ग्रन्थ (www.vitragvani.com) तथा वीतरागीवाणी ऐप पर उपलब्ध है।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

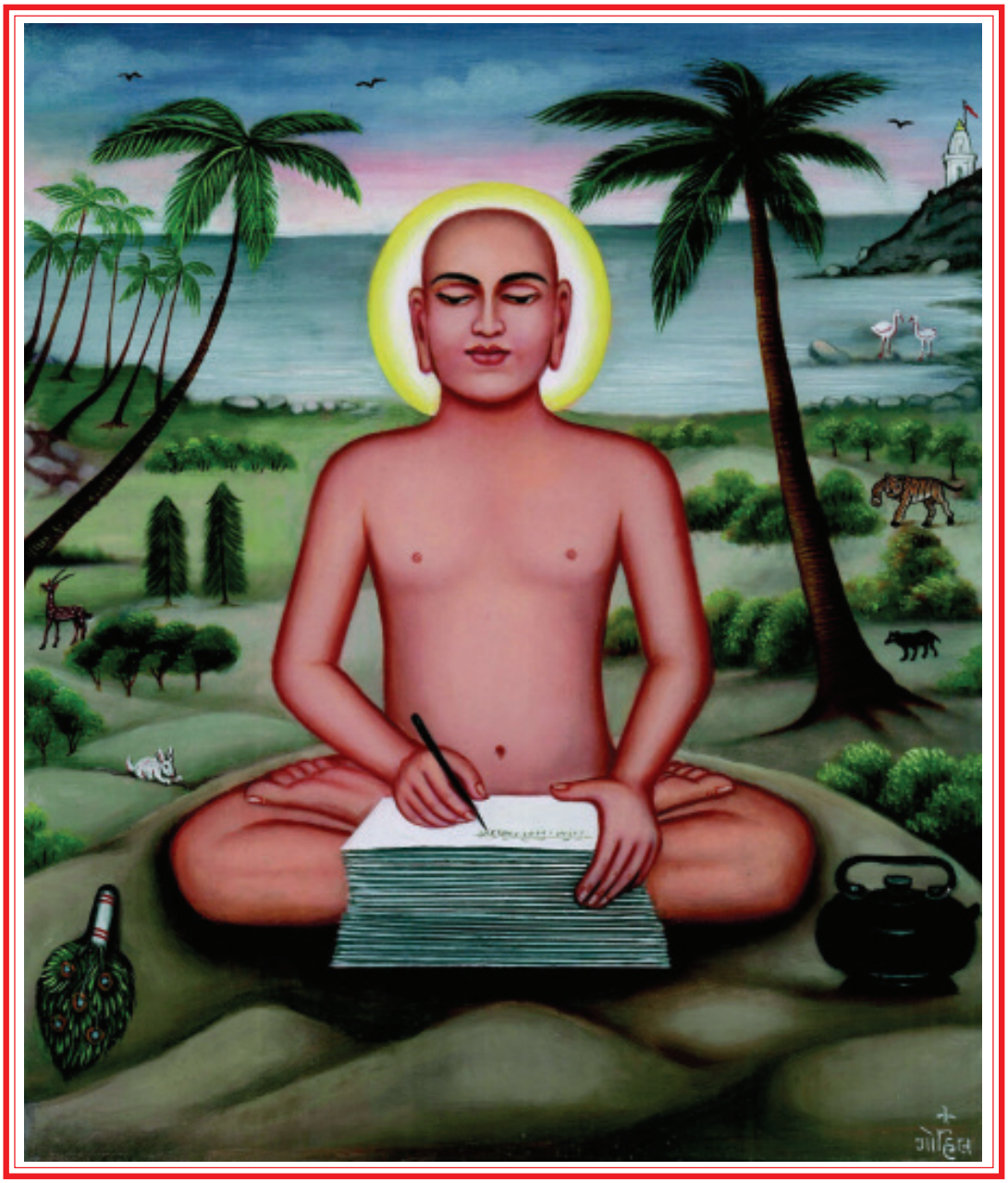

श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादस्वामी

ॐ सच्चिदानंद सहज स्वरूपाय नमः

प्रस्तावना

समाधितन्त्र ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् पूज्यपादस्वामी आचार्य, मूलसंघ अन्तर्गत नंदिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वे सुप्रसिद्ध, बहुप्रतिभाशाली, प्रखर तार्किक विद्वान और महान तपस्वी थे। श्रवणबेलगोला के शिलालेखानुसार पूज्यपादस्वामी श्री समन्तभद्राचार्य के पश्चात् हुए हैं और वे उनके मतानुयायी थे। शिलालेख और उपलब्ध जैन साहितत्य से विद्वानों ने निर्णय किया है कि यह सुप्रसिद्ध आचार्य ईस्वी सम्वत् पाँचवीं शताब्दी में और विक्रम की छठवी शताब्दी में हो गये हैं।

आप कर्नाटक देश के निवासी थे। कन्नडा भाषा में लिखे हुए 'पूज्यपादचरिते' तथा 'राजा वलीकथे' नामक ग्रन्थों में आपके पिता का नाम 'माधवभट्ट' और माता का नाम 'श्रीदेवी' दिया है और लिखा है कि वे ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। उपलब्ध शिलालेखों से यह बात प्रसिद्ध है कि आप देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपादस्वामी नाम से प्रसिद्ध हैं। देवनन्दी—यह उनके गुरु ने दिया हुआ दीक्षा नाम है, बुद्धि की प्रकर्षता—विपुलता के कारण उन्हें बाद में जिनेन्द्रबुद्धि नाम प्राप्त किया और उनके चरणयुगल की देवताओं ने पूजा की इसलिए बुधजनों ने उन्हें पूज्यपाद नाम से विभूषित किया।

उपलब्ध शिलालेखों से उनके जीवन काल दौरान घटित अनेक अद्‌भुत घटनाये द्रव्यव्य हैं। श्री पूज्यपाद ने धर्मराज्य का उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पादपूजन किया, इसलिए वे पूज्यपाद कहलाये। उनके द्वारा उद्धार प्राप्त शास्त्र आज भी उनके विद्याविशारद गुणों का कीर्तिगान करते हैं। उन्होंने कामदेव को जीता था, इसलिए कृतकृत्यभावधारी उच्च कोटि के योगियों ने उन्हें जिनेन्द्रबुद्धि नाम से वर्णन किया है।

और वे औषधऋद्धि के धारक थे। विदेहक्षेत्रस्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से उनका गात्र पवित्र हुआ था। उनके पादोदक (चरण-जल) के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना हो गया था। तदुपरान्त घोर तपश्चर्यादि से उनके आँख का तेज नष्ट हुआ था परन्तु 'शान्त्यष्टक' के एकाग्रतापूर्वक पाठ से नेत्र-तेज पुनः प्राप्त हुआ था। महान योगियों के लिये ऐसी घटनायें असम्भवित नहीं हैं।

आपश्री ने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की है। जैसे कि 'जैनेन्द्र व्याकरण', 'सर्वार्थसिद्धि', 'जैनाभिषेक', 'छन्दशास्त्र', 'समाधितन्त्र-समाधिशतक', 'इष्टोपदेश'। इनमें इष्टोपदेश तथा समाधितन्त्र

आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, जो मुमुक्षुजीवों को आत्मकल्याण होने में महानिमित्तभूत है। समाधितन्त्र ग्रन्थ के अन्त में दी गयी प्रशस्ति अनुसार ग्रन्थ के टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र (प्रभेन्दु) इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार हैं। कितने ही विद्वानों के मतानुसार वे श्री समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के भी संस्कृत टीकाकार हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों में समाधितन्त्र ग्रन्थ के मूल श्लोक, हिन्दी अन्वयार्थ, भावार्थ आदि तथा श्री प्रभाचन्द्र विनिर्मित संस्कृत टीका के गुजराती अनुवाद के हिन्दी अनुवाद सहित पाठक वर्ग की सुविधा के लिये लिये गये हैं।

अन्ततः पूज्य गुरुदेवश्री के सातिशय दिव्य प्रवचनों का भावपूर्वक स्वाध्याय करके पाठकवर्ग आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावनासहित विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का**

श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित

सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	श्लोक	पृष्ठ नम्बर
66	19.06.1975	52	01
67	21.06.1975	53	18
68	22.06.1975	54	35
70	24.06.1975	55, 56	52
71	25.06.1975	56, 57	71
72	26.06.1975	57, 58	90
73	27.06.1975	58	110
74	28.06.1975	58–60	126
75	29.06.1975	60	147
76	30.06.1975	61, 62	163
77	01.07.1975	62, 63	184
78	02.07.1975	63–65	200
79	03.07.1975	65, 66	218
80	04.07.1975	67	234
82	07.07.1975	69	247
83	08.07.1975	70–71	264
84	09.07.1975	71–72	279
85	10.07.1975	73	296
86	11.07.1975	73–74	314
87	12.07.1975	75	331
88	13.07.1975	75–76	350
89	14.07.1975	76–77	367
90	15.07.1975	77–78	386

ॐ

श्री परमात्मने नमः

समाधितन्त्र प्रवचन

(भाग - ४)

(श्रीमद् देवनन्दि अपरनाम पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित समाधितन्त्र ग्रन्थ पर
अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः प्रवचन)

श्लोक - ५२

ननु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनो रूपं स्यात्तदेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः कथं दुःखं स्यादित्याह -

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः॥ ५२॥

बहिर्बाह्यविषये सुखं भवति। कस्य? आरब्धयोगस्य प्रथममात्मस्वरूपभावनोद्यतस्य। अथ आहो। आत्मनि आत्मस्वरूपे दुःखं तस्य भवति। भावितात्मनो यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य। बहिरेव बाह्यविषयेष्वेवाऽसुखं भवति। अथ आहो। सौख्यं अध्यात्मं तस्याध्यात्मस्वरूप एव भवति॥५२॥

यदि आनन्दमय ज्योति (ज्ञान), आत्मा का स्वरूप है, तो इन्द्रियों का निरोध करके उसका अनुभव करनेवाले को दुःख किस प्रकार हो सकता है? वह कहते हैं—

बाहर सुख भासे प्रथम, दुःख भासे निज माँहि।
बाहर दुःख, निजमाँहि सुख, भासे अनुभवी माँहि॥ ५२॥

अन्वयार्थ - (आरब्धयोगस्य) योग का अभ्यास शुरू करनेवाले को (बहिः) बाह्यविषयों में (सुखं) सुख मालूम होता है (अथ) और (आत्मनि) आत्मस्वरूप की भावना में (दुःखं) दुःख प्रतीत होता है किन्तु (भावितात्मनः) यथावत् आत्मस्वरूप को जानकर, उसकी भावना के अच्छे अभ्यासी को (बहिः एव) बाह्यविषयों में ही (असुखं) दुःख जान पड़ता है और (अध्यात्मं) अपने आत्मस्वरूप में ही (सौख्यम्) सुख का अनुभव होता है।

टीका - बाहर अर्थात् बाह्यविषयों में सुख लगता है। किसको ? योग का आरम्भ करनेवाले को अर्थात् प्रथम बार आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यासी को। और कहते हैं-आत्मा में अर्थात् आत्मस्वरूप में (उसकी भावना में) दुःख (कठिनता) लगता है परन्तु भावितात्म को अर्थात् यथावत् जाने हुए आत्मस्वरूप के (उसकी भावना के) अभ्यासी को, बाह्य में ही, अर्थात् बाह्यविषयों में ही असुख (दुःख) भासित होता है; और कहते हैं-आत्मा में अर्थात् उसके अध्यात्मस्वरूप में ही (उसकी भावना में ही) सुख लगता है॥५२॥

भावार्थ - योग का अर्थात् आत्मस्वरूप को प्रथम बार अनुभव करने का आरम्भ करनेवाले को बाह्यविषयों में सुख जैसा लगता है और आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यास में दुःख जैसा ज्ञात होता है परन्तु जब उसको परिपक्व अभ्यास से आत्मस्वरूप का यथार्थरूप से ज्ञान होता है, तब उसको बाह्यविषय, असुखरूप प्रतीत होते हैं और आत्मस्वरूप में ही सुख प्रतिभासित होता है।

विशेष स्पष्टीकरण-

योग का अभ्यास आरम्भ करनेवाले को, पूर्व के संस्कार के कारण, बाह्यविषयों की ओर का झुकाव शीघ्र नहीं छूटता और इससे उसको आत्मस्वरूप में रमना कठिन लगता है।

जब उसको आत्मभावना का अभ्यास परिपक्व होता है और वह स्वरूप में स्थिर होता है, तब उसको अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। अब, उसको समस्त बाह्यविषय, नीरस लगते हैं, उसकी रुचि उनसे उड़ जाती है और आत्मस्वरूप में ही विहरना रुचता है।

इसलिए श्री अमृतचन्द्राचार्य देव भी जिज्ञासु जीव को लक्ष्य करके कहते हैं कि —

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

'हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी, तत्त्व का कौतूहली बन और शरीरादि मूर्तद्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर, उनसे भिन्न, ऐसे तेरे आत्मा का अनुभव कर; तेरे आत्मा के चैतन्य विलास को देखते ही, यह शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ, एकपने का तेरा मोह छूट जायेगा॥५२॥'

(श्री समयसार, कलश-२३)

ज्येष्ठ शुक्ल १०, गुरुवार, दिनांक १९-६-१९७५, श्लोक-५२, प्रवचन-६६

समाधितन्त्र। पहला तो आ गया है। इन्द्रिय का विषय जो है, इन्द्रिय से जो ज्ञात होता है, वह कहीं मेरा स्वरूप नहीं है। इन्द्रिय से ज्ञात हो, वह तो बाह्य पदार्थ है। वास्तव में तो पुद्गल की विभाविकपर्याय ही इन्द्रियों से ज्ञात होती है। स्वाभाविकपर्याय नहीं। वह तो परमाणु की है। उसमें अन्दर आत्मा है, वह कहाँ इन्द्रियों से दिखाई देता है ? इसलिए कहा कि इन्द्रियों से जो ज्ञात होता है, उसमें मैं नहीं, वह मेरा स्वरूप नहीं और अणीन्द्रिय से जो ज्ञात होता है, ऐसी जो ज्ञानज्योति अतीन्द्रिय और प्रसन्नता आनन्दसहित की जो ज्ञात होती है, वह मैं। आहाहा!

उत्तम का अर्थ यह किया था न ? अणीन्द्रिय। उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय। उत्तम का अर्थ ही अतीन्द्रिय किया है। ज्ञानज्योति अतीन्द्रिय। जो अन्तर्मुख देखने पर वह अतीन्द्रिय स्वरूप ही उत्पन्न है और वह आनन्द के वेदनसहित ज्ञात होता है, वह आत्मज्योति। आहाहा! क्योंकि जो उसका अस्तित्व जितना जैसा है, उतने में है, वह तो असंख्य प्रदेश में है और जितने गुण हैं, वे अनन्त गुण हैं। प्रदेश असंख्य, गुण अनन्त, वस्तु एक।

त्रिकाल है वह तो है, वह पृथक् वस्तु। वह उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञानज्योति आनन्द की दशावाली, आनन्द की प्रसन्नतावाला जो ज्ञान ऐसा। आनन्द की अतीन्द्रिय आनन्द की शान्तिवाला जो ज्ञान, वह मैं हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : अन्तर्मुख होता हुआ जानना....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी बात यहाँ है, वस्तुस्थिति है।

टीका - बाहर अर्थात् बाह्यविषयों में सुख लगता है। किसको ? शुरुआत करे अन्दर में जाने की, उसे बाहर में से जरा हटना कठिन लगे। इसलिए उसे (बाहर में) ठीक जैसा भासित होता है ऐसा। और **किसको ? योग का आरम्भ करनेवाले को अर्थात् प्रथम बार आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यासी को। और कहते हैं-आत्मा में अर्थात् आत्मस्वरूप में (उसकी भावना में) दुःख (कठिनता) लगता है...** अन्दर में एकाग्र होना मुश्किल जैसा लगे, इसलिए दुःख लगे। उसकी व्याख्या की। बाहर में से हटना, वह उसे ठीक नहीं पड़ता और वहाँ ठीक पड़ता है। इसलिए सुख भासित होता है, ऐसा कहा है। मूल तो बाहर में से उसे हटना नहीं, हटता नहीं, इसलिए वहाँ ठीक लगता है, ऐसा लगा। और अन्दर में जाने में उसे कठिनता लगती है।

दिठ मगे। है न धवल में। अन्तर में जाने का मार्ग जिसने देखा है। अर्थात् कि अतीन्द्रिय ज्ञान की पर्याय को अन्तर में झुकाकर यह मार्ग देखा है कि ऐसे अन्दर जाया जाता है। वह जाने में पहले कठिनता लगे, इससे मानो दुःख हो अन्दर जाने में, ऐसा कहा है। अभय, अद्वेष, अखेद कहा है न ? लो और यह आया। आनन्दघनजी में ऐसा कहा है कि अन्तर में जाने से उसे भय लगता है। 'भय चंचलता हो परिणाम की...' ऐसा शब्द है। अब याद नहीं। परिणाम चंचल रहते हैं, अन्दर स्थिर नहीं होते। इसका अर्थ कि मानो भय हो अन्दर ऐसा। निर्भय पद है, वह उसे भासित नहीं होता। आहाहा! यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। उसमें दूसरे प्रकार से कोई माने, कल्पित करे, इससे कहीं वस्तु दूसरी नहीं हो जायेगी। उसे मान्यता में भ्रम पड़ेगा।

अभय, अद्वेष, अखेद, ऐसा लिया है न ? भगवान की स्तुति अर्थात् यह भगवान और उसके अन्दर अभय, अद्वेष, अखेद। अभयपना उसे आना चाहिए। और अद्वेष।

अद्वेषपना आना चाहिए। अर्थात्? पर का प्रेम हटकर अपना प्रेम होना चाहिए। अभय, अद्वेष, अखेद। अखेद-उकताहट न हो। अन्तर में जाने के लिये खेद न हो। यह शैली आनन्दघनजी में आयी नहीं? तीसरे स्तवन में। वह यहाँ जरा इस शैली से बात की है। बाहर रहने के संस्कार हैं न, इसलिए बाहर के संस्कार के कारण और उसमें कुछ ठीक लगे अर्थात् सुख भासित हो, ऐसा कहा। ठीक भासित होता है।

मुमुक्षु : सुख है नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : है नहीं। ठीक भासित होता है। अर्थात् वहाँ अभ्यास है न, इसलिए इसे ठीक भासित होता है, ऐसा लिया है। सुख भासित होता है, ऐसा लिया है। ठीक का अर्थ यह है। और अन्दर भगवान असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण का धाम, उसके अन्तर में जाने में उसे कठिनता लगती है। क्योंकि यह प्रयत्न उसने शुरुआत की है। अन्दर जमा नहीं, ऐसा है। आहाहा! क्या चलता है यह? बहिर्मुख से हटकर अन्तर्मुख होना, यह शुरुआतवाले को जरा कठिन लगता है। ऐसा कहते हैं। अभ्यास की शुरुआत है। है न?

आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यासी को। ऐसा कहा है न? आहाहा! पाठ है न संस्कृत, देखो न! '**आरब्धयोगस्य प्रथमात्मस्वरूपभावनोद्यतस्य**' ऐसा है न? ऐसा। आहाहा! बहुत सरस बात है। वस्तु का स्वरूप इस प्रकार से पहले इसे लगता है। वस्तु तो अन्तर्मुख है और उसमें अन्तर में झुकना इसे मुश्किल जैसा लगता है और बाहर से हटना इससे वह अठीक जैसा लगता है, ऐसा। आहाहा! यह तो मूल मक्खन की बात है, भाई यह तो। आहाहा! अब यह वे चिल्लाहट मचाये कि मार्ग यह है बाहर राग। परन्तु राग तो बहिर्मुख की दृष्टि है। बहिर्मुख है। राग इन्द्रिय के विषय में से आता है और भगवान आदि हो या वाणी आदि (हो), वह भी राग का विषय है, इसलिए वह तो पर है। वह इन्द्रिय है। आहाहा!

इसमें आयेगा। चार कषाय और अग्नि हो वह... और पर का ऐसा कि भगवान का ध्यान करेगा, तब अन्दर में जाया जायेगा, ऐसा। दो बातें हैं। बात तो यह है कि पहले यह आवे। भगवान ऐसे होते हैं। अकेला ज्ञानस्वभाव जिन्हें परिपूर्ण प्रगट हो गया है, ऐसा प्रथम लक्ष्य करता है, इसलिए उसे विकल्पवाले में रहना ठीक लगता है। आहाहा!

अन्तर में जाने का उसे—शुरुआत के अभ्यासी को मुश्किल लगता है। सूक्ष्म से बात की है। समझ में आया?

परन्तु भावितात्म को... जिसने यह मार्ग देखा है। अन्तर में कैसे जाना? उस झुकाव की दशा का अनुभव हो गया है। आहाहा! **भावितात्म को अर्थात् यथावत् जाने हुए आत्मस्वरूप के (उसकी भावना के) अभ्यासी को,...** ऐसा। नियमसार में नहीं कहा, दो? व्रत, तप और सब ध्यान से है। गाथा आती है न भाई? नियमसार। ध्यान, वही वस्तु है। आहाहा! वस्तुस्थिति है। अन्तर के स्वभाव में एकाग्रता, वह सब उसे तप, व्रत कहो, वह सब यह है। कहाँ उस बोटाद में है? यहाँ भावनगर थे। कहाँ गये? तुम्हारे है न एक? ससुराल में है कोई। क्या होगा नहीं? भावनगर है। ... तप और यह सब ध्यान में समाहित हो जाता है। लाखों रुपये हैं, बहुत दान करते हैं। तुमने देखा इसलिए। उसमें ऐसा है, तत्त्वज्ञान तरंगिणी का है। तत्त्वज्ञान तरंगिणी का था वह। गाथा। ऐसा कि ध्यान, वही सब वस्तु है और उसमें सुख है। यह तो तत्त्वज्ञान में है। नियमसार में तो कहा था। यह तत्त्वज्ञान का है। आहाहा!

जहाँ वस्तु है, जहाँ उसके गुण हैं, टिकता जो तत्त्व है, उसमें एकाग्र होना, वही सब चीज़ है। फिर उसे व्रत कहो, तप कहो, नियम कहो। मोक्ष का मार्ग सब वह है।

मुमुक्षु : सब प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना। आहाहा!

भावितात्म को अर्थात् यथावत् जाने हुए आत्मस्वरूप के (उसकी भावना के) अभ्यासी को,... अन्तर में जाने का मार्ग जिसने देखा है, ज्ञात हुआ है। उसे **बाह्य में ही, अर्थात् बाह्यविषयों में ही असुख (दुःख) भासित होता है;...** बाह्य में आना ठीक नहीं पड़ता; इसलिए दुःख भासित होता है। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसा स्वरूप है। आहाहा! ज्ञानार्णव में कहा है न ऐसा करना और ऐसा करना। जड़ क्या कहा?

मुमुक्षु : धूलधाणी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कमल ... एक-एक पंखुड़ी में भगवान। यह सब विकल्प की पहली लगनी है। एकदम अन्दर नहीं जा सकता न, इसलिए वहाँ। इसलिए

इसका अर्थ यह हुआ कि वहाँ उसे कुछ सुहाता है। ऐसे पंखुड़ी चिन्तवन करना, भगवान को चिन्तवन करना और ॐ ध्वनि निकलती है, उसे चिन्तवन करना।

मुमुक्षु : ऐसे समवसरण में बैठा है, ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। वह सब तो विकल्प है।

मुमुक्षु : जल धारणा....

पूज्य गुरुदेवश्री : जल धारणा, वायु धारणा... है न? यह तो द्रव्यसंग्रह में स्पष्टीकरण किया है न। बाह्य के हो ऐसे विषय। वस्तु यह नहीं। आहाहा!

अन्दर में अन्तर आनन्दस्वरूप इतने ही क्षेत्र में। क्योंकि जब ऐसा करे, तब अन्तर में जाता है न? क्योंकि इतने में वह है। बाह्य में कुछ नहीं, ऐसा कुछ भगवान कहे ऐसा पकड़कर, दो। पाखण्ड है। आहाहा! ऐसे एक-एक चीज़ ऐसी परिपूर्ण, उसे सब चीज़ (इकट्ठी) होकर परिपूर्ण मानना, यह पाखण्ड है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनन्त प्रकाशमय।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... अनन्त के एक-एक अनन्त एक-एक परिपूर्ण शक्तिवाला सत्त्व है। जड़ हो, वह परिपूर्ण शक्तिवाला है। वस्तु है न, उसमें शक्ति की अचिन्त्यता और विपरीतता कैसी? आहा! परमाणु में भी इतने ही गुण की संख्या है जीव जितने। क्षेत्र छोटे-बड़े का यहाँ नहीं। उसकी शक्ति के सामर्थ्य के भाव का स्वरूप कितना है? ऐसी बात है। और परमाणु भी एक स्वाभाविक तत्त्व है न? स्वाभाविक तत्त्व है, सहज तत्त्व है। ऐसे अनन्त गुणों का वह तत्त्व है। आहाहा! ऐसे-ऐसे अनन्त परमाणु, पूर्ण ऐसा आत्मा ज्ञान-दर्शन और आनन्द से पूर्ण, ऐसे को अनन्त के अनन्त में है (सब इकट्ठा) वह पूर्ण, ऐसा मानना बड़ा पाखण्ड है। आचार्य ने तो ऐसा शब्द प्रयोग किया है अमेहनाकार। पाखण्डियों को प्रसिद्ध साधनवाला आकारवाला लोकव्यापक वह (अर्थात्) नहीं। वह लिंग ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

बाह्य में ही, अर्थात् बाह्यविषयों में ही असुख (दुःख) भासित होता है;... यह बाहर आता है विकल्प में, वह दुःख है। आवश्यक अधिकार में नहीं आया? समयसार में आया है। भविष्य की आवलिकायें सब अन्तर में रहने जाओ। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान

इत्यादि। आनन्दस्वरूप भगवान इतने में है, वहाँ एकाग्रता सदा रहो। बाहर न निकलो। आहाहा! ऐसा जहाँ अभ्यास हो गया है, **उसके अध्यात्मस्वरूप में ही (उसकी भावना में ही) सुख लगता है।** है ? **और कहते हैं-आत्मा में अर्थात् उसके अध्यात्मस्वरूप में ही...** अध्यात्म अन्तर स्वरूप में ही उसे आनन्द लगता है।

भावार्थ - योग का अर्थात् आत्मस्वरूप को प्रथम बार अनुभव करने का... योग अर्थात् जुड़ना, ऐसा। वह योग कम्पन, वह यहाँ नहीं। यह जुड़ना। स्वरूप पूर्णानन्द में जुड़ान करना। राग और स्वभाव के बीच सन्धि है, सन्धि। आया था न ? नि:सन्धि हुए नहीं। आहाहा! वस्तु स्वभाव पूरा चैतन्यस्वभाव और राग दो के बीच अन्तर है, अन्तर है, अन्तर है। अन्तर है, ऐसा कहते हैं। एक हुए ही नहीं। सन्धि है, वहाँ नि:सन्धि हुए ही नहीं। आहाहा! क्या उनकी शैली!

योग का अर्थात् आत्मस्वरूप को प्रथम बार अनुभव करने का आरम्भ करनेवाले को बाह्यविषयों में सुख जैसा लगता है... अर्थात् कि कुछ ऐसा ठीक जैसा लगे ऐसा। **और आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यास में...** भगवान आनन्दस्वरूप, उसकी एकाग्रता के अभ्यास में मुश्किल जैसा लगता है। यह मुद्दे की रकम की बात है, भाई! आहाहा! पूरा योगफल, शास्त्र का वीतरागभाव योगफल है। वीतरागभाव कब होता है ? कि अन्तर सन्मुख हो तब। आहाहा! और वह वीतरागभाव चार अनुयोग का प्रयोजन है। और अपदेश सम्पन्न। उपदेश। भगवान की वाणी में चारों अनुयोगों में यह आया है कि अन्तर्मुख होने से जो वीतरागी पर्याय होती है, अन्तर के अभ्यासी को, वह जैनशासन, वह धर्म और वह उसका यथार्थ कर्तव्य है। यह उपचार से भेद है न ? मैं कर्ता और निर्मल पर्याय मेरा कार्य, यह भी एक उपचार से कथन है। है, इस प्रकार से परिणमन है, वहाँ और यह कर्ता, ऐसा भेद कहाँ ? यह उसमें आता है कलशटीका में। बहुत सरस कलश। आहाहा!

परन्तु जब उसको परिपक्व अभ्यास से... अन्तर में जाने का अनुभव करने के अभ्यास से **आत्मस्वरूप का यथार्थरूप से ज्ञान होता है,...** आहाहा! १४४ में नहीं कहा ? कि यह दिखता है, उस समय इतना। १४४ में कहा। अन्तिम पद नहीं ? उस समय अन्दर दिखता है, उस समय वह आत्मा भासित हुआ। उसे सम्यग्दर्शन कहा। उस

काल में उसे भासित हुआ सम्यग्दर्शन। है न १४४ में। **उसी समय आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है।**

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ श्रद्धा की जाती है। है न?

तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ, आदि-मध्य-अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो... अर्थात् पृथक्। **ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन, परमात्मस्वरूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है...** अनुभव करता है, तब ही यह आत्मा है, ऐसी श्रद्धा की जाती है, ऐसा। आहाहा! **उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है...** यह श्रद्धा का लिया, वह... उस समय। अन्तर्मुख हुआ और दृष्टि हुई निर्मल, उस दृष्टि के समय ही आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई देता है अथवा जैसा है, वैसा तब दिखाई देता है, तब श्रद्धा की जाती है और तब वह आत्मा है, ऐसा ज्ञात होता है। आहाहा!

इसीलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा! पाठ है न वह? '**णवरि ववदेसें**' व्यपदेश, तब ही उसे कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। देखा! '**सम्मद्दंसणाणणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।**' अन्तर में सम्यग्ज्ञान-दर्शन से दिखाई देता है, माना जाता है और ज्ञात होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान का नाम दिया जाता है। आहाहा! समझ में आया? व्यपदेश शब्द पड़ा है न! यह शब्द भाई ने प्रयोग किया है टोडरमलजी ने। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में। ऐसा कि उस अकेले व्यवहारमात्र से सम्यग्दर्शन नाम प्राप्त नहीं करता। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में है, छोटी ऐसी। व्यवहारमात्र से नाम नहीं दिया जाता। देखो भाषा! आहाहा! चाहे जो हो।

पहले के पण्डित शास्त्र की भाषा को अनुसरकर ही कहनेवाले थे। विशेष कहा जाये तो भी स्पष्ट करके वही। आहाहा! व्यवहार जो है श्रद्धा, उसे नाम नहीं दिया जाता निर्विकल्प सम्यग्दर्शन का, ऐसा। आहाहा! अन्तर में जाकर श्रद्धा द्वारा जब पूरा आत्मा दिखाई दे अर्थात् माना जाये और ज्ञान द्वारा ज्ञात हो, तब उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान नाम दिया जाता है। वह यहाँ कहते हैं।

परिपक्व अभ्यास से आत्मस्वरूप का यथार्थरूप से ज्ञान होता है, तब उसको बाह्यविषय, असुखरूप प्रतीत होते हैं... असुखरूप अर्थात् सुख नहीं। बाह्य में आना, वह ठीक नहीं लगता। आहाहा! **और आत्मस्वरूप में ही सुख प्रतिभासित होता है।** भगवान आनन्दस्वरूप में लीन होता है, वहाँ उसे सुख भासित होता है। बाह्य में निकलना उसे दुःख भासित होता है। आहाहा! यह तो अनादि से बाह्य में रहना, यह सुख भासित होता है। अन्तर में जाना इसे दुःख—मुश्किल लगता है। आहाहा! करने का तो यह था। बाहर की दौड़धाम, यह २६ लाख का बड़ा मकान (परमागममन्दिर) बनाया है, इससे धर्म की प्रभावना होगी। ऐसा होगा? ऐई...!

परचीज़ हुई, उसमें धर्म कहाँ आया? पर के सन्मुख हो, वहाँ भी राग आया। आहाहा! वीतरागमार्ग अलौकिक मार्ग है। साधारण प्राणी को तो ऐसा लगता है कि... आहाहा! निश्चयाभास (है), व्यवहार से कुछ हो, ऐसा कहते नहीं। वह तो पुण्य को डांग मारते हैं। क्या कहा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ...तो रामजीभाई बोले थे। वे कहे पुण्य को... ऐसा कुछ है न?

मुमुक्षु : यह उन दाहोदवालों ने कहा, तुम लकड़ियाँ क्यों मारते हो? हमारा अपमान होता है। ऐसा तो .... है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य को तो ऐसा कि पीछे डांग मारकर खड़ा है। अरे... बापू! पुण्य में आना, वह दुःख में आना है। आहाहा!

शान्तरस का समुद्र प्रभु, आहाहा! उसकी सन्मुखता में जाने से वास्तविक आनन्दसहित जो ज्ञान प्रगट हो, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान नाम दिया जाता है। आहाहा! व्यपदेश। आहाहा! क्या समयसार की बात! जगत को कठिन लगे परन्तु मार्ग तो यह है, भाई! आहाहा! बाहर की धमाधम... क्या कहते हैं, नहीं चेतनजी? ज्ञानमार्ग रहा दूर, यह शैली ली है। धर्म के नाम से धमाधम करना।

मुमुक्षु : धाम धूम से धमाधम।

पूज्य गुरुदेवश्री : धाम धूम से धमाधम। आहाहा! अधिक पुस्तकें, अधिक

मन्दिर, अधिक लोग यह मानो कि आहाहा! ... बापू! इसमें उसके कारण क्या सम्बन्ध है? आहाहा! नवरंगभाई! ऐसी बात है। वहाँ बड़े हाथी। देखो न, वहाँ लाख लोग अखबार में (प्रकाशित हुआ) था भोपाल। गजरथ चला कुण्डलपुर से। ... कुण्डलपुर। अतिशय क्षेत्र, कुछ सम्बन्ध है उसमें। तब बड़ा गजरथ निकाला था न। उसमें सम्बन्ध है। ऐसा सम्बन्ध है, वहाँ ऐसा निर्णय किया हो कि यह भगवान का धाम यही है। ऐसा कहा।

मुमुक्षु : भगवान का जन्मधाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ जन्म। जन्म था कब जन्म? जन्मधाम यह निश्चित किया है, इसलिए वहाँ गजरथ निकाला। बहुत लोग गये थे। सब पण्डित वहाँ। फिर ... जगमोहनलाल यहाँ आये थे सूरत। .... काम के बाद ... आये थे। नहीं तो एक लाख लोग यहाँ आते बोटाद। कुण्डलपुर जन्मधाम है उनका मूल भगवान का। और उन्हें वहाँ महावीर का २५००वाँ वर्ष बराबर मनाया। गजरथ निकाला था। गजरथ निकाला... धाम है-जन्मधाम। २५०० वर्ष... वहाँ बहुत लोग गये। साधारण देखनेवाले को बहुत ही अच्छा लगे। ओहो! आहाहा! हाथी के ऊपर दो-तीन मंजिल हो। हाथी चले न दो-तीन मंजिल हो। ऐसे चले तो आहाहा! परन्तु वह तो इन्द्रिय का विषय है। वहाँ आत्मा कहाँ गया? आहाहा!

बाह्यविषय, असुखरूप प्रतीत होते हैं और आत्मस्वरूप में ही सुख प्रतिभासित होता है। ओहोहो!

योग का अभ्यास आरम्भ करनेवाले को, पूर्व के संस्कार के कारण,... यह तो समझाते हैं। आता है। गाथा में आता है न। गाथा में आता है। संस्कार के कारण ऐसा आता है। एक पाठ। गाथा है। दोनों गाथायें हैं। ... संस्कार के कारण गिर जाता है, ऐसा। यह सब वस्तु का वर्णन समझाना है। आहाहा! अन्तर आत्मा में—शुद्ध स्वरूप में जुड़ान करने में **आरम्भ करनेवाले को, पूर्व के संस्कार के कारण, बाह्यविषयों की ओर का झुकाव शीघ्र नहीं छूटता...** यह लेना। झुकाव छूटता नहीं, इसलिए वहाँ सुख भासित होता है, ऐसी बात होती है। वस्तु तो यह है, हों!

बाह्यविषयों की ओर का झुकाव शीघ्र नहीं छूटता... इससे जैसे दुःख है, वैसे वहाँ सुख है, ऐसा अर्थ किया। नीचे है न, वह बराबर है। **योग का अभ्यास आरम्भ करनेवाले को, पूर्व के संस्कार के कारण, बाह्यविषयों की ओर का झुकाव शीघ्र नहीं छूटता और इससे उसको आत्मस्वरूप में रमना कठिन लगता है।** यह बराबर है। भाव यह है। बाहर के विषयों के लक्ष्य के भेद के लक्ष्य से भी छूटना, वह जल्दी छूटता नहीं। वास्तव में तो रंग, राग और भेद से भिन्न है। उसमें आया था न? रंग, राग से भिन्न, भेद से भिन्न। यह भेद से भिन्न, वहाँ से हटना जल्दी इसे कठिन पड़ता है। इसलिए वहाँ सुख हो, ऐसा लगता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इससे उसको आत्मस्वरूप में रमना कठिन लगता है। यह लेना। आत्मा में दुःख भासित होता है, इसका अर्थ यह कि मुश्किल लगता है। यहाँ से यह छूटना कठिन पड़ता है, यहाँ जाना मुश्किल पड़ता है। आहाहा! ऐसी व्याख्या अब यह उपदेश इसमें लोग इकट्ठे कहाँ से हों? आहाहा! अब तो सुनते हैं, लोग सुनते हैं। लाखों, लाखों लोग आते हैं। सागर में देखो तो पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोग। सेठिया के नहीं... दोनों सेठिया करोड़पति की तो विशेष संख्या है। अपने चिमनभाई तो बहुत पैसा देते हैं। चिमनलाल ताराचन्द। दस करोड़ ऐसा कोई कहता था। परन्तु पैसा बहुत है, तथापि उसे कुछ दिखता नहीं। कोई नरम... नरम.... नरम... और उसकी इतनी छाप और व्याख्यान में पन्द्रह हजार लोग। चार दिन रहे थे। खुरई में तो एक मानस्तम्भ का महोत्सव था। वहाँ तो वह है न? कक्षा है न भाई वहाँ खुरई में। क्या कहलाता है? आश्रम-आश्रम। यह माणेकचन्द का गुरुकुल है। माणेकचन्द ... वह गाँव से जरा दूर है। एक मील दूर, हों! वहाँ मानस्तम्भ। ओहो! लोग दस हजार।

परन्तु यह सब ऐसा हुआ, उसमें ऐसे जाये न, तब उसे ऐसा, आहाहा! कुछ धर्म की प्रभावना होगी लोगों को। बाह्य विकल्प को वह कब प्रभावना कहलाये? अन्तर की निर्विकल्प प्रभावना हुई हो, उसे विकल्प उठा हो, वह बाह्य प्रभावना कहलाती है। आहाहा! किसका है? गुलाबचन्दजी का? छोटालाल का। हाँ बराबर।

योग का... अर्थात् अन्तरस्वरूप का **अभ्यास आरम्भ करनेवाले को,...** अन्तर

चिदानन्दस्वरूप में जुड़ान करनेवाले को **आरम्भ करनेवाले को, पूर्व के संस्कार के कारण, बाह्यविषयों की ओर का झुकाव शीघ्र नहीं छूटता...** इससे उसमें बाह्य सुख है, ऐसा उसे कहा गया है। आहाहा! और इसी प्रकार **इससे उसको आत्मस्वरूप में रमना कठिन लगता है।** इससे दुःख लगता है, ऐसा इन्होंने कहा है। ओहोहो!

जब उसको आत्मभावना का अभ्यास परिपक्व होता है... अन्तर आनन्द ज्ञायकस्वभाव की एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व-यथार्थरूप से होता है **और वह स्वरूप में स्थिर होता है, तब उसको अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।** क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ही प्रभु है। उसमें एकाग्रता से अतीन्द्रिय आनन्द का शक्ति में से व्यक्तता का वेदन होता है। आहाहा! **अब, उसको समस्त बाह्यविषय, नीरस लगते हैं,...** आहाहा! इन्द्र के इन्द्रासन। उसमें आया नहीं? 'चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग, कागवीट सम मानत है, कागवीट सम, सम्यग्दृष्टि लोक।' उसमें और वीतरागी लोग, ऐसा लिखा है। वहाँ। .... चौथे गुणस्थान में, इसका ऐसा अर्थ करते हैं आगेवाले को वह सम्यग्दृष्टि लोक, उनकी बात है।

मुमुक्षु : वे तो वीतराग हैं न इसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतराग ही हैं। आहाहा!

'चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग, कागवीट सम मानत है, कागवीट सम, सम्यग्दृष्टि लोक।' आहाहा! मनुष्य की विष्टा का तो खाद भी होता है। सूकर भी खाता है। कौवे की विष्टा का खाद भी नहीं होता और सूकर भी नहीं खाता। ऐसी उपमा दी, लो! जिसे अन्तर आनन्द भासित हुआ है, उसे बाहर के भोग सब कौवे की विष्टा जैसे लगते हैं। आहाहा! उसे पुण्य का फल कौवे की विष्टा जैसा लगा तो फिर पुण्य भी क्या है? जिसका फल कागविष्टा जैसा कहा तो उसका कारण? जिसे बाह्य विषयों में प्रेम है और पुण्य के प्रति प्रेम है। आहाहा! और बाह्य विषयों में जिसे ठीक लगता है, उसे पुण्य के परिणाम में ठीक लगता है और बाह्य विषयों में जिसे कौवे की विष्टा जैसा लगता है, फलरूप से, तो उसके कारणरूप से जो पुण्य है, वह भी काग की विष्टा जैसा है। आहाहा! ऐसा नहीं आया अन्दर? आहाहा! लोग भड़कते हैं। प्रेम है न बाहर।

मुमुक्षु : पुण्य की रुचि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, रुचि है। पुण्य की रुचि, वह जड़ की रुचि है, अपने है न चौका। स्वाध्यायमन्दिर में है। आहाहा!

मुमुक्षु : अपने पैसे के बिना चलता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे के बिना?

मुमुक्षु : चलता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे के बिना ही चला है। पैसे कहाँ आत्मा में थे? स्व से अस्ति और पर से नास्ति है। यह तो कहा था (संवत्) २०१० के वर्ष में। झवेर कैसे? नागरभाई के भाई हरजीवनभाई। पूछा था वहाँ। महाराज! पैसे बिना कुछ चले हमारे? तुम पैसे को ऐसा कहते हो। हरजीवनभाई थे नागरभाई के भाई। समढियाळा। उनके सामनेवालों का पक्ष था। नागरभाई को यहाँ का। परन्तु तो भी सुनने का प्रेम था।

पैसे बिना ही आत्मा ने चलाया है। वास्तव में तो राग बिना द्रव्य ने चलाया है। नहीं तो राग बिना द्रव्य न चले तो द्रव्य राग बिना का रह सकता ही नहीं। ऐई! हरजीवनभाई थे। अपने म्युनिसिपल्टी के हॉल में वाँचन करते थे तब। हॉल में तुम्हारे पिता ने यह प्रश्न किया था। देव-गुरु-शास्त्र पर? वे शुद्ध हैं। कुछ खबर नहीं होती। यह तो कहे देव-गुरु-शास्त्र अभी पुण्य के फल। आहाहा! पुण्य है, वह उसके फलरूप से तो काग-विष्टा कही। तो उसके कारण से भी आत्मा को कुछ लाभ करनेवाले नहीं, ऐसा कहते हैं। नुकसान करनेवाला है। आहाहा!

मुमुक्षु : परसन्मुख का भाव है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : '**परदव्वादो दुग्गइ**' फिर लोगों को कठिन लगता है।

यह बात तो कही थी, हों! सब लोगों को। अब कुछ बाकी नहीं। ऐसा कहते हैं, देखो। '**परदव्वादो दुग्गइ**' हमारी ओर की श्रद्धा का राग, वह दुर्गति है, चैतन्य की गति नहीं। उसके फल में तो मनुष्यपना या देवपना मिलेगा। वह चैतन्य की गति है? चैतन्य की गति तो सिद्धपद प्राप्त करे, वह गति है। आहाहा! मिठास है न बाहर की, (इसलिए) अन्तर की मिठास नहीं आती। आहाहा!

आत्मभावना का अभ्यास... भावना शब्द से एकाग्रता। भावना शब्द से विकल्प से, ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा आता है न, सामायिक में भी आत्मा की भावना होती है। प्रवचनसार में। सामायिक में। तब उस भावना (का अर्थ) वे रतनचन्दजी क्या करे? विकल्प को चिन्तवन करनेवाला। सामायिक। भावना अर्थात् शुद्ध उपयोग हो, यहाँ तो शुद्ध उपयोग वही भावना है। यहाँ विकल्प है, वह भावना नहीं। वह तो राग है। प्रवचनसार में आता है न जयसेनाचार्य की (टीका में)। सामायिक की व्याख्या में।

गृहस्थ को सामायिक में भी किसी समय आत्मा की भावना आती है। भावना शब्द से उपयोग शुद्ध ध्यान। वे कहे भावना अर्थात् विकल्प। अरे... चल... चल... अरे प्रभु! सब अर्थ बदल डाले। वे कहते हैं, तुमने बदल डाला, ऐसा कहते हैं। भावना शब्द से भाव, वस्तु है, उसकी एकाग्रता, वह भावना। आहाहा!

जब उसको आत्मभावना का अभ्यास... ऐसा। यह भावना की व्याख्या है। आनन्दस्वरूप भगवान के अनुभव में एकाग्रता का अभ्यास **जब उसको परिपक्व होता है और वह स्वरूप में स्थिर होता है, तब उसको अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।** कठिनता लगती थी, वह छूट जाता है, ऐसा कहते हैं। **अब, उसको समस्त बाह्यविषय, नीरस लगते हैं,...** आहाहा! आनन्द के धाम को अनुभव किया और आनन्द का अतीन्द्रिय स्वाद लिया, फिर रहा क्या अब? आहाहा! छियानवें हजार स्त्रियाँ और एक (मुख्य) स्त्री की हजार देव सेवा करे, वह सब जहर जैसा लगता है।

मुमुक्षु : यह गोकुल अष्टमी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विकल्प है।

मुमुक्षु : रोज विवाह करने जाये और रोज....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विवाह करने भी नहीं जाता। वह तो विकल्प आता है, इसलिए अस्थिरता में आ गया है, बस इतनी बात।

छठवें गुणस्थान के शुभभाव के प्रमाद को जगपंथ कहा है। तो फिर यह अशुभभाव आवे, स्त्री के विषय आदि का राग हो, पूर्ण वीतराग नहीं तो राग आवे। परन्तु है तो वह दुःखरूप। जैसे काले नाग को देखकर डरता है, वैसे इसे... आहाहा!

परन्तु अस्थिरतावश हट नहीं सकता, इसलिए आता है (परन्तु) उसका प्रेम है, रस है—ऐसा नहीं है।

उसकी रुचि उनसे उड़ जाती है... जहाँ अन्तर का माल पोसाण में आया, माल पोसाया। व्यापारी को पोसाये, वहाँ से माल लेता है या नहीं? आहाहा! इसी प्रकार व्यापार अन्तर में करते हुए माल पोसा गया। आहा! अब उसे राग पोसाता नहीं। आहाहा! आवे सही, होवे सही। रुचि उठ जाती है। **आत्मस्वरूप में ही विहरना रुचता है।** सुहावे तो भी अन्दर में रहना ही सुहाता है। आहाहा! यह आया न आवलि का नहीं? यह उसका सब भविष्य का आवलि काल उसमें जाओ। आहाहा! सातवें में आता है और छठवें में आता है तो विकल्प आता है, परन्तु वह विकल्प संसारपंथ है। आहाहा!

इसलिए श्री अमृतचन्द्राचार्य देव भी जिज्ञासु जीव को लक्ष्य करके कहते हैं कि — हे भाई! तू किसी भी प्रकार... कलश २३। **महा कष्ट से...** अर्थात् कि महापुरुषार्थ से। आहाहा! **अथवा मरकर भी,...** अर्थात् चाहे जैसे कष्ट और प्रतिकूलतायें हों, उन्हें न गिनकर... आहाहा! **तत्त्व का कौतूहली बन...** क्या है यह चीज़? ओहोहो! जिसकी महिमा सर्वज्ञ, वाणी में पूरी नहीं कर सकते ऐसी चीज़! अनन्त चतुष्टय सम्पन्न प्रभु है। वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव नहीं। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त दर्शन, अनन्त सत्ता, अनन्त वीर्य। स्वभाव है, उसकी हदवाला स्वरूप होता नहीं। स्वभाव तो बेहद होता है। ऐसा जो अनन्त चतुष्टय स्वभाव... आहाहा!

मरकर भी, तत्त्व का कौतूहली बन... एक बार। आहाहा! अन्तर में देखने का कौतूहल तो कर। आहाहा! कौतूहल करते हैं न देखने का। इसी प्रकार यह अन्तर में देखने का कौतूहल तो कर अन्दर। आहाहा! **और शरीरादि मूर्तद्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर,...** आहाहा! शरीर, मन और विकल्प (का) पड़ोसी हो, अर्थात्? पड़ोसी तो दूर में होता है या उसके घर में होता है? पड़ोसी पड़ोसी के घर में होता है। एक बार तू पड़ोसी हो। तेरे घर में वह नहीं है। आहाहा! उसके घर में वह है। यह तो सब मक्खन है।

मुमुक्षु : पकड़ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसके ख्याल में, श्रद्धा में तो ले, वह यह है अन्तर में जाना। वीर्य का इतना तो आधीन कर दे कि अन्तर में जाने का जो वीर्य है, वह मार्ग है। आहाहा! फिर बहिर्मुख के जितने विकल्प, वे सब संसारगत हैं। संसार को प्राप्त है। आहाहा!

एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर,... पड़ोसी का अर्थ कि मेरे घर में वह चीज़ नहीं। आहाहा! मेरे घर की वह चीज़ बाहर है। **उनसे भिन्न, ऐसे तेरे आत्मा का अनुभव कर;...** विकल्प आदि राग है सब। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न ऐसे तेरे आत्मा का अनुभव कर। भगवान के आत्मा का नहीं। तेरे आत्मा का अनुभव कर। तू ऐसा भिन्न है।

तेरे आत्मा के चैतन्य विलास को देखते ही,... तेरे आत्मा का चैतन्य विलास है। रागादि का विलास वह तेरा नहीं। वह तो पड़ोसी का है। तेरा विलास चैतन्य विलास है। जानन-देखन चेतना, यह इसका विलास है। **यह शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ,...** पुद्गलद्रव्यों के साथ। **एकपने का तेरा मोह छूट जायेगा।** आहाहा! कहते हैं कि वह सब बात सच्ची परन्तु इसका कोई दूसरा उपाय? दूसरा उपाय होगा या नहीं?

मुमुक्षु : स्वयं स्वयं का साधन है फिर।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही उपाय तेरा है। दूसरा कुछ साधन है ही नहीं। प्रज्ञाछैनी अर्थात् अनुभव। स्व का अनुभव वह प्रज्ञाछैनी। बाहर से हट गया। अन्दर गया, वह छैनी। वह अनुभव छैनी। उसे प्रज्ञाछैनी कहा है। आहाहा!

मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ, एकपने का तेरा मोह... मिथ्याभ्रम **छूट जायेगा।** स्वभाव में एकता होने पर राग जो पृथक् है, उसका मोह तुझे छूट जायेगा। आहाहा!

वह भावना इस प्रकार करना चाहिए,.... यह ५३ में कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ५३

तद्भावनां चेत्थं कुर्यादित्याह -

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ ५३॥

तत् आत्मस्वरूपं ब्रूयात् परं प्रतिपादयेत्। तदात्मस्वरूपं परान् विदितात्म-स्वरूपान् पृच्छेत्। तथा तदात्मस्वरूपं इच्छेत् परमार्थतः सन् मन्यते। तत्परो भवेत् आत्मस्वरूपभावनातत्परो भवेत्। येनात्मस्वरूपेणेत्थं भावितेन। अविद्यामयं स्वरूपं बहिरात्मस्वरूपम्। त्यक्त्वा विद्यामयं रूपं परमात्मस्वरूपं व्रजेत्॥५३॥

वह भावना इस प्रकार करना चाहिए, यह कहते हैं —

कथन पृच्छना, कामना, तत्परता बढ़ जाय।
ज्ञानमय हो परिणमन, मिथ्याबुद्धि नशाय॥ ५३॥

अन्वयार्थ - (तत् ब्रूयात्) उस आत्मस्वरूप का कथन करे; उसे दूसरों को बतलावे; (तत् परान् पृच्छेत्) उस आत्मस्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से-विशेष ज्ञानियों से पूछे, (तत् इच्छेत्) उस आत्मस्वरूप की इच्छा करे, उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनाये, और (तत्परः भवेत्) उस आत्मस्वरूप की भावना में सावधान हुआ आदर बढ़ावे, (येन) जिससे (अविद्यामयं रूपं) यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप (त्यक्त्वा) छूटकर, (विद्यामयं व्रजेत्) ज्ञानमय परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होवे।

टीका - उस आत्मस्वरूप का कथन करना अर्थात् अन्य को समझाना; दूसरों ने अर्थात् जिन्होंने आत्मस्वरूप जाना हो, उनसे वह आत्मस्वरूप पूछना; तथा उस आत्मस्वरूप की इच्छा करना अर्थात् उसको परमार्थस्वरूप मानना; उसमें तत्पर रहना अर्थात् आत्मस्वरूप की भावना का आदर करना; जिससे अर्थात् इस प्रकार आत्मस्वरूप की भावना करने से, अविद्यामय स्वरूप का अर्थात् बहिरात्मस्वरूप का त्याग करके, विद्यामयरूप अर्थात् परमात्मस्वरूप प्राप्त किया जा सके।

भावार्थ - आत्मस्वरूप की भावना किस प्रकार करना ? इस प्रश्न के उत्तर में आत्मार्थी को लक्ष्य करके आचार्यदेव कहते हैं कि —

वह आत्मस्वरूप, अन्य को समझाना; जिन्होंने आत्मस्वरूप को जाना है, उनसे उसके ही विषय में पूछकर, उसे जानना; उसकी ही इच्छा रखना अर्थात् उसे-एक को ही परमार्थ सत्य मानना और निरन्तर आत्मस्वरूप की भावना में ही लगे रहना — ऐसा करने से बहिरात्मस्वरूप का-अविद्यामय स्वरूप का नाश होगा; परमात्मस्वरूप की अर्थात् ज्ञानमय स्वरूप की प्राप्ति होगी।

विशेष स्पष्टीकरण -

१. आत्मा सम्बन्धी ही बात कर; संसार सम्बन्धी कोई भी बात मत कर, वैसा करने से बाहर में भ्रमता तेरा उपयोग, तत्त्वनिर्णय की ओर झुकेगा।

२. आत्मा सम्बन्धी अधिक ज्ञान के लिए, विशेष ज्ञानियों से पूछ; इससे आत्मा सम्बन्धी तेरी श्रद्धा स्पष्ट होकर दृढ़ होगी और ज्ञान निर्मल होगा।

३. आत्म-प्राप्ति की ही भावना कर; अन्य किसी पर पदार्थ की अथवा इन्द्रिय विषय के सुख की इच्छा न कर — ऐसा करने से बाह्यइन्द्रियसुख के कारण होनेवाली निरर्थक आकुलता मिट जायेगी।

४. आत्मस्वरूप की भावना में ही निरन्तर अभिरत बन।

इस प्रकार तेरे ज्ञान में, श्रद्धा में और आचार में, एक आत्मा को ही विषय बना; अन्य किसी बाह्यपदार्थ को तेरे ज्ञान का विषय मत बना।

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि —

'काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग।' (आत्मसिद्धि)

आत्मा ही एक प्रयोजनभूत वस्तु है, उसकी ही प्राप्ति करने योग्य है; उसके सिवाय; अन्य पदार्थों का विचार, मन के रोग के समान है।

इस प्रकार समझ कर, धगश और उत्साहपूर्वक यदि तू आत्मभावना करेगा, तो अविद्या का-अज्ञानता का नाश होगा और आत्मस्वरूप की प्राप्ति होगी।

इष्टोपदेश, श्लोक ४९ में कहा है कि —

अविद्याभिदूरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् दृष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥

'वह ज्ञानस्वभावरूप ज्योति, अविद्या का-अज्ञान का नाश करनेवाली है तथा महान उत्कृष्ट और ज्ञानमय है; इसलिए मुमुक्षुओं को उसके विषय में ही पूछना, उसकी प्राप्ति की अभिलाषा करनी तथा उसी का अनुभव करना चाहिए।'

तथा अमितगति आचार्यकृत 'योगसार', श्लोक ४९ में कहा है कि —

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं,
पृच्छयं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम्।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं,
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम्॥

'जो पुरुष, विद्वान है, उसको उस आत्मपदार्थ का निश्चल मन से अध्ययन करना योग्य है; वह ध्यान करने योग्य, आराधना करने योग्य, पूछने योग्य, सुनने योग्य, अभ्यास करने योग्य, उपार्जन करने योग्य, जानने योग्य, कहने योग्य, प्रार्थना योग्य, शिक्षा योग्य, देखने योग्य और स्पर्शने योग्य है क्योंकि वैसा करने से आत्मा सदा स्थिरपने को प्राप्त होता है।'॥५३॥

ज्येष्ठ शुक्ल १३, शनिवार, दिनांक २१-६-१९७५, श्लोक-५३, प्रवचन-६७

यह समाधितन्त्र, गाथा - ५३

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ ५३॥

टीका - उस आत्मस्वरूप का कथन करना... जिसे आत्मा की प्राप्ति करनी है, उसे आत्मा की अन्तर्मुख की धगश बढ़ाना चाहिए, ऐसा कहते हैं। बहिर्मुख में वह चीज़ नहीं है। अन्तर्मुख चीज़ है। इसलिए **उस आत्मस्वरूप का कथन करना अर्थात् अन्य को समझाना;...** अर्थात् कि उस समय भी अपना ध्येय आत्मा की ओर है, उस बात को समझाने में जोर मुख्य कहने में आता है। आहाहा! यह समझाना, ऐसा कहते हैं। शास्त्र की दूसरी बातें हों। सवेरे आता है न, छह द्रव्य आदि जानने की बात है, परन्तु वह गौणरूप से व्यवहार की बात। मुख्यरूप से परमार्थ की बात यह है।

आत्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन के भाव का स्वरूप जो है, वह कहना। पूर्णइदं पूर्णानन्दस्वरूप है, शुद्ध आनन्द है। इसलिए दूसरे को इस प्रकार से समझाने में भी उस वस्तु का ध्येय की ओर जोर रहे, इसलिए समझाना, ऐसा कहते हैं। है तो विकल्प परन्तु उस समय अन्दर यह। चैतन्य अन्तर्मुख पूर्ण आनन्द और पूर्ण शुद्ध है, ऐसा समझना और समझाना।

दूसरों ने अर्थात् जिन्होंने आत्मस्वरूप जाना हो, उनसे वह आत्मस्वरूप पूछना;... जिस दुकान से माल मिलता हो, उस दुकान में जाना न? इसी प्रकार आत्मा किस प्रकार प्राप्त हुआ है जिसे, उसके पास जाना, कहते हैं। कहो, सुजानमलजी! आहा! भगवान पूर्ण आनन्द। क्षेत्र छोटा, ऐसा नहीं देखना। जगत में पर्याय में अल्पज्ञता है, इसके ऊपर से उसका माप नहीं निकालना। वह तो वर्तमान है। परन्तु अन्दर उसका स्वरूप पूर्ण है। भाव... भाव... भाव... ज्ञायकभाव, आनन्दभाव ऐसा जो भाव का स्वरूप है, उसे पूछना। प्राप्त हुए को पूछना, ऐसा कहते हैं।

निर्जरा अधिकार में तो ऐसा भी आता है बहुत सबको पूछ नहीं, जा तुझे मोक्ष होगा। निर्जरा का अधिकार है न? किस अपेक्षा से वहाँ कहा, यह समझना। समझे हुए को पूछना। तेरे पास ही प्रभु है। तेरे नयन के आलस्य से तुझे दिखता नहीं। नयन जहाँ देखना चाहिए वहाँ नहीं और बाहर में घूमा करते हैं। यह और यह और यह। तो वह चीज़ तो अन्तर्मुख हो, तब ज्ञात हो ऐसी है। आहाहा!

उस चीज़ को **वह आत्मस्वरूप पूछना; तथा उस आत्मस्वरूप की इच्छा करना...** अर्थात् कि उसे इष्ट बनाना। आहाहा! आत्मस्वरूप की इच्छा **अर्थात् उसको परमार्थस्वरूप मानना;...** ऐसा। अन्वयार्थ में ऐसा कहा है। **उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनाये,...** यह बराबर। इच्छा का अर्थ इष्ट-अनिष्ट। यह पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, उसे इष्ट बनाना। आहाहा! जिसे आत्मा की प्राप्ति करनी हो, उसके लिये यह है।

उसको परमार्थस्वरूप मानना;... परमार्थस्वरूप ही यह आत्मा है। आहाहा! **उसमें तत्पर रहना अर्थात् आत्मस्वरूप की भावना का आदर करना;...** अन्तर आनन्दस्वरूप के प्रति उत्साह से आदर करना। व्यवहार का आदर अन्दर से छोड़ना, ऐसा कहते हैं।

जिससे अर्थात् इस प्रकार आत्मस्वरूप की भावना करने से,... है न यह ? **'येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा' अविद्यामय स्वरूप का अर्थात् बहिरात्मस्वरूप का त्याग करके,...** और **'विद्यामयं रूपं'** आहाहा! विकल्प आदि सब अविद्यामय है। उस अविद्या को अपना माना है, अज्ञान और रागादि को। उसका नाम बहिरात्मा है। राग और विकल्प को अपना माना है, वह बहिरात्मा; वस्तु में नहीं और बाह्य में राग उत्पन्न होना, उसे अपना माना है, वह तो बहिरात्मा है। आहाहा!

बहिर् अन्तरात्मा में यह रागादि विकल्प व्यवहार नहीं है। आहाहा! इसलिए इस व्यवहार में अपनेपने की मान्यता का त्याग करना, वह बहिरात्मा का त्याग है। यह लोगों को व्यवहार आता है न व्यवहार? तो कहते हैं कि उसका त्याग करना। अर्थात्? आहाहा! अन्तर स्वरूप के झुकाव की बारम्बार तत्परता में बाह्य लक्ष्यवाले भावों को छोड़ना। आहाहा! अध्यवसाय में ऐसा कहा नहीं बन्ध अधिकार में? भगवान ने जब, पर को जिलाऊँ, सुखी करूँ, दुःखी करूँ—ऐसी मान्यता के अध्यवसाय को जब मिथ्यात्व कहा है, हम तो जानते हैं कि जितना पराश्रय विकल्प उठे, सबका निषेध किया है। यह तो ऐसी गाथा बाद में आती है, इसलिए उसका उपोद्घात किया है। गाथा २७२ में ऐसा आता है। **'ववहारोऽभूदत्थो'** व्यवहार का निषेध... निश्चयाश्रित मुनि प्राप्ति करे निर्वाण को। आहाहा!

जहाँ तेरा माल है, वहाँ तू जा, ऐसा कहते हैं। तेरा माल तो अन्दर भाव में पड़ा है। अन्तर्मुख भाव में माल है। आहाहा! उसकी ओर जा। किस प्रकार? कि बहिरात्मपने का जो विकल्प मेरा और विकल्प से लाभ होगा, ऐसा अविद्यामय भाव को अर्थात् बहिरात्मपने को छोड़। यह तो समाधितन्त्र है न! समाधि कैसे प्राप्त हो? समाधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। समाहिवर मुत्तमं दिंतु। आता है शान्तिभाई! कहाँ? समाहिवर मुत्तमं दिंतु। किया है या नहीं लोग्गस उज्जोयगरे, नहीं? उसमें आता है। लोगस्स उज्जोयगरे में। समाहिवर मुत्तमं दिंतु। वह कौन सी समाधि? आहाहा! आत्मा की ओर का दर्शन, ज्ञान और चारित्र, वह समाधि। वे बाबा समाधि लगावें, वह समाधि नहीं। आधि, व्याधि और उपाधि का त्याग करके अन्दर समाधि लगावे। आहाहा!

बहिरात्मस्वरूप का त्याग करके,... अर्थात् कि जो अन्तर स्वरूप में नहीं, ऐसा विकल्प और व्यवहार को छोड़। उसे छोड़। आहाहा! और **'विद्यामयं रूपं'** ज्ञानमय जो स्वरूप आत्मा। वह तो अविद्यामय था। पुण्य का विकल्पादि मेरे और उनसे लाभ होगा, वह तो अविद्यामय, अज्ञानमय भाव था। आहाहा! उसे छोड़कर **'विद्यामयं'** विद्यामय ज्ञानस्वरूप, ऐसा जो आत्मा **अर्थात् कि परमात्मस्वरूप...** ऐसा। परम-आत्मस्वरूप **प्राप्त किया जा सके। त्याग करके, विद्यामयरूप अर्थात् परमात्मस्वरूप प्राप्त किया जा सके।** यह तो बहुत ही मक्खन की बात है यह तो भाई! आहाहा! सवेरे की बात तो जानने की छह द्रव्य है, उन्हें जानना। यह आता है। यह योगसार में आता है। योगसार की गाथा। योगीन्द्रदेव की। छह द्रव्य को जानना। प्रयत्न से जानना, ऐसा वहाँ कहा। आती है लाईन कुछ आती है—जानना प्रयत्न से। बाकी तो वास्तव में तो इस ओर झुकना, उसे जानना। आहाहा! तब उसे व्यवहार ऐसा होता है। आहाहा!

विद्यामयरूप अर्थात् कि... ज्ञानस्वरूपी आत्मा अर्थात् कि परमस्वरूपी प्रभु! आहाहा! **'विद्यामयं'** अकेला ज्ञानमय आत्मा। ज्ञानमात्र आत्मा। आहाहा!

मुमुक्षु : सवेरे ज्ञानस्वभावी आत्मा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञानस्वभावी भाव और अन्त में समयसार में तो ऐसा कहा कि भाई ज्ञानमात्र आत्मा निर्णय हुआ। अन्त में। अब उसे स्याद्वाद आया या नहीं? ऐसा कहकर फिर उठाया है। उपाय-उपेय का। मूल तो पूरे समयसार के ४१५ श्लोक और कलश करके आत्मा ज्ञानमात्र है, ऐसा निर्णय किया। अन्त में वह शब्द है। आहाहा! ज्ञानमात्र। आहाहा!

मुमुक्षु : उसमें ही यह व्रत इत्यादि...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्रत, तप सब विकल्प हैं। लोगों को बहुत कठिन लगता है।

यहाँ तो यह देखो न, गाथा-गाथा में व्यवहार का तो भुक्का उड़ाते हैं। परसन्मुख के लक्ष्यवाले विकल्पों को छोड़। आहाहा! यह तो सत् को प्राप्त करना हो तो यह बात है। बातें करनी हो और ऐसे का ऐसा कहीं ऐसे व्यवहार से भी ऐसा होता है, निश्चय से ऐसा होता है, निमित्त से ऐसा होता है। नेमिचन्द हो गये थे न भाई यह पण्डित।

ज्योतिष नहीं ? गुजर गये। चार पुस्तकें प्रकाशित कीं। चार। वहाँ दी थी। कहाँ दी थी ? सागर में। चार दी थी। वापस चार, वापस दूसरे से मिले। आठ आयी। कोई पृष्ठ देखा होगा और किसी जगह अभी भाई लाये थे। चेतनजी। किसी समय देखा होगा, उसमें आया था निश्चय से परमात्मस्वरूप हूँ। कार्य दो कारण से होता है, उपादान और निमित्त से। ऐसा आता है।

यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! स्व के सन्मुख होकर जो ज्ञान हो, वह ज्ञान, निमित्त हो तो उसका ज्ञान करता है। निमित्त है, इसलिए ज्ञान करता है न ? उस ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि निमित्त है, इसलिए यह उसका ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है। निश्चय निमित्त है, इसलिए निश्चय हुआ—ऐसा भी नहीं है, परन्तु उसे जानने का जो ज्ञान हुआ, वह निमित्त है, इसलिए जानने का ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है। आहाहा! वह तो स्व-परप्रकाशक का सामर्थ्य ही है, इससे ऐसा जानते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग लोगों को बेचारों को बहुत (कठिन पड़ता है)।

मुमुक्षु : ऐसा मार्ग भी सुनने को कहाँ मिलता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : है नहीं कहीं। आहाहा! परमसत्य, परमसत्य।

कहते हैं, '**विद्यामयं**' की व्याख्या की है। पाठ है न ? '**येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।**' अर्थात् ? विकल्पादि जो है, वह तो अज्ञानमय है। आहाहा! रागादि को अचेतन कहा है न ? उसमें विद्या कहाँ है ? ज्ञान कहाँ है ? आहाहा! '**अविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा**' ऐसी देखो न भाषा। विकल्पादि अविद्यामय स्वरूप है। आहाहा! उसके लक्ष्य को छोड़ दे। छोड़ने का अर्थ कि उसका लक्ष्य छोड़ दे और विद्यामयं प्रभु ज्ञानमय परमात्मस्वरूप, परमस्वरूप '**व्रजेत्**' ग्रहण कर, प्राप्त कर। आहाहा!

अब यह सब इच्छामि पडिक्कमणु तस्सउत्तरीवालों को भारी कठिन लगे। वह तो सामायिक की और प्रौषध किये। अरे... प्रभु! सुन न, भाई! यह तो निश्चय की बात, निश्चय की। परन्तु निश्चय अर्थात् सत्य बात। व्यवहार अर्थात् आरोपित कथन। ... सम्बन्ध है वह तो। आहा! व्यवहार का यह अर्थ नहीं किया भाई ने ? कलश-टीकाकार ने। व्यवहार अर्थात् कथनमात्र। ऐसी भाषा ली है। कहनेमात्र, ऐसा शब्द पड़ा। और

बहुत जगह तो झूठा... झूठा... ऐसा शब्द कलश में प्रयोग किया है। आहाहा! झूठा ही है। व्यवहार आत्मा में है कहाँ? सत् प्रभु विद्यामय आत्मा अकेला ज्ञानस्वभावी वस्तु, उसे प्राप्त कर। अविद्यामय तजकर एक विद्या को प्राप्त किया जाता है। इसलिए अविद्यामय छोड़, ऐसा कहा। देखो! यह मार्ग को प्राप्त करने की रीति। आहाहा! दूसरा भले जानपना कम-अधिक हो परन्तु वस्तु यह।

'**येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं**' इसका अर्थ यह। '**विद्यामयं रूपं व्रजेत्।**' पण्डितजी! यहाँ रूप डाला है वापस इसमें। रूप अर्थात् स्वरूप। '**येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं रूपं व्रजेत्।**' आहाहा! गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी अविद्यामय है। उसका रूप ही अविद्यामय का रूप है यह। आहाहा! उसे '**व्रजेत्**' छोड़। जिससे विद्यामयरूप प्राप्त किया जाए। आहाहा! ऐसा कहते हैं। ज्ञानमय, ऐसा कहा है न? वहाँ तो ज्ञानमय ही सिद्ध किया है न सबको। फिर कहे कि इसमें स्याद्वाद आया? वहाँ आ गया है स्याद्वाद, सुन न! ज्ञानमय है, ऐसा कहने पर परमय नहीं। इसमें सब आ गया। आहाहा!

यह ज्ञानमय होने पर भी उपाय—उपेयरूप से एकरूप अकेला परिणमता है। साधकरूप से ज्ञान परिणमता है और साध्यरूप से ज्ञान पूर्ण परिणमता है। उसे दूसरे द्रव्य के सहारे की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग, बापू! जिसे संसार का किनारा आया होगा, उसे यह जँचे ऐसा है। कठिन बात है। उसमें वह कहते हैं कि पुण्य के ऊपर तो डण्डा लेकर बैठे हैं। ऐसा कहा था न? क्या कहा था? कैलाशचन्दजी ने। भाई कहते थे पण्डितजी। उन्होंने कहा न कि कैलाशचन्दजी ऐसा कहते हैं। अब इस लाठी में... लाठी में तो चूरा होता है। यहाँ तो चूरा जलकर राख होती है। आहाहा!

भाषा देखो न! '**तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्। येनाऽविद्यामयं रूपं**' आहाहा! पूछने का विकल्प भी अविद्यामय है, कहते हैं। ऐई! सुनने का विकल्प भी अविद्यामय है। आहाहा! कहने का विकल्प भी अविद्यामय है।

भावार्थ - आत्मस्वरूप की भावना किस प्रकार करना? भावना शब्द से विकल्प, ऐसा नहीं। अन्तर में भाव ज्ञायकभाव की एकाग्रता। भाव की भावना। ज्ञायकभाव,

ज्ञानभाव, भाव की भावना अर्थात् एकाग्रता। आहाहा! **इस प्रश्न के उत्तर में आत्मार्थी को लक्ष्य करके आचार्यदेव कहते हैं कि —** ऐसा है न? तू उसे पूछ, ऐसा करके, ऐसा कहकर शिष्य को कहते हैं न? सुननेवाले को कहते हैं न? सुननेवाले ने पूछा कि महाराज यह क्या? कहते हैं, सुन। इसी बात में जो बात सामने रख आत्मा को पूछ। आत्मा की बात पूछ। आहाहा!

हमारे किस प्रकार आहार-पानी खाना? ऐई... सुगनचन्दजी! सब बोलते नहीं यह बोले। कैसा आहार बनाकर खाना महाराज? अब यह विकल्प है, उसे छोड़। निर्दोष आहार लेना, ऐसा जो विकल्प है, वह अविद्यामय है। आहाहा! तब वह एक व्यक्ति कहे, निर्दोष आहार खाये तो परिणाम सुधर जाये। है न वह ताराचन्दजी नहीं? चोटीला। कपूरचन्दभाई के भाई। बहुत बुद्धि स्थूल। निर्दोष आहार। पहिचानते हो चेतनजी? है न उसमें बहुत वर्षों से। ६८ में मिले थे बोटाद। ६८ में। फिर यहाँ भी आये थे। निर्दोष आहार-पानी लेने से परिणाम सुधर जाते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि निर्दोष आहार-पानी लेने का जो विकल्प है, वह अविद्यामय है। उसमें ज्ञान का अंश नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : ५-७ साधु आये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आये थे।

मुमुक्षु : निर्दोष आहार की बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, यही बातें करे। उनके लिये बनावे तो निर्दोष कहाँ रहा? आहार-पानी देखे और बनावे। सवेरे से बनावे सब। साथ में चौकावाले हों। आहाहा! व्यक्ति के लिये बात नहीं है, परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा बदल गया। हमारे हीराजी महाराज तो ऐसा सुने तो उन्हें ऐसा हो जाये कि यह साधु ऐसे! इनके लिये करे, चौका बनावे और यह ले! आहाहा! उन्हें निर्दोष आहार का बहुत था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करे व्याख्यान। एक दिन रहना हो तो व्याख्यान करे। साधु के लिये बिनाकर दोगे तो गर्भ में गलोगे। आहाहा! बेचारे को उन्हें जितनी मान्यता में था

उतना। यह (तत्त्व) नहीं मिला। आहाहा! निर्दोष आहार-पानी लेने का भाव वह शुभभाव है, विकल्प है। उसमें ज्ञान का अंश नहीं है। आहाहा!

आत्मस्वरूप, अन्य को समझाना;... आया था न पहला '**तद्ब्रूयात्त**' '**ब्रूयात्त**' का अर्थ किया। **जिन्होंने आत्मस्वरूप को जाना है, उनसे उसके ही विषय में...** उन्हें उसके ही विषय में **पूछकर, उसे जानना;...** ऐसा। उसे पूछना कि मुझे पैसा कैसे मिलेगा? अमुक होगा, यह पूछना ही नहीं। उसे पूछना क्या? धूल कैसे मिलेगी, यह पूछना ही नहीं। किसी को पूछना, ऐसा नहीं। उसे पूछना ही नहीं। आहाहा!

मारवाड़ी आये थे, नहीं? बावळ के। वह उसे बात कान में गयी थी वह भभूतमल की। उसे ४० लाख पैदा हुए। ऐसा हुआ, वह मारवाड़ में चला है। अब भाई! उनके यहाँ यह कौन जाता था। यह वे गये सो गये। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि **उसके ही विषय में पूछकर, उसे जानना;...** आहा! **उसकी ही इच्छा रखना अर्थात् उसे-एक को ही परमार्थ सत्य मानना...** अर्थ में किया था न इष्ट बनाना। यहाँ ऐसा किया कि इच्छा करके परमार्थस्वरूप से उसे मानना। वास्तविक स्वरूप से उसे ही मानना कि आत्मा का जो स्वरूप है, उस सम्बन्धी ही मानना। आहाहा! व्यवहार की तो बातें छुड़ाई है। सुनायी देता है?

मुमुक्षु : थोड़ा-थोड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा क्यों?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : समझे तो सही न। सोनगढ़ है न यहाँ।

उसे-एक को ही परमार्थ सत्य मानना... आहाहा! **और निरन्तर आत्मस्वरूप की भावना में ही लगे रहना...** यह... बात है। निरन्तर लगे रहना। देखो न, व्यापारी को व्यापार के वह स्वप्न में भी वह व्यापार आता है। यह लो। पाँच हाथ... पाँच हाथ... भगत थे न राणपुर। ऐई! तेरे पिता थे न नारणभाई! उनके वह नौकर थे। वह नौकर थे तो भी उन्हें धन्धे का बहुत। वह नौकर। घर का व्यक्ति काम करे, ऐसा काम करे। ऐसी

लगन। रात्रि में पछेड़ी अपनी वह दो फाळ और तीन फाळ की होती है न? ले पाँच हाथ। फाड़ी, पछेड़ी फाड़ दी। जगा तो ओय मेरा। यह जिसकी जो एकता। उसे स्वप्न में भी ऐसा आता है, आहाहा! आत्मा भिन्न है, राग भिन्न है। आहाहा!

ऐसा करने से बहिरात्मस्वरूप का (अर्थात्) अविद्यामय स्वरूप का... ऐसा। आहाहा! बहिरात्मा अर्थात् रागादि की क्रिया मेरी है, ऐसा जो बहिरात्मपना, उसे अविद्यामय स्वरूप का नाश होगा। इस प्रकार नाश होगा, कहते हैं। और **परमात्मस्वरूप की अर्थात् ज्ञानमय स्वरूप की प्राप्ति होगी।** परमात्मा अर्थात् विद्यामय कहा न? विद्यामय अर्थात् ज्ञानमय, ज्ञानमय अर्थात् परमात्ममय। परमस्वरूप। उसकी प्राप्ति होगी।

१. आत्मा सम्बन्धी ही बात कर;... अमितगति की बात करेंगे और परमार्थ वचनिका। पद्मनन्दिपंचविंशति में है। पूरा एक श्लोक है ११ बोल का। उसमें यह डाला है। **संसार सम्बन्धी कोई भी बात मत कर, वैसा करने से बाहर में भ्रमता तेरा उपयोग, तत्त्वनिर्णय की ओर झुकेगा।** अन्तर ज्ञायकस्वभाव, परमात्मस्वभाव ज्ञानमय स्वभाव की ओर तेरा झुकाव होगा। आहाहा! वे कहें, सर्व प्राणी को नहीं मारना किसी प्राणी को, यह सिद्धान्त का सार। 'अहिंसा समयं चेव' यह कहते हैं कि अब परमात्मस्वरूप स्वयं सर्व का सार है। उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता, यही सार है। आहाहा! बेचारे को मिला नहीं, इसलिए क्या करे?

२. आत्मा सम्बन्धी अधिक ज्ञान के लिए, विशेष ज्ञानियों से पूछ;... दूसरा प्रश्न इसका स्पष्टीकरण। **इससे आत्मा सम्बन्धी तेरी श्रद्धा स्पष्ट होकर दृढ़ होगी...** यह तो व्यवहार से ऐसा कहा। **और ज्ञान निर्मल होगा।** दूसरा बोल हुआ। **'तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्त'** दूसरा बोल हुआ।

३. आत्म-प्राप्ति की ही भावना कर;... यह तत्पर की बात है। आत्म-प्राप्ति कर। महा आनन्द का निधान अनन्त गुण का खजाना प्रभु, उसकी प्राप्ति की ही भावना कर। आहाहा! **अन्य किसी परपदार्थ की अथवा इन्द्रिय विषय के सुख की इच्छा न कर...** आहाहा! पाँच इन्द्रिय की ओर के झुकाव में कुछ ठीक है, ऐसा जो उत्साह, (उसे) छोड़ दे। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा उपदेश करे। चार महीने हुए न बाहर। अब यह

तो शीत पहोर की बात है न। शीतलता... शीतलता... शीतलता...

मुमुक्षु : आप बाहर रहते हो तो यहाँ के लोगों को बहुत असुविधा होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : असुविधा, अन्दर में जाये तो सब असुविधा मिट जाये।

मुमुक्षु : परन्तु इसके लिये आपकी उपस्थिति की आवश्यकता पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आगामी वर्ष का तो यह है न यहाँ का वढवाण का है। मद्रासवालों का है। उनका हम गये तब वह कराया। पौने दो लाख।

मुमुक्षु : .... बड़ा प्रोग्राम बनाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं, यह आत्मा—प्राप्ति की ही भावना कर। यह '**तत्पर**' की व्याख्या है, हों! '**पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो**' है न? आहाहा! इन्द्रिय विषय के सुख की। जो परसन्मुख के भाव में जरा सी मिठास हो, वह विषय में सुख लगे। छोड़ दे। आहाहा! **ऐसा करने से बाह्यइन्द्रियसुख के कारण होनेवाली निरर्थक आकुलता मिट जायेगी।** आहाहा! **इन्द्रिय विषय के सुख की इच्छा न कर—ऐसा करने से बाह्यइन्द्रियसुख के कारण होनेवाली निरर्थक आकुलता मिट जायेगी।**

४. आत्मस्वरूप की भावना में ही निरन्तर अभिरत बन। अभिरत—उसके सन्मुख होकर, उसमें रत हो। आहाहा! करने का तो यह है। लाख शास्त्र पढ़े, ... पढ़े, ऐसा कहे। परन्तु यह वस्तु करने की तो यह है। **इस प्रकार तेरे ज्ञान में, श्रद्धा में और आचार में, एक आत्मा को ही विषय बना;...** आहाहा! (समयसार गाथा) १७-१८ में आया है न? १७-१८ में कि यह आत्मा ज्ञान में ज्ञात हुआ, वह ज्ञान और ज्ञात हुआ 'यह आत्मा'—ऐसी श्रद्धा। उसमें ऐसी श्रद्धा हुई कि आत्मा में स्थिर होऊँगा, उसमें स्थिर होऊँगा तो कर्म छूटेंगे। समझ में आया? यह निर्जरा का उपाय है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! स्व के आश्रय में जितना स्थिर होऊँगा, उतनी निर्जरा अर्थात् कर्म टलेंगे। आहाहा! उपवास निर्जरा, तपस्या निर्जरा आता है न? वह तो निमित्त का कथन है।

निर्जरा तो तब होती है कि शुद्ध चैतन्य का आश्रय ले और पवित्र पर्याय प्रगट हो, तब अशुद्धता टले तो कर्म टले। यह निर्जरा कहलाती है। अशुद्धता... निर्जरा के तीन

प्रकार—इतने प्रमाण में शुद्धत्व का उत्पन्न होना, स्व के आश्रय से शुद्ध का उत्पन्न होना, वह भी निर्जरा ली है। तीन प्रकार निर्जरा के। और अशुद्धता का व्यय होना, वह भी एक निर्जरा में गिना है और उसका निमित्त जितने कर्म के रजकण, वह अशुद्धता टली उतने रजकण वहाँ उनके कारण से गले-टले, उसे भी निर्जरा कहा है। आहाहा!

अन्य किसी बाह्यपदार्थ को तेरे ज्ञान का विषय मत बना। आहाहा! बाहर देखने को अन्ध हो। अन्दर देखने के लिये हजार नेत्र खोल। आहाहा! **श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि—'काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग।' आत्मा ही एक प्रयोजनभूत वस्तु है,...** यह लड़के ने गायन बनाया, उसमें 'आनन्द का प्रयोजन है' ऐसा डाला है। ज्ञान से जाने, दर्शन से देखे, चारित्र का विषय स्थिरता, ऐसा लिया। विषय नहीं लिया। चारित्र अर्थात् स्थिरता। मेरा प्रयोजन आनन्द है, उसमें है। आनन्द का प्रगट होना, वह प्रयोजन है। सम्यग्दर्शन में भी आनन्द का प्रयोजन, ज्ञान में भी आनन्द का प्रयोजन, चारित्र में भी आनन्द का प्रयोजन। यह तुम्हारे दिलीप ने बनाया है। नया-नया गायन है। है न वह पुस्तक? पुस्तक है न तुम्हारे हाथ में?

आत्मा ही एक प्रयोजनभूत वस्तु है, उसकी ही प्राप्ति करने योग्य है;... आहाहा! **उसके सिवाय; अन्य पदार्थों का विचार, मन के रोग के समान है। 'दूजा नहीं मन रोग।'** है न? **इस प्रकार समझ कर, धगश और उत्साहपूर्वक यदि तू आत्मभावना करेगा,...** आत्मभावना करेगा। आत्मस्वभाव की एकाग्रता की भावना करेगा **तो अविद्या का-अज्ञानता का नाश होगा और आत्मस्वरूप की प्राप्ति होगी। 'विद्यामयं व्रजेत्' आत्मस्वरूप की प्राप्ति होगी।**

अब यह इष्टोपदेश का श्लोक है ४९। अमितगति का ४९। समयसार की ४९ अव्यक्त की।

अविद्याभिदूरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् दृष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

आहाहा! पुस्तक सब अधिक नहीं? हो रही है? यहाँ मिलती नहीं होगी, नहीं? पहले से लिया नहीं तुमने? बेन के पास तो होगी न यह?

वह ज्ञानस्वभावरूप ज्योति,... आहा! अग्नि उष्णस्वभावरूप ज्योति, यह ज्ञानस्वभावरूप ज्योति। **ज्ञानस्वभावरूप ज्योति, अविद्या का-अज्ञान का नाश करनेवाली है...** आहाहा! अग्नि की ज्योति जैसे अन्धकार का नाश करनेवाली है। दीपक की ज्योति जैसे अन्धकार का नाश करनेवाली है; उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावरूप ज्योति उस अविद्या का-अज्ञान का नाश करनेवाला है। **तथा महान उत्कृष्ट और ज्ञानमय है;...** पाठ में है न। **महान उत्कृष्ट...** भाव। समय की पर्याय की अनादि की रचना में रुक गया है। एक समय की पर्याय... मूढ़, कहा न वहाँ?

बाहर जो व्यक्त है, उसमें ही इसकी दृष्टि पड़ी है। परन्तु अन्तर पूरा अव्यक्त पदार्थ है। पर्याय की अपेक्षा से अव्यक्त। वस्तु की अपेक्षा से व्यक्त। आहाहा! ऐसा आनन्दघनस्वरूप। **महान उत्कृष्ट और ज्ञानमय है;...** आहाहा! '**अधियं मुणदि आदं**' आता है न? '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' वहाँ यह लिया है ज्ञानस्वभाव अधिक अर्थात् भिन्न, इससे भिन्न, इससे अधिक और इससे भिन्न अर्थात् पूर्ण। ज्ञानस्वभाव '**अधियं मुणदि आदं**' ज्ञानस्वभाव ऐसे भगवान आत्मा को वर्तमान एक समय की पर्याय से अधिक अर्थात् पृथक्, अधिक अर्थात् भिन्न, अधिक अर्थात् पूर्ण। आहाहा! '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' ऐसे आत्मा को तू जान। आहाहा! ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण, पर से भिन्न अर्थात् कि अधिक। आहाहा! एक समय की पर्याय में आता नहीं, वह अधिक-भिन्न है और अधिक है अर्थात् परिपूर्ण है। यह सब अपूर्ण है। एक समय की पर्याय भी अपूर्ण है। यह पूर्ण है, भिन्न है, अधिक है। आहाहा! उसकी भावना कर।

इसलिए मुमुक्षुओं को उसके विषय में ही पूछना,... यह सब प्रश्न सब छह द्रव्य का जानना और उसका सब शास्त्र में बहुत आता है। तो ऐसा निर्णय करने जाये तो उनका बलिदान नहीं हो जायेगा? यह तो कहा था न सवेरे। यह तो जानने में यह मैं नहीं, इसलिए जानना है। आहाहा! यह मैं नहीं और यह मैं हूँ, इसलिए उन्हें जानना है। आहाहा! हुकमचन्दजी ने अच्छा लिखा है।

इसलिए मुमुक्षुओं को उसके विषय में ही पूछना,... भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, शुद्ध चैतन्य से वह कितना अस्तित्व है? कैसे है? कहाँ है? तत्प्रमाण पूछना। आहाहा!

ऐसा मार्ग है। **उसकी प्राप्ति की अभिलाषा करनी...** आहाहा! पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता से होती है। उसकी अभिलाषा करना। **उसका अनुभव करना।** आहाहा! यह इष्टोपदेश-४९ का यह अर्थ हुआ।

अब **तथा अमितगति आचार्यकृत 'योगसार', श्लोक ४९ में कहा है कि —** यह भी ४९ गाथा है। उस ओर है। यह भी ४९ है। आहाहा!

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं,
पृच्छयं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम्।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं,
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम्॥४९॥

आहाहा! यह पूछ और यह कर सब, कहते हैं। निर्जरा अधिकार में ऐसा कहा, भाई! तू पूछ नहीं, सब पड़ा है अन्दर, जा न! देख न! तुझे अन्दर से सुख होगा। तुझे प्राप्त, खबर पड़ेगी। आहाहा! किस शैली से बात की है!

जो पुरुष, विद्वान है,... देखो! '**यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम्**' और '**विदुषाभ्यस्य**' ऐसा है न दूसरी लाईन कलश की। '**विदुषा**' देखो, यहाँ तो अमितगति आचार्य कहते हैं कि **जो पुरुष, विद्वान है,...** आहाहा! **उसको उस आत्मपदार्थ का निश्चल मन से अध्ययन करना...** लो। विद्वान हो, उसे यह करना। **जो पुरुष, विद्वान है, उसको उस आत्मपदार्थ का निश्चल मन से...** निश्चल मन से **अध्ययन करना योग्य है;...** आहाहा! '**विदुषा**' है न?

वह ध्यान करने योग्य,... भगवान पूर्णानन्द का नाथ पूर्णस्वरूप, पूर्ण भावस्वरूप, पूर्ण परमात्मस्वरूप **ध्यान करने योग्य,...** है। आहाहा! यहाँ तो यह ऊपर से लिया है न। गाथा है न यह। आहाहा! ४९ का आधार दिया न? इसका अर्थ है। ४९ का आधार है। है न, देखो न। '**अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीवं**' किसे? '**विदुषां**' यह ४९ गाथा का अर्थ है। अमितगति के श्लोक का अर्थ है। पहला उसका अर्थ गया इष्टोपदेश का। यह इसका। इसके साथ मिलान करने को।

ध्यान करनेयोग्य हो तो परमात्मा स्वयं है। आहाहा! परमस्वरूप, परमभाव,

परमशुद्ध, ज्ञानभाव आराधनेयोग्य है। **आराधना करने योग्य,...** है। यह उसकी आराधना-सेवा करनेयोग्य है। आहाहा! देव और देवियों को आराधते हैं न? यह आराधनेयोग्य है। तीर्थस्थानों में ऐसा हो गया, उसके प्रमुख हो, और ऐसा कहे अपने में यहाँ कोई पैसा दे तो अपने बढ़े तो अपनी शोभा। उसके कारण हुई। परन्तु अवश्य भी न हो वहाँ उसकी। यह पद्म... पद्म.... पद्मपुरा है, वह कितना एक मकान पड़ा है, अब वहाँ भी कुछ घर नहीं होते। सब आवे सब। सब प्रमुख बातें करने। एक कुन्दकुन्द हॉल की आवश्यकता है। ऐसा माने कि ठीक यह महाराज को कुन्दकुन्द है न? क्या कहते हैं यह? और वापस हीरालाल बैठे हुए। कुचामनवाले-भावनगरवाले। उन्हें मुझे तो बुलवाना थोड़ा, कहा, यह उदार व्यक्ति है। इसलिए ऐसे पकड़ा उन्होंने। मैंने तो वे ८० हजार दिये थे, इस अपेक्षा से उदार कहा। तो कहे, अब कुन्दकुन्द हॉल की आवश्यकता है। पैसा निकालो, ऐसा कहे।

मुमुक्षु : महाराज तो कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : किस अपेक्षा से कहा? वहाँ उसने अपने... करना चाहे तो था। भँवरलाल है न? भँवरलाल पण्डित। कर्ताहर्ता वह है। यह तो जो यह सब इतने पैसेवाले हैं, ऐसा कहने में जोखिम है। क्योंकि यहाँ बाहर के लोग वापस... क्योंकि ४० लाख के...

मुमुक्षु : यहाँ भी जोखिम है और सरकार में भी जोखिम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहा न? कि इतने पैसे तो इनके पास हैं। कहने में आहारदान में जोखिम है। यह उदार है, ऐसा कहने में... यह क्या बात है? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि आराधनेयोग्य हो तो यह है एक ही भगवान आत्मा, हों! परमात्मा की बात भी नहीं, यहाँ तो यह परमात्मा। आहाहा! आराधनेयोग्य हो तो आत्मा है। पूछनेयोग्य हो तो भी यह आत्मा है। आहाहा! केवलज्ञानी का केवलज्ञान कैसा? और सर्वज्ञ कैसे? इसकी अपेक्षा कहे, पूछनेयोग्य यह, इसे पूछ न! केवलज्ञान का पूरा पुंज पड़ा है। ऐसी केवलज्ञान की पर्याय तो अनन्त-अनन्त अन्दर पड़ी है। महा भगवान प्रभु तो है। आहाहा! अरे! ऐसी बात भी कहाँ है? बापू! जगत कहीं न कहीं फँस गया है। अरे... छूटने का काल...

पूछने योग्य, सुनने योग्य,... यह सुननेयोग्य आत्मा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **अभ्यास करने योग्य,...** शास्त्र के अभ्यास में भी यह अभ्यास योग्य है, कहते हैं। आहाहा! **उपार्जन करने योग्य,...** उपार्जन करना अर्थात् यह प्राप्त करना। **जानने योग्य,...** यह है। **कहने योग्य,...** यह है। **प्रार्थना योग्य,...** यह है। आहाहा! प्रार्थना योग्य यह भगवान आत्मा अन्दर है। कहो, सुजानमलजी! ऐसी बात है यह।

शिक्षा योग्य,... यह है। यह शिक्षा को समझनेयोग्य है, कहते हैं। आहाहा! **देखने योग्य और...** अनुभव करनेयोग्य **स्पर्शने योग्य है...** स्पर्शना अर्थात् उसे अनुभव करना। आहाहा! तीन लोक के नाथ चैतन्य परमात्मा को स्पर्श। राग और अमुक को स्पर्श करना छोड़ दे। आहाहा! **क्योंकि वैसा करने से आत्मा सदा स्थिरपने को प्राप्त होता है।** लो! है न? '**सर्वदात्मस्थिरत्वम्**' ऐसा वह स्थिरपने प्राप्त होता है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ५४

ननु वाक्कायव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽसम्भवात् ''तद्ब्रूयादि'' इत्याद्ययुक्तमिति वदन्तं प्रत्याह -

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते॥ ५४॥

सन्धत्ते आरोपयति। कं आत्मानम्। क्व? शरीरे वाचि च। कोऽसौ ? मूढः वाक्शरीरयोर्भ्रान्तो वागात्मा शरीरमात्मेत्येवं विपर्यस्तो बहिरात्मा। तयोरभ्रान्तो यथावत्स्वरूपपरिच्छेदकोऽन्तरात्मा पुनः एषां वाक्शरीरात्मनां तत्त्वं स्वरूपं पृथक् परम्परभिन्नं निबुद्धयते निश्चिनोति॥५४॥

वाणी-शरीर से भिन्न, आत्मा का असम्भव होने से उसके विषय में बोलना (पूछताछ करना) इत्यादि योग्य नहीं है — ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं —

तन-वच तन्मय मूढ चित, जुड़े वचन-तन संग।
भ्रान्ति रहित तन-वचन में, चित को गिने असंग॥ ५४॥

अन्वयार्थ - (वाक् शरीरयोः भ्रान्तः) वचन और शरीर में जिसकी भ्रान्ति हो रही है, जो उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता—ऐसा बहिरात्मा (वाचि शरीरे च) वचन और शरीर में (आत्मानं सन्धत्ते) आत्मा का आरोपण करता है अर्थात् वचन को तथा शरीर को आत्मा मानता है (पुनः) किन्तु (अभ्रान्तः) वचन और शरीर में आत्मा की भ्रान्ति न रखनेवाला ज्ञानीपुरुष, (एषां तत्त्वं) इन शरीर और वचन के स्वरूप को (पृथक्) आत्मा से भिन्न (निबुध्यते) जानता है।

टीका - संधान करता है अर्थात् आरोपित करता है। किसको ? आत्मा को। किसमें ? शरीर और वाणी में। वह मूढ़ कौन है ? वाणी और शरीर में भ्रान्तिवाला अर्थात् वाणी, वह आत्मा; शरीर, वह आत्मा—ऐसी विपरीत मान्यतावाला बहिरात्मा है परन्तु उन दोनों में जिसको भ्रान्ति नहीं है अर्थात (उन दोनों के) स्वरूप को यथार्थरूप से जानता है, वह अन्तरात्मा, उनके अर्थात् वाणी-शरीर और आत्मा के तत्त्व को अर्थात् स्वरूप को पृथक् — एक-दूसरे से भिन्न जानता है, निश्चित करता है।

भावार्थ - वास्तव में शरीर और वाणी, पुद्गल की रचना है; वह मूर्तिक जड़ है और आत्मस्वभाव से विपरीत लक्षणवाले है तथापि अज्ञानी बहिरात्मा, उनमें आत्मबुद्धि करता है, उनको आत्मा मानता है, यह उसका भ्रम है। इस भ्रान्ति के कारण, वह शरीरादि की ही भावना करता है; आत्मा की भावना नहीं करता।

ज्ञानी अन्तरात्मा को जड़ शरीरादि और चेतन आत्मा के स्वरूप का यथार्थ भेदज्ञान है। वह आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानता है, उसको शरीरादि में आत्मपने की भ्रान्ति नहीं है। वह शरीर को शरीर और आत्मा को आत्मा ही समझता है; एक की मिलावट, दूसरे में नहीं करता। उसको आत्मा के भिन्न अस्तित्त्व का भान है; इसलिए वह निरन्तर आत्मा की ही भावना करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

देहादि परपदार्थ हैं, वे पर ही हैं, उनको अपना मानने से दुःख होता है किन्तु आत्मा, आत्मा ही है अर्थात् आत्मपदार्थ अपना (निज) है; वह कभी भी देहादिकरूप नहीं हो सकता। उसके आश्रय से ही सुख की प्राप्ति होती है; इसलिए महापुरुष उसके लिए ही उद्यमशील होते हैं। *(श्री इष्टोपदेश, श्लोक -४५)*

'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, सदा अरूपी हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ; अन्य कोई एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है' — ऐसा ज्ञानी विचारता है। *(श्री समयसार, गाथा-३८)*

इस प्रकार ज्ञानी, भेदज्ञान करके परपदार्थों से उदासीन होता है और आत्मा को पृथक् समझकर, आत्मस्वरूप की भावना भाता है॥५४॥

ज्येष्ठ शुक्ल १४, रविवार, दिनांक २२-६-१९७५, श्लोक-५४, प्रवचन-६८

जब ५३ में ऐसा आया कि विद्वान पुरुषों को तो **आत्मपदार्थ का निश्चल मन से अध्ययन करना...** उसमें से यह प्रश्न उठाया है। उसका ध्यान करना। उस वस्तु का ध्यान। **आराधना करनेयोग्य, पूछनेयोग्य,...** उसमें से प्रश्न उठाया है। पूछनेयोग्य कहा है न? **सुननेयोग्य,...** यह आत्मा है। **अभ्यास करनेयोग्य,...** परन्तु आत्मा। **उपार्जन करनेयोग्य,...** परन्तु आत्मा। आहाहा! पर्याय का उपार्जन करना केवलज्ञान आदि या

सम्यग्दर्शन (आदि)। आहाहा! **जाननेयोग्य, कहनेयोग्य, प्रार्थनायोग्य,...** आत्मा। लो ठीक, वह भगवान की प्रार्थना करते हैं न? प्रार्थनायोग्य तो आत्मा है। आहाहा!

शिक्षायोग्य,... आत्मा। शिक्षा और समझानेयोग्य हो तो वह आत्मा है। स्वयं अपने को समझावे, ऐसा वह आत्मा है। आहाहा! **देखनेयोग्य...** होवे तो आत्मा **और स्पर्शनेयोग्य...** अर्थात् अनुभव करनेयोग्य हो तो भी आत्मा। आहाहा! इतने बोल लिये हैं। अमितगति ने। तब शिष्य का प्रश्न उठा **वाणी-शरीर से भिन्न, आत्मा का असम्भव होने से उसके विषय में बोलना (पूछताछ करना) इत्यादि योग्य नहीं है...** इसके विषय में बोलना, वह स्वयं वाणी और आत्मा तो एक है। तो उसके विषय में बोलना, यह सब पृथक् रहा, पृथक् सिद्ध होता है। समझ में आया? शिष्य का प्रश्न यह है कि वाणी और शरीर दोनों आत्मा एक ही है। फिर उसके विषय में पूछना वाणी में आत्मा के विषय में, यह बात कहाँ से रही? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

वाणी-शरीर से भिन्न,... क्योंकि आत्मा बिना वाणी नहीं होती, आत्मा बिना शरीर नहीं होता, वह तो आत्मा और वाणी एक हो गये, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **वाणी-शरीर से भिन्न, आत्मा का असम्भव होने से...** और वाणी द्वारा आत्मा को पूछना, ऐसी भिन्नता कहाँ रही? आहाहा! ऐसा किया है। **ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं—** ऐसा जो मानता हो और बोलता हो, उसे यह कहा जाता है, ऐसी बात है।

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते॥ ५४॥

टीका - संधान करता है अर्थात् आरोपित करता है। किसको? आत्मा को। किसमें? शरीर और वाणी में। यह तो आरोप करते हैं, (परन्तु) ऐसा है नहीं। आहाहा! मैं बोलता हूँ, इसलिए आत्मा और वाणी एक है। शरीर मेरा है और शरीर की स्थिति में मेरी प्रेरणा है, तब शरीर चलता है इसलिए आत्मा और शरीर दोनों एक है। इस प्रकार तो अज्ञानी उसे आरोप से बोलता है, कहते हैं। उत्तरवाले कहते हैं, हों! वह कहे, नहीं ऐसा है बराबर। तो आत्मा हो तो वाणी निकले, आत्मा हो तो शरीर चले, वह तो सब एक ही है। आहाहा!

किसमें ? शरीर और वाणी में। वह मूढ़ कौन है ? आहाहा! इसका अर्थ ऐसा कहना है यहाँ कि आत्मा है तो वाणी निकलती है। वाणी है। ऐसे आत्मा है तो शरीर है। शरीर है तो आत्मा है। वह तो सब एक ही हो गया। व्यवस्थित जो उसे कहना है ज्ञान में ऐसी ही वाणी व्यवस्थित निकले, उसमें वाणी और आत्मा भिन्न कहाँ रहे ? तब शिष्य को उत्तर देते हैं। यह आरोप करता है मूढ़ जीव। व्यवस्थित वाणी है; मैं हूँ, इसलिए वाणी निकलती है, ऐसा अज्ञानी आरोप करता है। वह मूढ़ है। आहाहा! समझ में आया ?

जोर से बोलना चाहे, ज्ञान में ऐसा हो कि जोर से... परन्तु ऐसा ही बोला जाये। अपने नहीं बोलते थे वे बुदेलखण्डवाले (बुलन्दशहरवाले) ? कैलाशचन्द। धीरे से बोलो। यह अब कम हो गया। धीरे से बोलो, जोर से बोलो, जोर से बोलो। यह सब करते। जोर से बोलो। अर्थात् यह उसमें ऐसी ध्वनि आती है कि अपने आत्मा है, वैसा जोर से बोलना नहीं निकले। धीरे-धीरे से तो यह तो सब आत्मा और दोनों एक चीज़ है इसलिए। समझ में आया ? ऐसा नहीं है, कहते हैं। मूढ़! सुन। आहाहा!

वाणी और शरीर में भ्रान्तिवाला... आहाहा! वह मूढ़ कौन है ? कि वाणी... जैसा ज्ञान में आवे कि ऐसा बोलना है तो ऐसा ही बोला जाये, इसलिए आत्मा वह है। यह अज्ञानी को भ्रान्ति है।

मुमुक्षु : आप बोलते हो वह ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले जड़। कौन बोले ? बोले वह दूसरा। इसलिए तो यह गाथा शुरु की है कि बोलने की क्रिया व्यवस्थित जो सामने प्रश्न करे, उसका ही उत्तर ज्ञान में ज्ञात होता है और वैसी ही वाणी निकलती है; इसलिए वाणी और आत्मा एक है। आहाहा! कितने ही नहीं कहते ? कि वाणी क्या दीवार में से निकलती है ? ऐसा कितने ही पूछते हैं। नहीं ? चन्दुभाई! तेरा बाप, वह और वह ऐसा कहता था लो। एक व्यक्ति आया था पन्द्रह दिन रहा। श्वेताम्बर था। पन्द्रह दिन रहा। यहाँ सुनकर वहाँ गया, तब रामविजय को पूछा कि वाणी कौन बोलता है महाराज वाणी ? यह वाणी तू बोलता है। तेरा बाप बोलता है या तू ? कहो। यह गजब करते हैं न! अरे... प्रभु! क्या करता है भगवान! आहाहा! इसलिए तो यह श्लोक लिया है। समझ में आया ?

जैसा ख्याल हो, वैसा ही बोला जाये। जैसा ज्ञान में आया हो कि मुझे ऐसा उत्तर देना है, वैसी ही वाणी निकलती है। आहाहा! अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि यह वाणी मेरे ज्ञान में बराबर ऐसी वाणी निकली। यह भ्रम है, भ्रान्ति है, कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म न्याय है। समाधि का अधिकार है। इसलिए वाणी और शरीर की व्यवस्थित अवस्था में आत्मा का अधिकार है, इसलिए व्यवस्थित होता है, इसलिए दोनों एक हैं, भिन्न नहीं— ऐसा अज्ञानी का तर्क है। समझ में आया? आहाहा!

सवेरे ऐसा था कि पर्याय में दिखता नहीं बाहर, इसलिए उसका गुण नहीं अन्दर? और गुण नहीं और गुण अल्प है? आहाहा! बात को सिद्ध करने की दिगम्बर सन्तों की पद्धति ही कुछ अलग प्रकार की है। आहाहा! द्रव्य, गुण को पूरा बतलाने के लिये यह सब बातें ली जाती हैं। समझ में आया? आहाहा! कहते हैं कि वाणी भी व्यवस्थित निकलती है, इसलिए आत्मा और वाणी दोनों एक हैं, ऐसा नहीं है। अज्ञानी को भ्रान्ति हुई है। इसी प्रकार की वाणी निकले, जैसा इच्छा, ज्ञान में आया कि ऐसा मुझे पूछना है तो वाणी ऐसी ही निकले। ऐसी सन्धि लेकर (अज्ञानी ने) तकरार ली है। परन्तु किसी समय ऐसा निकलता भी नहीं। समझ में आया? आहाहा! वाणी और शरीर में जीव की व्यवस्थित दशा से वह व्यवस्थित आता है, ऐसी अज्ञानी की भ्रान्ति है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

वाणी, वह आत्मा; शरीर, वह आत्मा—ऐसी विपरीत मान्यतावाला बहिरात्मा है... आहाहा! कि जो बाह्य चीज़ की व्यवस्थित दशा में आत्मा का अधिकार है, इसलिए आत्मा वह है—ऐसा माननेवाला बहिरात्मा है। आहाहा! समझ में आया? वकील-बकील कौन बोलता था? भाषा बोलता था वकील कहाँ वहाँ? आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य ने कहा नहीं अन्तिम कलश में? मैं यह वाणी समझाता हूँ। मत नाचो, ऐसा मोह न करो। आहाहा! वाणी भी उसके काल में, १०२ गाथा में आया न प्रवचनसार में। छहों द्रव्यों का जन्मक्षण है। उस-उस पर्याय की उत्पत्ति का उसे काल है, उससे उत्पन्न होती है। आत्मा के ज्ञान में ऐसा आया कि मुझे ऐसा उत्तर देना, इससे वाणी ऐसी आयी, ऐसा नहीं है। उस वाणी की पर्याय का उस प्रकार का जन्मक्षण है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं। इसके लिये तो यह विवाद उठाया है। इसके लिये तो यह श्लोक उठाया है। ऐसा है नहीं। तुझे ऐसा भ्रम लगता है। आहाहा! भेदज्ञान बताते हैं, ऐसा करके। अर्थात् समाधि करने में भाषा-बाषा मुझसे होती है, ऐसी से ऐसे होती है, यह छोड़ दे, छोड़ दे। आहाहा! समझ में आया?

विकल्प आया, इससे भाषा की व्यवस्थित अवस्था निकली। रहने दे। आहाहा! और ज्ञान में भी ऐसा आया कि इसका उत्तर यह है। ऐसा ज्ञान में आया और वह व्यवस्थित वाणी ऐसी ही उत्तर की निकली, इसलिए यह आत्मा और शरीर, वाणी दोनों एक हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, अब वाणी और आत्मा में आरोप देता है व्यर्थ (अज्ञानी), यहाँ तो कहे। आहाहा! शरीर को भी जहाँ ऐसे चलना हो ज्ञान में आना कि यहाँ मकोड़ा है, ऐसा था। तो पैर उस प्रकार से व्यवस्थित उठता है। इसलिए व्यवस्थित जड़ की पर्याय में जीव का आरोप देकर अज्ञानी मानता है, परन्तु ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह लकड़ी देखो। अब जब उठानी हो तो लक्ष्य में यह आवे। वृत्ति ऐसी आवे और ज्ञान में ऐसा आवे कि यह उठे। उठे कहा है। यह ज्ञान में आया था कि इसे उठाना, इसलिए यह उठने की अवस्था हुई, ऐसा आरोप भ्रान्तिवाला अज्ञानी देता है। आहाहा! बहिरात्मा है। आहाहा! वाणी और शरीर की व्यवस्था। आहाहा! उसके ज्ञान में आया है कि ऐसा हो, वाणी मैं बोलूँ। तो वह वाणी वैसी ही निकलती है, यह अज्ञानी की भ्रान्ति है कि मैंने ऐसा विचार किया था और बोलना था, वैसी वाणी निकली; इसलिए मुझे और उसे सम्बन्ध है, इसलिए उसमें मैं यह हूँ उसमें। भ्रान्ति है, कहते हैं। आहाहा! देखो तो सही। वाणी, शरीर और आत्मा दोनों का... सब्जी खाना हो तो हाथ सीधे सब्जी, रोटी का टुकड़ा उठे। नवीनभाई रहे, देखो न! उन्हें बेचारे को ऐसा पानी पी नहीं सकते। रोटी-बोटी से पानी ऐसा हो जाता है। लड़का बहुत भला है बेचारा। उसमें कुछ नहीं। उसे तो निवृत्ति में से योगेश करेगा सब। अब उसके सिर पर क्या? उसमें कुछ खेद करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! ऐसा कहता था कि उसे पानी हमारे पिलाना पड़े। ऐसा-ऐसा हो जाये और पानी ढुल जाये। ऐसा है तब तक रह जाता है। ऐसा ऊँचा हो... आहाहा!

यही बताते हैं कि इसकी भावना ऐसी हुई, तथापि वह स्थिति नहीं (हुई), पानी पीने की, भाव था कि ऐसा, इसलिए उसकी क्रिया ही स्वतन्त्र है। आहाहा! यह डालना है, यह ऐसा, हों! वह अज्ञानी आरोप देता है और असमाधि मिथ्यात्व होता है। आहाहा! उसकी नजर बाहर में रहती है। ऐसा कहते हैं। इसलिए वह बहिरात्मा है। आहाहा! लिखना, लिखाना, लो न! जैसा लिखने का भाव हो, वैसी भाषा निकले।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो फिर तुम्हारे समझनेयोग्य है। लिखना, लिखाना नहीं आता? मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है कि ऐसे शास्त्र वाँचना, ऐसा लिखनापना और लिखानापना उसमें भी आता है कलश में कि लिखना, लिखाना सब विकल्प है। आहाहा! यह शास्त्र की टीका करना, वह विकल्प है और जिस प्रकार से लिखने का भाव था, वैसे लिखा गया, इसलिए अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि मैं इसमें कुछ अधिकार मेरा है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो, परन्तु इससे क्या हुआ? वह जड़ की अवस्था का स्वकाल उसके कारण से हुई थी। आहाहा! यह तो जहाँ और तहाँ हम करते हैं... हम करते हैं... हम करते हैं... किसे करे, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त तो करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त की व्याख्या क्या? उसमें प्रवेश नहीं करता, इसका नाम निमित्त। निमित्त की सत्ता-शरीर और वाणी की सत्ता में प्रवेश नहीं करता। भिन्न रहता है और भिन्न रहता है, इसलिए भिन्न से कुछ उसमें होता नहीं। सुजानमलजी! यह तो वीतराग की कॉलेज है, भाई! आहाहा! वे कहें, ऐसे बोलना... ऐसे बोलना... जोर से बोलो, जोर से बोलो। एक वे थे, तुम्हारे नहीं भाई! राजकोट वे कृपाशंकर और प्रभाशंकर दो भाई थे। बोधाणी। प्रभाशंकर लिखते। वह टीबा और कुछ साकरकोटा... दरवाजा है न, उसके ऊपर रहते थे। प्रभाशंकर। वह आस्तिक था, कृपाशंकर नास्तिक था। खबर है न, दोनों मिले हुए न सब। वे आते व्याख्यान में पहले। ७७ में। महाराज!

था साधारण पतला शरीर उनका। ऐसे धीरे-धीरे बोलो, ऐसा नहीं। ऐसा बोलना। कौन यह बोलता है कृपाशंकर। अरे... कौन बोले, बापू! आहाहा! वह तो आये थे। कोई न हो न, फिर आवे। कृपाशंकर और प्रभाशंकर दो भाई थे। बोधाणी। गली है न वह दरवाजा। दरवाजा है वहाँ ऊपर रहते थे भाई। यह चीतर चीतरता प्रभाशंकर। कृपाशंकर कुछ होगा। आहाहा!

एक जोर से बोलना, एक बार कहे। दूसरा कोई दामनगर था। यह तो तुम्हारा दादा ही था। ऐई... दामोदरभाई! हरीचन्द मूलजी नहीं मेडीवाला? वह ऐसा बोलता। वहाँ व्याख्यान चलता था न जहाँ। वहाँ। ७६ में। फिर यह ७६ में। वह ऐसा बोले। ऐसे जोर से बोलना।

मुमुक्षु : जोर से बोले तो ही सब सुने न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जोर से बोले बापू! आहाहा!

इसमें भी कहा नहीं? अपने प्रवचनसार में अन्तिम श्लोक में। जोर-शोर से कहना था, वह कहा गया है। आता है? इसका अर्थ यह कि जो कहना था, वह कहा गया है, ऐसा इसका अर्थ। आहाहा! ऐसा नहीं। टीका करके हम तो स्वरूप में हमारे अस्तित्व में हैं, ऐसा कहा। स्वरूपगुप्त कहा है न! स्वरूपगुप्त का अर्थ यह (कि) हम तो हमारे अस्तित्व में हैं। इस वाणी के अस्तित्व में हम कहाँ जायें? आहाहा! समझ में आया? कहो, दास! यह सब तुम करते हो न बड़ा मील का? मुफ्त में वेतन दे तो कुछ व्यवस्था करते होंगे। ऐ... चन्दुभाई! आहाहा!

यहाँ तो प्रभु का अस्तित्व और वाणी का अस्तित्व और शरीर का अस्तित्व। अत्यन्त उसका समय-समय अत्यन्त भिन्न है। इसलिए व्यवस्थित वाणी निकलती है, इसलिए आत्मा के कारण निकली, ऐसा नहीं है। आहाहा! और शरीर भी बराबर समिति से चलता है। शास्त्र में ऐसा आता है कि जीव दिखाई दे तो पैर को ऊँचा करना। लो, ऐई! आता था हमारे वहाँ सम्प्रदाय में। एक शिव आर्यिका थी न, वह बहुत करती थीं। शिव आर्यिका नहीं, इन प्रेमचन्दभाई की बुआ। खारा-खारा। दीक्षा ली थी न। वह कहे कि इसमें पैर देखकर रखना। ऐसा कहा है न! तुम कहते हो कि पैर रख नहीं

सकता। लो! शास्त्र में ऐसा आता है कि पैर की ऐड़ी नीचे जरा दिखे तो ऐड़ी ऐसे पैर को आड़ा ऐसे कर डालना बीच से, मकोड़ा चला जाये। उसकी ओर तथा इसकी ओर दो रखकर ऐसे जो पैर हों, उसकी जगह ऐसे करना। कहो, सुजानमलजी! यहाँ तो हमारे सब आ गया हो न!

यह तो उस समय ईर्यासमिति की व्याख्या होने पर बताते हैं। परन्तु यह पैर ऐसा कर सकता है, (ऐसा नहीं है)। ऐसे सामने मेंढ़क देखा, इसलिए पैर उसमें नहीं रखना और ऐसे रखना। यह आत्मा के ज्ञान में आया कि ऐसे रखना, इसलिए इस प्रकार से पैर ऐसे आया, ऐसा नहीं है। आहाहा! भाई! यह तो अलग प्रकार है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर। ओहोहो! वीतरागी सन्तों की कथनी, शैली ही कोई अलौकिक है।

हमारे समाधितन्त्र लिखना था। जो ज्ञान में आया, इसलिए लिखा गया है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। अज्ञानी भ्रान्ति (में) उसे आरोप देता है कि आत्मा था तो यह वाणी निकली। आत्मा था तो शास्त्र रचे गये। आत्मा है ऐसा क्षयोपशमवाला जीव, तो उससे यह सब पूर्व की लब्धि का लेखन हुआ। आहाहा!

परन्तु उन दोनों में जिसको भ्रान्ति नहीं है अर्थात (उन दोनों के) स्वरूप को यथार्थरूप से जानता है,... शरीर और वाणी का स्वरूप, उस-उस काल में उसकी पर्याय उस प्रकार से उसके स्वकाल में उत्पन्न होने की है, इसलिए आत्मा के ख्याल में आया कि ऐसा बोलूँ, यह बात है नहीं। आहाहा! **वह अन्तरात्मा...** है। शरीर और वाणी दोनों जड़ हैं। **दोनों में जिसे भ्रान्ति नहीं है...** दोनों अर्थात् आत्मा और शरीर-वाणी, दोनों में। शरीर की वाणी और शरीर की क्रिया और वाणी की क्रिया उस काल में उस समय उस कारण से होती है। भाषा बोलने का विकल्प आया, इसलिए भाषा हुई, ऐसा नहीं है। ओहोहो! निश्चय की बातें सत्य की जगत को सूक्ष्म पड़ती है। वस्तु तो ऐसी है। उसे भ्रान्ति द्वारा तू आरोप से कहता है कि हम ऐसा बोलने में लगते हैं, वैसा बोला जायेगा, ऐसा लिखने लगें तो लिखा जायेगा। आहाहा! ऐसे शरीर को ऊँचा करना चाहें विकल्प में तो इस प्रकार से ऊँचा होगा। करवट बदलना चाहें तो विकल्प आवे तो शरीर की करवट बदले। इतना तो आत्मा का अधिकार है या नहीं पर में? आहाहा! (जरा भी नहीं)।

इन दोनों में जिसे भ्रान्ति नहीं। शरीर-वाणी और आत्मा, इन दोनों में जिसे भ्रान्ति नहीं। आत्मा आत्मा की पर्याय की सत्ता में रहता है। वाणी और शरीर के अस्तित्व की पर्याय उसके अस्तित्व में है। आहाहा! इसके अस्तित्व के कारण बोलने का ज्ञान का अस्तित्व है, इसलिए बोलने की पर्याय का अस्तित्व हुआ। आहाहा! दिगम्बर मुनियों ने भी सूक्ष्म रीति से भेदज्ञान बतलाया है। वे तो कहे, अपने कर सकते हैं... अपने कर सकते हैं... व्यवहार से तो कर सकते हैं न? निश्चय से नहीं। और यह कहते हैं, लो। परन्तु इसका अर्थ क्या?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बोलने की बात। बोलने का स्वयं कहाँ बोलता है? व्यवहार को कहनेमात्र है, कलश-टीका में आता है। कहनेमात्र है। यह कहनेमात्र का कथन भी उसके कारण से है। आहाहा!

उनके अर्थात् वाणी-शरीर और आत्मा के तत्त्व को... तीनों में दो। दो अर्थात् वाणी-शरीर और आत्मा, ऐसा। वाणी-शरीर एक ओर आत्मा, दो हुए न? **उनके अर्थात् वाणी-शरीर...** एक ओर। **और आत्मा के तत्त्व को अर्थात् स्वरूप को पृथक्—एक-दूसरे से भिन्न जानता है,...** आहाहा! **निश्चित करता है।** दूसरे से भिन्न जानता है। धर्मात्मा निश्चित होता है। ऐसा निश्चित करता है उस समय की भाषा ली है। समझ में आया?

लो, मास्टर बुलावे तो बोलो। ऊंठा आता है न साढ़े तीन का, क्या कहलाता है वह? अढीया और सवाया आता था या नहीं? एक उठुं-उठुं साढ़े तीन, ऊंठा के साथ, ऐसा आता है। अब नहीं है। मास्टर बुलावे। एक उठुं, उठुं साढ़े तीन। दो उंठा सात, तीन उठा। उठा अर्थात् साढ़े तीन। परन्तु देखना यहाँ बोले इसलिए फिर वे लड़के बोलें। एकडे एक, बगड़े दो। ऐसा बुलावे लो। भारी भ्रम, कहते हैं। आहाहा! एकड़ा सिखलाने का विकल्प है, वह ज्ञान में आया है तो यह भाषा ऐसी निकलती है ऐकड़े एक। इसलिए अज्ञानी को भ्रान्ति हो जाती है कि यह भाषा मेरे कारण निकली। मैंने इस प्रकार का ज्ञान किया, इसलिए निकली। बिल्कुल झूठ है, कहते हैं। आहाहा! कहो, ऐसा सूक्ष्म है, भाई! सवेरे की अपेक्षा और यह निकला वापस। आहाहा!

शरीर और वाणी की व्यवस्थित उस-उस समय की जो पर्याय, उसका स्वकाल। इस कारण से वह होती है और ऐसा ही यहाँ ज्ञान और विकल्प होता है, इसलिए उससे यह हुआ है, ऐसा नहीं है। एक जगह ऐसा आता है कि परमाणु का कहाँ टोटा है कि झूठ बोले?

मुमुक्षु : झूठे शब्द किसलिए नहीं प्रयोग करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं प्रयोग करना। ऐसी सब बातें। आती है। भगवती आराधना में न! समझ में आया? आहाहा! इस जगत में कहाँ टोटा है सच्ची भाषा को बोलने का कि... यहाँ तो कहे, परन्तु भाषा की बात भी है नहीं। वह तो व्यवहार से बतलाया है। आहाहा! सच्चा बोलना... वह तो यहाँ आया नहीं बन्ध अधिकार में? मैं बोलता हूँ, यह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। आता है या नहीं? बन्ध अधिकार में। आहाहा! भाई! तू तो आत्मा की सत्ता, वह आत्मा अपने द्रव्य, गुण और पर्याय के अस्तित्व में रहता है। पर के किसी भी अंश का उस प्रकार से व्यवस्थित हो, परन्तु वह आत्मा की पर्याय वहाँ काम नहीं करती। आहाहा! कहो, यह ऐसा सूक्ष्म है। **एक-दूसरे से भिन्न जानता है, निश्चित करता है।**

भावार्थ - वास्तव में शरीर और वाणी, पुद्गल की रचना है;... पर्याय है न दोनों? सवेरे आया नहीं था? शब्द पुद्गल की पर्याय है, यह आया था। जैसे नर-नारकी की व्यंजनपर्याय जीव की है, वैसे यह शब्द की पर्याय पुद्गल की है। आहाहा! भले उसके ख्याल में हो, ऐसी ही वाणी आवे, इससे वाणी को ज्ञान का निमित्त ऐसा है, इसलिए ऐसी वाणी हुई—ऐसा नहीं है। आहाहा! देखो न, निमित्त को उड़ाते हैं।

ज्ञान में ऐसा आया कि ऐसा मुझे बोलना और इस प्रकार से मुझे सीखना और यह पृष्ठ... यह पृष्ठ मुझे इस प्रकार फिराकर उसमें यह नामा अमुक का हो, वह निकालना। पृष्ठ फेरकर उसका नामा निकाले हीरालाल मोतीलाल। नामा। जैसा भाव था, वापस पृष्ठ फिरकर वह आया। फिर आत्मा का कुछ काम है या नहीं इसमें? आहाहा! यह तो पागल कहे ऐसा है।

मुमुक्षु : पागल ही है, ऐसा परमात्मप्रकाश में कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा था न! पागल कहा। लोग धर्म की बात सूक्ष्म और यथार्थ वास्तविक हो, उसके कहनेवाले को पागल कहते हैं। बोले, उसे कहे हम बोलते नहीं। चले और (कहे) हम चलते नहीं। खाये और (कहे) हम खाते नहीं। वाह! गाली किसी को दे और कहे हम गाली देते नहीं। दूसरे की निन्दा करे और (कहे) हम निन्दा करते नहीं। ऐई... नवरंगभाई! इसमें पानी छानने का तो कहीं रह गया। आहाहा! यह तो सब समय बदल गया न सब। टाईम बदल गया है। इसके पिता से यह भाग्यशाली है। उन्हें बहुत स्पष्ट मिला नहीं था।

वास्तव में शरीर और वाणी, पुद्गल की रचना है; वह मूर्तिक जड़ है और आत्मस्वभाव से विपरीत लक्षणवाले है... आहाहा! आत्मा के स्वरूप की सत्ता के लक्षण से उसका विपरीत लक्षण है। आहाहा! वे अन्य आश्रित्वाद कहा है न। अध्यवसाय में। वहाँ इसने ऐसा अर्थ किया है, कलश। जिसे विपरीत आश्रय है, ऐसा। कलश टीका। अध्यवसाय। अपने यह साधारण टीका पण्डित जयचन्द्रजी में अन्य का आश्रय है व्यवहार। इन्होंने तो ऐसा ही किया है। विपरीत आश्रय है जिसे। व्यवहार को तो विपरीत आश्रय है। वहाँ भगवान का आश्रय नहीं। आहाहा! कलश टीकाकार। कलश टीकाकार ने बहुत स्पष्ट किया है। क्योंकि व्यवहार की दिशा पर के ऊपर है, निश्चय की दिशा स्व के ऊपर है। इसलिए उसकी दशा निर्मल है। व्यवहार की दिशा पर की ओर है, इसलिए उसकी दशा मलिन है। आहाहा! यह व्यवहार का लोगों को कठिन पड़ता है।

मुमुक्षु : थोड़े से प्रतिशत रखो।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक का एक प्रतिशत रखते हैं न, सौ का सौ। एक प्रतिशत किसलिए? सौ के सौ प्रतिशत पुण्य के परिणाम अधर्म हैं।

मुमुक्षु : प्रभु! ज्ञानी और अज्ञानी की बात में अन्तर तो पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर पड़े वह तो स्वयं के कारण से अन्तर पड़ता है, उसमें दूसरा क्या?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वाणी के काल में वाणी निकले। इसके लिये तो यह चलता है। आहाहा!

'विपरीत' शब्द आया है न इसमें? **आत्मस्वभाव से विपरीत लक्षणवाले है...** वाणी और जड़ शरीर। आहाहा! और बराबर ख्याल में आया हो कि यह रोटी का टुकड़ा करके, दाल में ऐसे करके और फिर मसाला लूँ। क्या कहलाता है वह? मसाला। संभार। चटनी-चटनी। चटनी आती है न। किसकी यह? क्या कहलाता है यह कोई? वनस्पति नहीं आती? धनिया। धनिया-धनिया। धनिया की चटनी पड़ी हो, एक ओर दाल की कटोरी भरी हो, एक ओर रोटी यहाँ पड़ी हो, दाल की कटोरी बाहर पड़ी हो, चटनी थाली में हो तो यह विचार ऐसा हो, ऐसा ही हाथ सीधे रोटी का टुकड़ा दाल में आवे और चटनी में जाये, लो। यह कहीं आत्मा का अधिकार है या नहीं उसमें कुछ? यह सब प्रश्न चले थे, हों! अभी किसी जगह। आत्मा है तो ऐसा बराबर होता है। जड़ हो तो अकेला कैसे हो? अरे... जड़ में उसका व्यवस्थित होता है। वह एक पैसा डाले तो वहाँ टिकिट पैसे की आती है। ऐसी मशीन अभी आती है। ऐसी मशीन आती है।

मुमुक्षु : वह स्टेशन पर होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। होती है और सुना है न सब। टिकिट ली डाले दो पैसा तो टिकिट ऐसी निकले।

मुमुक्षु : .... पैसा डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... पैसा डाले। सुना हुआ है न। आहाहा! परन्तु यह तो उस समय डाले, इसलिए निकला, ऐसा भी नहीं। वह निकलने की पर्याय का उत्पाद का उसका काल था, इसलिए बाहर आयी थी। ऐसी बात है न, प्रभु! आहाहा! तू तो जाननेवाला-देखनेवाला है, भाई! आहाहा! होता है, उसे जानना, यह भी व्यवहार है। आहाहा! होता है, उसे करना, यह तो नहीं, परन्तु होता है उसे जानना, उसे जानना, यह कहाँ आया वहाँ? आबाल-गोपाल। (समयसार गाथा) १७-१८ में नहीं आता? ज्ञान ही अनुभव में आता है आबाल-गोपाल को। आहाहा!

मुमुक्षु : मानता है अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है दूसरा। आहाहा! क्या शैली प्रभु की! सत् को प्रसिद्ध करने की दिगम्बर सन्तों की पद्धति अलौकिक है।

कहते हैं **अज्ञानी बहिरात्मा, उनमें आत्मबुद्धि करता है,...** आहाहा! मैं था। मेरा क्षयोपशम ऐसा था, ऐसी वाणी निकली। झूठी बात है। अज्ञानी उसमें आरोप भ्रान्ति देता है। रामजीभाई दलील दें, ऐसा कहीं वह झबेरभाई दलील दे सकते हैं? झबेरभाई नहीं थे तुम्हारे? उनका पुत्र रहता है न मुम्बई, रहता है। है। झबेरभाई। भाई अपने आते थे न यहाँ बहुत बार। रामजीभाई दलील कर सके, वैसी वे कर सकते हैं? कहते हैं कि दलील करने का अधिकार आत्मा का है ही नहीं।

जड़ की उस समय की वह पर्याय आत्मा की अपेक्षा रखे बिना, आहाहा! उस काल में होने की हो... होनी ही है। वही हुई है। आहाहा! अज्ञानी बहिरात्मा... उसे आत्मा मानता है। आत्मा मानता है। मैं होऊँ तो बराबर (कार्य होते हैं)—यह ज्ञान का क्षयोपशम इस प्रकार जाने, इसीलिए उस प्रकार से वहाँ होता है। आहाहा! कपड़े की दुकान हो २५ हजार, ५० हजार कपड़े की। वहाँ से जो कपड़ा उठाना हो, जिस ग्राहक को, वह निकाले। जयन्तीभाई! वह कहे, भाई! आल्पाक चाहिए है। तो आल्पाक निकले। यह भी जाननेवाला कर्ता और जानी पर्याय, वह कर्म, वह भी उपचार से कथन है। आहाहा! आता है न। कलशटीका में आता है। गजब बात की है। वस्तुस्थिति। भले थोड़ा समझ में आये परन्तु सत्य होना चाहिए। बड़ी-बड़ी लम्बी-लम्बी बातें करके... आहाहा! उसी और उसी में फँसकर मर जाये, फिर हो गया।

ज्ञानी अन्तरात्मा को जड़ शरीरादि और चेतन आत्मा के स्वरूप का यथार्थ भेदज्ञान है। धर्मी को अन्तर आत्मा को यह ज्ञानी अर्थात् अन्तर आत्मा, ऐसा। **जड़ शरीरादिक...** अर्थात् वाणी आदि। और चेतन आत्मा के स्वरूप का, **ज्ञानी अन्तरात्मा को जड़ शरीरादि और चेतन आत्मा के स्वरूप का यथार्थ भेदज्ञान है।** आहाहा! युद्ध के समय यह हथियार उठाना है। ज्ञान में, यही उठता है लो। सामने हाथी को मारना है या राजा को। गजब बात है। वह-वह अवस्था जड़ की उस काल में वही उसकी

होनेवाली है। इसके विकल्प से और इसके ज्ञान में यह आया कि यह उठाऊँ, इसलिए वह हथियार उठा है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

गेहूँ में से कंकड़ बीनने पर भी कंकड़ हाथ में लेकर ऐसे निकाले। गेहूँ हाथ में लेकर निकाले? तथापि बोले ऐसा कि गेहूँ बीनता हूँ। परन्तु उस लक्ष्य में ऐसा है कि कंकड़ निकालना। और वह कंकड़ ही हाथ में आवे और ऐसे निकले। तथापि वह अवस्था आत्मा के कारण नहीं। आहाहा! समझ में आया? इसे बाहर से ओसरवुं पड़ेगा। चौड़ा होकर मानता है कि मैंने यह सब व्यवस्थित के अधिकार में मेरा अधिकार है। सुजानमलजी!

मुमुक्षु : कंकड़ का और गेहूँ का ज्ञान तो करना पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान तो कहा न? यह कंकड़ और गेहूँ का ज्ञान नहीं। वह ज्ञान अपना है। और कंकड़ है और यह गेहूँ है, उसका-पर का ज्ञान भी स्वरूपग्राही ज्ञानवाले को ही होता है। आहाहा! सूक्ष्म बातें, बापू! जिसे स्व का ज्ञान यथार्थ है, उसे पर का ज्ञान यथार्थ होता है, वह भी यह जानता है कि यह ज्ञान पर का हुआ नहीं, यह मेरा हुआ है। आहाहा! क्योंकि स्व-परप्रकाशक मेरे ज्ञान का ही सामर्थ्य स्वभाव है। यह पर को जाना, इसलिए परप्रकाशक मुझमें आया, ऐसा नहीं है। आहाहा! परप्रकाशक का ज्ञान मुझसे मुझमें पर की अस्ति की अपेक्षा रखे बिना (होता है)। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! वहाँ तुम बहुत करते थे टोपी लगाकर प्लेन में, १५०० वेतन। यह निश्चय इस प्रकार है, यह जगत को अन्दर बैठना भारी कठिन पड़े। निश्चय अर्थात् सत्य ही इस प्रकार से है। आहाहा!

उसको शरीरादि में... वह आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानता है, उसको शरीरादि में आत्मपने की भ्रान्ति नहीं है। अर्थात् मैं हूँ तो यह सब व्यवस्था होती है, ऐसी भ्रान्ति नहीं। उस व्यवस्था का—व्यवस्थित पदार्थ का उस समय की व्यवस्था का काल था, वह हुआ है। मुझसे हुआ नहीं। यहाँ तो ऐसा कहा जाता था यह २६ हजार लोग। नेमीचन्दभाई (पाटनी) और बाबूभाई सब व्यवस्थित काम करते थे, लो ऐसा कहते हैं। रामजीभाई ऐसा कहते, लो! ऐई! नवरंगभाई! अभी गत वर्ष ही सवा वर्ष

हुआ अभी। सवा वर्ष हुआ न? कल सवा वर्ष हुआ। फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी। चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी कल। सवा वर्ष हुआ। लो! वहाँ सब बदल गया होगा? तब कहे यह करते हैं। दो व्यक्ति करते थे सब, लो! ऐसा कहते हैं। नेमीचन्दभाई और... आहाहा!

जिस समय में जीव को जिस प्रकार के ज्ञान के क्षयोपशम में बात ज्ञात होनी है, वैसा ही सामने वाणी और शरीर में व्यवस्थित दशा हुई, इसलिए वह आत्मा से हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! २५ रुपये गिनने में ऐसे पाँच-पाँच के नोट ऐसे दिये। उसे २५ देने का भाव था, विकल्प था, इसलिए २५ ऐसे दिये गये, ऐसा नहीं है। वह पाँच-पाँच की अलग करे गिनती में। एक-एक की हो तो और २५ करे। आहाहा!

समय-समय में ज्ञान की पर्याय में जो ख्याल आया कि यह ऐसे चले या ऐसे बोलना या यह खाना या यह पीना, इसलिए उस क्रिया का आत्मा के अस्तित्व में ऐसा ज्ञान हुआ, इसलिए वह वहाँ हुआ... आहाहा! आज तो भाई खिचड़ी और सब्जी खाना है, दूसरा कुछ नहीं। खिचड़ी और दूध, लो ठीक। यह तो खिचड़ी और दूध ही खाये। ढोकला-बोकला हो तो निकाल डाले या नहीं? ऐसा कुछ अधिकार है या नहीं? चन्दुभाई, क्या है यह? डॉक्टर है न? डॉक्टर खाने की छूट दे हों, सब। वैद्य इनकार करे। आहाहा! यह भारी कठिन काम, भाई! बाबूभाई! ऐसा। ऐसा उपदेश किस प्रकार का? कि उपदेश की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है। आहाहा!

और ऐसा कहना है कि छह द्रव्य है, आत्मा असंख्य प्रदेशी है। भाववाला और गुणवाला है, उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा ख्याल में है, ऐसी भाषा आयी, लो देखो! अन्यमति को ऐसा आवे? कि आत्मा असंख्य प्रदेशी है? ऐई! आत्मा असंख्य प्रदेशी अनन्त भाव के गुणवाला भावी। भाववाला। आहाहा! यह है ऐसा। ज्ञान में भी ऐसा वर्तता हो। भाषा ऐसी ही आवे। आहाहा! अज्ञानी को भ्रान्ति हो कि मैं यह भाषा की पर्याय मुझे उस समय ऐसा जानने का आया, इसलिए हुई। आहाहा!

मुमुक्षु : आवाज के ऊपर से पहिचाना जाता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह आवाज के ऊपर से, वह तो भाषा की पर्याय से।

सत्तास्वरूप में नहीं आया ? सत्तास्वरूप में आया है... ऐसा कि अन्दर बजाता हो। कमरा बन्द हो परन्तु कौन कला बाँधेगा... सत्तास्वरूप में व्याख्यान आया है। पर्यूषण के आठ व्याख्यान। उसमें यह आया है। इसी प्रकार यह केवलज्ञानी है पर्याय में, ऐसी उसे सत्ता की खबर पड़े, ऐसा कहते हैं। उस समय के ज्ञान में वह जानने के स्वभाववाला हो तो वह ज्ञान में आवे। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! इसके बिना सम्यग्दर्शन की समाधि प्रगट नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार निर्णय नहीं करे कि यह वाणी निकलने के काल में निकलती है, मेरे ख्याल में था कि ऐसा बोलना चाहिए तो ऐसा बोलने का। यह निकाल दे। उसके कारण से यह वाणी निकली, उसके कारण से वाणी हुई। मैंने तो जानने का काम किया। अपने जानने का, हों! आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ५५

एवमवबुद्धयमानो मूढात्मा येषु विषयेष्वासक्तचित्तो न तेषु मध्ये किञ्चितस्योपकारकमस्तीत्याह -

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥ ५५॥

इन्द्रियार्थेषु पंचेन्द्रियविषयेषु मध्ये न तत्किञ्चिदस्ति यत् क्षेमङ्करमुपकारकम्। कस्य ? आत्मनः। यद्यपि क्षेमङ्करं किञ्चिन्नास्ति। तथापि रमते रतिं करोति। कोऽसौ ? बालो बहिरात्मा तत्रैव इन्द्रियार्थेष्वेव। कस्मात् ? अज्ञानभावनात् मिथ्यात्वसंस्कारवशात् अज्ञानं भाव्यते जन्यते येनासावज्ञानभावनो मिथ्यात्वसंस्कारस्तस्मात्॥५५॥

इस प्रकार से आत्मस्वरूप को नहीं जाननेवाला बहिरात्मा, जिन विषयों में उसका चित्त आसक्त होता है, उनमें (उन विषयों में) कोई भी (विषय) उसको उपकारक नहीं है — ऐसा कहते हैं —

इन्द्रिय-विषयों में न कुछ, आत्म-लाभ की बात।
तो भी मूढ़ अज्ञानवश, रमता इनके साथ॥ ५५॥

अन्वयार्थ - (इन्द्रियार्थेषु) पाँचों इन्द्रियों के विषय में (तत्) ऐसा कोई पदार्थ (न अस्ति) नहीं है (यत्) जो (आत्मनः) आत्मा का (क्षेमङ्करं) भला करनेवाला हो, (तथापि) तो भी (बालः) यह अज्ञानी बहिरात्मा, (अज्ञान-भावनात्) चिरकालीन मिथ्यात्व के संस्कारवश (तत्रैव) उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में (रमते) आसक्त रहता है।

टीका - इन्द्रियों के पदार्थों में अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषयों में ऐसा कोई भी नहीं, जो क्षेमङ्कर (सुखकर) अर्थात् उपकारक हो। किसको ? आत्मा को। वैसा होने पर भी अर्थात् कोई सुखकर नहीं है, तो भी (उनमें) रमता है-रति करता है। कौन वह ? बाल (अज्ञानी) अर्थात् बहिरात्मा उनमें ही अर्थात् इन्द्रिय के विषयों में ही (रमता है।) किससे (रमता है) ? अज्ञानभावना से अर्थात् मिथ्यात्व के संस्कारवश (रमता है)। जिनसे अज्ञान जन्मे-पैदा हो, वह अज्ञानभावना अर्थात् मिथ्यात्व के संस्कार-उनसे (इन्द्रियों के विषयों में रमता है)।

भावार्थ - इन्द्रियों के विषयों में ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जो आत्मा को हितकारी हो तथापि अज्ञानी बहिरात्मा, अनादि काल के अविद्या के संस्कार के कारण, उनमें रति करता है-आसक्त रहता है।

इन्द्रिय-विषयों का सुख, वह सुख नहीं है; वास्तव में वह दुःख ही है क्योंकि वह पराधीन है, आकुलतावाला है, अस्थिर है, क्षणभंगुर है , विच्छिन्न है, परिणामतः दुःसह और बन्ध का कारण है।[१] तथापि अनादि मिथ्यात्व के संस्कारवश अज्ञानी, उनकी रुचि करता है और उनकी प्राप्ति के लिए चिन्ता करके रात-दिन उनके पीछे लगा रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

विषय हितकारी / सुखदायी नहीं हैं, वे 'अकिञ्चित्कर' हैं।

'संसार में अथवा मोक्ष में आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमता है; उसमें विषय 'अकिञ्चित्कर' हैं अर्थात् कुछ नहीं करते। अज्ञानी, विषयों को सुख का कारण मानकर, व्यर्थ ही उनका अवलम्बन करते हैं।[२] '

'जिनको विषयों में रति है, उनको दुःख स्वाभाविक जानो, क्योंकि यदि वह दुःख स्वभाव न हो तो विषयार्थ में व्यापार न हो।[३] '

अज्ञानी, बाह्यइन्द्रिय के विषयों में सुख मानता है, निरन्तर उनके ग्रहण की इच्छा से सदा आकुल-व्याकुल रहता है। कितनी ही बार इस आकुलता का दुःख इतना असह्य लगता है कि विषयग्रहण करने के प्रयत्न में मृत्यु को प्राप्त करना पड़े, तो भी उसकी दरकार नहीं छोड़ता। इससे सिद्ध है कि मृत्यु के दुःख से भी, आकुलता का दुःख, अधिक है।

इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों में वास्तविक सुख नहीं होने पर भी, अनादि अविद्या के संस्कार के कारण, अज्ञानी उनमें रत रहता है॥५५॥

---

१. श्री प्रवचनसार, गाथा-७६, टीका-भावार्थ

२. श्री प्रवचनसार, गाथा-६७ का भावार्थ

३. श्री प्रवचनसार, गाथा-६४

ज्येष्ठ शुक्ल १५, सोमवार, दिनांक २३-६-१९७५, श्लोक-५४-५५, प्रवचन-६९

नोट - यह प्रवचन उपलब्ध नहीं है।

ज्येष्ठ कृष्ण १, मंगलवार, दिनांक २४-६-१९७५, श्लोक-५५-५६, प्रवचन-७०

समाधितन्त्र, ५५ गाथा का भावार्थ है।

इन्द्रियों के विषयों में ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जो आत्मा को हितकारी हो... आहाहा! इन्द्रिय का विषय स्त्री, कुटुम्ब, परिवार; देव, गुरु और शास्त्र, ये सब इन्द्रिय के विषय हैं। इन्द्रिय के विषयों में परपना है, स्वपना नहीं उसमें; इसलिए कोई विषय आत्मा को हितकर है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **तथापि अज्ञानी बहिरात्मा,...** जो इन्द्रिय के विषय बाह्य हैं, पर हैं, उनमें **अनादि काल के अविद्या के संस्कार के कारण,...** अपना सुख और शान्ति का ध्येय तो द्रव्य है। सुख और शान्ति की प्राप्ति तो द्रव्य से होती है। स्वद्रव्य से। उसके ध्येय की जिसे खबर नहीं, वह इन्द्रिय के विषयों में अज्ञान से हितकारी हो, ऐसा मानता है। अज्ञानी बहिरात्मा। वह अविद्या के संस्कार हैं। आहाहा! बहुत संक्षिप्त और....

हितकर धर्म को करनेवाले को वह तो स्वद्रव्य का ध्येय चाहिए। जो अणीन्द्रिय है। जिसमें से आनन्द और शान्ति आवे। उस ध्येय को छोड़कर अज्ञानी इन्द्रियों के परपदार्थ के विषयों में अज्ञान के संस्कार से उनमें रति करता है, परपदार्थ में प्रेम करता है। आहाहा! **आसक्त रहता है।** भगवान आनन्द का नाथ (है), उसे वह भूल जाता है। पर्याय का ध्येय द्रव्य चाहिए। सक्रिय परिणाम जो जीव के, उनका ध्येय निष्क्रिय भगवान आत्मा है। समझ में आया? उसके बदले सक्रिय जो परिणाम, वह इन्द्रिय के विषय की ओर झुककर, उसमें से रति, उसमें रति पाते हैं। आहाहा! वह अज्ञान के कारण है। आहाहा!

इन्द्रिय-विषयों का सुख, वह सुख नहीं है;... अर्थात् पाँच इन्द्रिय की ओर के

झुकाव में राग हो, वह सुख नहीं है। आहाहा! **क्योंकि वह पराधीन है,...** परयुक्त बाधासहित है न अन्दर? पराधीन है। पाँच इन्द्रियों की ओर के झुकाव के भाव में सुख नहीं है। वह तो पराधीन है। आहाहा! पराधीन अर्थात् जो सुख की कल्पना तो पर के आधीन है। स्व भगवान आधीन उसमें आया नहीं। आहाहा!

वास्तव में वह दुःख ही है... आहाहा! पाँच इन्द्रियों के विषय के झुकाव में दुःख ही है। ओहोहो! समझ में आया? अणीन्द्रिय की जो पर्याय, उसका विषय जो आत्मा, उसमें सुख है। आहाहा! इन्द्रिय के विषय में सुख तो माना हुआ, कल्पित किया हुआ (है, परन्तु) दुःख है। आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो पाँच इन्द्रिय के विषय के झुकाव में अधर्म की उत्पत्ति होती है। आहाहा! और भगवान पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप, उसके ध्येय से आनन्द होता है। वह वास्तविक सुख और वह वास्तविक शान्ति है। आहाहा!

इस शास्त्र के पठन ऐसा वह कहे। उस ओर का लक्ष्य है, (वह) राग है-दुःख है। आहाहा! लिखने में वह झुकाव जाता है, वह राग है; कहने में जो जाता है, वह भी राग और वह दुःख है। आहाहा! क्या वीतरागमार्ग! वीतरागस्वरूप ही भगवान है। जिनस्वरूपी आत्मा। आहाहा! यह जो करने का था, उसे ध्येय बनाकर आनन्द का अनुभव। आहाहा! धर्म के नाम से भी परसन्मुख के झुकाव में भी प्रसन्न हो जाता है, खुशी हो जाता है। आहाहा! यह अज्ञान है, कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

शास्त्र का पठन, यह विकल्प... वह बारह (अंग) को कहा न भाई विकल्प, नहीं? कलश में। बारह अंग का पढ़ना विकल्प है। आहाहा! उसमें भी अनुभूति की विधि कही है। आहाहा! विहित्तं विधि। आनन्द के नाथ को लगकर जो आनन्द-अनुभूति होती है... आहाहा! ऐसी विधि बारह अंग में कही है। आहाहा! और वह आत्मा के ध्येय, अबन्धस्वभाव को पकड़ने से जो शान्ति और आनन्द आवे, वह जैनशासन है। आहाहा! वह धर्म है, वह जैनशासन है, वह वास्तविक सुख का वेदन है। बाकी तो पाँच इन्द्रिय के झुकाव से... आहाहा! किसका इसे अभिमान? बाहर के पठन का अभिमान, वह मिथ्यात्व के संस्कार हैं। आहाहा! चन्दुभाई! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : चन्दुभाई कहीं बाहर का पढ़े नहीं कि उपाधि हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मस्तिष्क घूम गया था। फिर इसका शोट लिया था, अब उसका असर दिखता है। पूछा था पहले। यह शरीर की ऐसी स्थिति है। आहाहा! अज्ञानी उसमें आसक्त है। आहाहा! परसन्मुख के झुकाव के भाव में आसक्त है, वह दुःखी है। आहाहा! ऐसी व्याख्या और ऐसा स्वरूप ही है। दिगम्बर सन्त वीतराग में आये हुए हैं और वीतरागता की बात करते हैं। आहाहा! इस ओर ढल तो राग है, दुःख है। आहाहा!

इन्द्रिय-विषयों का सुख, वह सुख नहीं है; वास्तव में वह दुःख ही है क्योंकि वह पराधीन है, आकुलतावाला है,... आहाहा! **अस्थिर है, क्षणभंगुर है , विच्छिन्न है,...** नाश हो, ऐसा है। आहाहा! **परिणामतः दुःसह है...** दुःसह है। दुःख को सहन करे, ऐसा वह है। **और बन्ध का कारण है।** आहाहा! एकड़ा है न? प्रवचनसार ७६ की टीका। **तथापि अनादि मिथ्यात्व के संस्कारवश...** आहाहा! देखो, मिथ्यात्व कहाँ तक जाता है! आहाहा! भले (कुदेव) कुगुरु, कुशास्त्र को छोड़ा और मिथ्यात्व गया; सुदेव, सुशास्त्र को पकड़ा, परन्तु उनकी ओर के झुकाव का तो राग है, कहते हैं और उसे दुःख है। आहाहा!

मिथ्यात्व के संस्कारवश अज्ञानी, उनकी रुचि करता है और उनकी प्राप्ति के लिए चिन्ता करके... आहाहा! **रात-दिन उनके पीछे लगा रहता है।** आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक ले गये शास्त्र में भी... लगा रहता है। वह का वह संसार है वह। आहाहा! अमितगति में कहा नहीं है? शास्त्र बात यह... परवस्तु के ओर के झुकाव का होंश और उसमें उल्लसित वीर्य का अटकना... आहाहा! दुःखरूप है। स्वविषय जो अणीन्द्रिय, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, उसे ध्येय में से छोड़कर पाँच इन्द्रिय के विषय की ओर अर्थात् शास्त्र की ओर के झुकाव का... आहाहा! भाव भी दुःखरूप है, वहाँ लगा रहता है। ओहो!

रात-दिन उनके पीछे लगा रहता है। जिसकी जिसे रुचि, उसका वीर्य वहाँ काम किया करता है। रुचि अनुयायी वीर्य। आहाहा! बाह्य पदार्थ की अनुकूलता की महत्ता से महिमा मानना मिथ्यात्व है। ऐसा शास्त्र के पठन के परलक्ष्यी ज्ञान से महिमा मानना,

वह मिथ्यात्व है। आहाहा! यह झुकाव में अन्तर है न, ऐसा कहते हैं। ऐसा है। आहाहा! धर्मी की दशा का झुकाव द्रव्य है, स्व है। उसे छोड़कर परद्रव्य को विषय बनाता है। आहाहा! वह दु:खरूप है। बन्ध का कारण है। आहाहा! 'जिसकी प्राप्ति के लिये चिन्ता करके रात-दिन उसके पीछे लगा रहता है।'

विषय हितकारी / सुखदायी नहीं हैं,... आहाहा! पाँच इन्द्रिय के झुकाववाला ज्ञान, वह वस्तु, वह हितकर नहीं। आहाहा! **सुखदायी नहीं हैं, वे 'अकिञ्चित्कर' हैं।** प्रवचनसार की गाथा (देते हैं)। परयुक्तभाव। उसके बाद। गाथा ६७ का भावार्थ। **संसार में अथवा मोक्ष में आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमता है;...** आहाहा! क्या कहते हैं? संसार में पाँच इन्द्रिय के विषय, वह इसकी कल्पना के सुख को अकिंचित्कर है। यह कल्पना मानता है कि इस स्पर्श में सुख है, इन्द्रिय के स्पर्श करे, सुख है। अच्छे प्रशंसा के शब्द सुने, वह सुख है, निन्दा के सुने तो दु:ख है। आहाहा! यह सब विषय अकिंचित्कर है इसकी कल्पना को। ऐसा कहते हैं। ऐसी कल्पना की है कि मुझे सुख है और इसमें सुख है। उसके विषय हैं अकिंचित्कर। परवस्तु क्या करे? स्वयं ही अपने को भूलकर पर्याय में ऐसे राग-द्वेष के परिणाम खड़े करता है और विषय हैं, इसलिए यह खड़े होते हैं, ऐसा नहीं है।

मोक्ष में आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमता है;... देव, गुरु और शास्त्र मिले, इसलिए सुखरूप परिणमता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सत्समागम मिला, इसलिए सुखरूप होता है आत्मा, ऐसा नहीं है। उस समय भी कल्पना में ऐसा ऐसे भगवान मिले, गुरु मिले, शास्त्र मिले, ऐसी कल्पना। वह चीज़ कहीं इसे कल्पना नहीं कराती। आहाहा! विषय तो इसकी कल्पना में अकिंचित्कर है। आहाहा! विषय के भोगकाल में इन्द्रियों की क्रियायें शरीर की हों, वे क्रियायें इसे सुख की कल्पना कराती है मिथ्यात्व की, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार मौसम्बी और उत्कृष्ट चीज़ कोई मैसूख खाता हो, वह क्रिया होने पर इसे जो राग होता है कि ठीक है। उस राग की कल्पना को वह विषय अकिंचित्कर है। आहाहा! समझ में आया? उसकी प्रशंसा कान में सुनकर और इसे कल्पना हुई कि यह

ठीक। उस भाव को प्रशंसा के शब्द अकिंचित्कर है। चन्दुभाई! आहाहा! इसी प्रकार निन्दा के शब्द सुने और उसे ठीक न लगा, ऐसा जो भाव, उस भाव को निन्दा के शब्द अकिंचित्कर हैं। आहाहा! ऐसा ही सत् का स्वरूप है।

यहाँ समाधि और असमाधि की व्याख्या है न? इसलिए जितना परसन्मुख के झुकाव में जाता है, वह सब असमाधि है, ऐसा कहना है। आहाहा! अर्थात् कि दुःख है। साधु मिले थे न देवचन्दजी वहाँ जामनगर। ऐसा कि आम्बेलो करके... क्या कहलाता है तुम्हारे पार्श्वनाथ? शंखेश्वर। शंखेश्वर। वहाँ आगे आम्बेल की थी। बहुत आनन्द आया। अरे... भाई!

मुमुक्षु : राग हुआ पर का।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग हुआ। देवचन्दजी है न, बेचारे ऐसे आये थे महुवा। खास एक बार। खास। ऐसा वे महाराज महाविदेह से आये हैं, वहाँ सीमन्धर भगवान की दीक्षा की तिथि कौन सी थी, यह खबर नहीं। बहिन को पूछो कहा। बहिन को पूछने आये थे। चन्दुभाई से पूछवाया था। अब वह तिथि का कहे। आहाहा! यह बेचारे देखो न... और वापस यहाँ भटके। यह आम्बेलो करके शंखेश्वर में। क्या कहा? मिठास आती है? रूखे आहार में। मीठा लगता है। आहाहा! वह तो जड़ की पर्याय है। उसे तो जीव स्पर्श ही नहीं करता, स्पर्शता ही नहीं। उस जड़ की पर्याय की तो जीव में नास्ति है। तथापि कल्पना उठाता है कि मुझे ठीक पड़ा यह तपस्या हुई, निर्जरा हुई, धर्म हुआ। आहाहा! मिथ्यात्व संस्कार। यह मिथ्यात्व संस्कार को वे विषय अकिंचित्कर हैं, ऐसा कहना है। उसने (विषयों ने) वह भाव उत्पन्न कराये हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

उसमें विषय 'अकिञ्चित्कर' हैं... यह गाथा है, हों! **अर्थात् कुछ नहीं करते।** आहाहा! स्त्री का शरीर मक्खन जैसा सुन्दर। रंग में रूपवान, स्पर्श में कोमल, स्पर्श में कोमल, गन्ध से सुगन्ध हो। कहते हैं कि उसमें जो इसे प्रेम होता है, उस प्रेम में इसे ठीक लगता है। ऐसी जो सुख की कल्पना, उसे यह विषय अकिंचित्कर हैं। उसे कुछ नहीं करते। आहाहा! समझ में आया?

अज्ञानी, विषयों को सुख का कारण मानकर,... आहाहा! उसमें आता है न

वेद्यवेदक में, नहीं? वेद्यवेदक में आता है न, भाई? धर्मी परपदार्थ को चाहता नहीं। क्योंकि वह परपदार्थ को चाहे, तब वह पदार्थ नहीं है और पदार्थ आता है, तब इच्छा नहीं रहती। ऐसी मेल बिना की कौन भावना करे? वेद्यवेदक में आता है न? २१६ (समयसार) गाथा नहीं? यह प्रश्न पहले हुआ था ९१ में। उमराला में यह भाई ने किया था। दास। पुरुषोत्तमदास। यहाँ आने से पहले। यहाँ आये...

जिसकी इच्छा करे, वह पदार्थ अभी नहीं और जो पदार्थ आवे, तब उस प्रकार की वह इच्छा तो रही नहीं। आहाहा! ऐसी निरर्थक इच्छा कौन करे? आहाहा! जब इसे प्राप्त करने की इच्छा है, तब वह पदार्थ नहीं और पदार्थ आवे, तब वह प्राप्त करने की इच्छा का काल चला गया। वह इच्छा गयी वह तो। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म तत्त्व है, भाई! वीतरागमार्ग को अन्दर पहिचानना, यह अपूर्व बात है। जिसे पहिचान हुई, उसे अब फिर से संसार नहीं मिलता। संसार तो परलक्ष्य के भाव से उत्पन्न हुआ था। समझ में आया? आहाहा!

अपने स्व के लक्ष्य से जो भाव उत्पन्न हो, वह तो संसार नहीं होता, अर्थात् कि उस भाव में संसार का अभाव है। आहाहा! और परलक्ष्य से जो भाव हो, वह संसार है। उसमें मोक्ष के मार्ग का अभाव है। आहाहा! इसलिए कुछ **अज्ञानी, विषयों को सुख का कारण मानकर, व्यर्थ ही उनका अवलम्बन करते हैं।** आहाहा! अवलम्बन करता है अर्थात् कि उसका आश्रय करता है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश इसमें... सब झपट बुलवाते हों पण्डित। व्याख्यान करे। आहाहा! भाई! जिसमें पर के लक्ष्यवाले भाव दुःखरूप हैं। उनमें जिसका उत्साह है, मिथ्यात्वभाव है। यहाँ कहते हैं **अज्ञानी, विषयों को सुख का कारण मानकर, व्यर्थ ही उनका अवलम्बन करते हैं।** आहाहा!

अब प्रवचनसार की गाथा। **जिनको विषयों में रति है,...** आहाहा! विषय शब्द से परसन्मुख के झुकाववाली सब दशायें। आहाहा! **जिनको विषयों में रति है, उनको दुःख स्वाभाविक जानो,...** वह दुःखरूप ही है, स्वाभाविक दुःख है उसका। आहाहा! वह पर्याय का स्वभाव है न? वह तो अपने आ गया नहीं? स्वभाव का आ गया। दुःख का वह स्वभाव है। आया न? किसमें आया? प्रवचनसार में। स्वाभाविक चैतन्य परिणाम रागरूपी स्वाभाविक परिणाम। नहीं आये? किसमें आया? प्रवचनसार। विभाव

को भी स्वभाव कहा। स्वाभाविक परिणाम हैं।

कौन सी गाथा में आया यह? यह अभी वाँचन हुई। १२६। हाँ यह १२६ वह कर्ता-कर्म। कर्ता-कर्म-करण नहीं? चार। **कर्ता था, कारण कि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्य स्वभाव द्वारा...** चैतन्य मलिन चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतन्त्र था। यह कर्ता का पहला बोल है। आहाहा! और फिर **मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा साधकतम था...** आहाहा! और करण में भी, कर्म में। **अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप से परिणमने के कारण...** आहाहा! **आत्मा से प्राप्य था...** वह स्वभाव मेरा स्वभाव। आहाहा! अज्ञानरूपी भाव था।

जिन्हें विषयों में रति है, भगवान त्रिलोकनाथ आनन्द में जिसे प्रेम नहीं, परमात्मा के स्वभाव में जिसे रति और रुचि नहीं। आहाहा! आनन्द का नाथ स्वयं निधान भरा है, उसके प्रति जिसे प्रेम नहीं, रुचि नहीं, ध्येय नहीं, झुकाव नहीं। आहाहा! वह पाँच इन्द्रियों की ओर के झुकाव में रति, उसे दुःख स्वाभाविक जानना। स्वभाव ही उसका दुःखरूप है। आहाहा! अर्थात् स्वभाव ही उसका दुःखरूप है। आहाहा! अर्थात् किसी कारण से दुःख है, ऐसा नहीं। आहाहा! बाहर के विषयों में प्रेम, वह स्वाभाविक दुःख है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! इसे कितना हटना पड़ेगा! आहाहा!

क्योंकि यदि वह दुःख स्वभाव न हो तो विषयार्थ में व्यापार न हो। यदि विषय के कारण इसे बाह्य की ओर का झुकाव न हो। आहाहा! प्रशंसा सुनने की, उसमें इसका झुकाव और प्रसन्नता उस विषय में इसे दुःख है; इसलिए दुःखी वहाँ जंपलावे है। मेरी प्रशंसा कौन करता है? आहाहा! मुझे कौन महिमा करे? मुझे गिनती में कौन गिनता है? आहाहा!

जिन्हें परपदार्थ के प्रति झुकाव में रति है, उन्हें दुःख स्वाभाविक जानना। आहाहा! अर्थात् कि असमाधि है न यहाँ। समाधितन्त्र है न? परलक्ष्य के झुकाव में असमाधि है। आहाहा! चाहे तो भगवान की वाणी सुनने के काल में जो राग आता है, वह असमाधि है, कहते हैं। यदि उसे दुःख स्वाभाविक न हो तो परसन्मुख का व्यापार क्यों न छोड़े? परन्तु वह पर के व्यापार में वर्तता है। आहाहा! दुःखी प्राणी पर की ओर

के व्यापार में प्रवर्तता है। आहाहा!

अज्ञानी, बाह्यइन्द्रिय के विषयों में सुख मानता है,... अज्ञानी बाह्य इन्द्रियों के विषयों में सुख मानता है। **निरन्तर उनके ग्रहण की इच्छा से सदा आकुल-व्याकुल रहता है।** आहाहा! **कितनी ही बार इस आकुलता का दुःख इतना असह्य लगता है कि विषयग्रहण करने के प्रयत्न में (कदाचित्) मृत्यु को प्राप्त करना पड़े,...** आहाहा! परन्तु वह पर की ओर का झुकाव नहीं छोड़ता।

इतना असह्य लगता है कि विषयग्रहण करने के प्रयत्न में (कदाचित्) मृत्यु को प्राप्त करना पड़े, तो भी उसकी दरकार नहीं छोड़ता। आहाहा! यह शरीर को टीबी हो गयी, अब भी विषय में जाने से मृत्यु होगी तुरन्त ही। खबर है। डॉक्टर ने कहा था एक व्यक्ति को। हॉस्पीटल में। रहो और अच्छा हो गया। अब कल उसे जाने की आज्ञा दी। परन्तु जो काम करनेवाली महिला थी, उसके साथ उसे प्रेम हो गया। उसने जाते हुए उसके साथ विषय सेवन किया, देह छूट गयी। आहाहा! विषय का लक्ष्य छोड़ना उसे असह्य लगता है। मृत्यु दिखाई दे तो भी वह उसमें कूदता है, कूद पड़ता है। आहाहा! यह तो स्थूल दृष्टान्त। सूक्ष्मरूप से तो अन्दर में जो राग का रस है और उसे यह छोड़ना चाहता नहीं, इसलिए पर में फिर मृत्यु हो जाये। देह छूट जायेगी। अरे... आज करने का था मुझे, यह किया नहीं। कल करूँगा... कल करूँगा... कल करूँगा... ऐसा करते-करते देह छूट जाती है। आहाहा!

मृत्यु के दुःख से भी, आकुलता का दुःख, अधिक है। यह नुकसान हो फिर देखो न ऐसा होता है न? तब उसे वर्तमान में यह नुकसान हुआ उसकी आकुलता उसे मृत्यु से अधिक लगती है। मृत्यु हो जाये तो छूटेगा यहाँ से। बहुत बनिया मरते हैं, नहीं तुम्हारे अहमदाबाद में नहीं था? कौन कोई था न वह? बाहर में नाम आया था न अहमदाबाद का, नहीं? साराभाई! आहाहा! नुकसान हुआ तो कुछ सहन नहीं हुआ और पैसे थे नहीं। जहर खाया। इसलिए मृत्यु के दुःख से आकुलता का दुःख अधिक लगता है, ऐसे मृत्यु लेकर भी आकुलता गिनता नहीं। मृत्यु की। आहाहा!

यह बहिन अभी देखो न, लालभाई की पुत्र। कहो। कहाँ अब लालभाई के घर

में रही सोलह वर्ष-सत्रह वर्ष। लालभाई कौन? अब उनके घर में पालन-पोषण हुआ। यहाँ करोड़पति को दी। आहाहा! बारह महीने नहीं हुए विवाह को। पानी में जम्पलाव्युं। आहाहा! यह प्रतिकूलता के दुःख के समक्ष उसे मृत्यु सरल लगी।

मुमुक्षु : मृत्यु पसन्द की।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पसन्द की। आहाहा!

मुमुक्षु : दुःख भोगना कठोर लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठोर लगा।

अब यहाँ क्या था, भाई? गाँव में मामा थे। गाँव में उसके भाई थे। उकताकर वहाँ जाते, बापू! मुझे कुछ ठीक नहीं पड़ता। मैं अब यहाँ रहनेवाली हूँ। यह नहीं हुआ। आहाहा! क्या चलता है? क्या होता है जब। आहाहा! वापस वह मुर्दा तब मरकर और तब निकाला लगता है। इसलिए उसकी आँख को कुछ हुआ नहीं और अपने धीरुभाई, रजनीभाई के भाई नहीं धीरुभाई? जामनगर पड़े हैं। चौबीस घण्टे में आँख वह हो गयी थी। मछली खा गये। ऐई! लड़के फिर कॉलेजवाले ने बहुत धूमधाम से फिर उसमें निकाला। ट्रक में निकाला। उसके मित्र हों न सब? फूल के हार और फूल डालकर। बहुत किया था। परन्तु वह तो अकस्मात में पड़ गया था न। वह कहीं फिसल गया था। क्या कहलाती है? काई। काई में ऐसे पैर फिसल गया और तिरना आता नहीं। आहाहा! हम देखने गये थे हों! वह तालाब। दूसरे वर्ष गये थे न? आहाहा! उसे तो अकस्मात से।

परन्तु यह जानकर पड़े, मरे... आहाहा! निरोग शरीर... आहाहा! क्या करते होंगे? आहाहा! उसे वर्तमान आ पड़ी हुई पीड़ा कितनी कठोर लगे! कि मृत्यु के समक्ष उसे कठोर लगे। मृत्यु का सुल्टा। मृत्यु पसन्द पड़े। आहाहा! अफीम खाकर मरते हैं। मरे। यहाँ नहीं किया था एक बार वह पारसी था घोळा में। ४०० (रुपये) वेतनवाला। उस दिन, हों! (संवत्) १९९२ के वर्ष की बात है। हीराभाई का मकान। तब, परन्तु बहुत वर्ष हो गये। ८ और ३१, ३९-४० वर्ष। वहाँ आया था, लो हाथ निकाला। मैंने कहा, भाई! यहाँ हाथ की दुकान नहीं है। यहाँ तो आत्मा को देखने की दुकान है। वह मानो कि कुछ बड़े व्यक्ति हैं तो कुछ कहेंगे इसमें से। आहाहा! वह दो-तीन महीने

सुना। गोली खाकर मर गया। कुछ होगी प्रतिकूलता, चाहे जो हो। धोळा में पारसी। ४०० (रुपये) वेतन। (संवत्) १९९२ का वर्ष। ३९ वर्ष पहले।

मुमुक्षु : उसका पिता राजकोट की म्युनिसिपल्टी में सेक्रेटरी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। आहाहा! परन्तु उसे ४०० का वेतन, उसमें कोई ऐसी प्रतिकूलता लगी कि मृत्यु उसे सरल लगी। वहाँ कोई मौसीबा बैठी है?—कि आओ भाई, वहाँ दुःख से मुक्त है। आहाहा! यह कहाँ कोई वह तो उलझकर, उलझकर एकदम। आहाहा!

मृत्यु के दुःख से भी, आकुलता का दुःख, अधिक है। है न? आहाहा! है अन्दर उसमें। **यदि वह दुःख स्वभाव न हो तो विषयार्थ में व्यापार न हो।** आहाहा! **इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों में वास्तविक सुख नहीं होने पर भी,...** आहाहा! **अनादि अविद्या के संस्कार के कारण, अज्ञानी उनमें रत रहता है।** आहाहा! इस प्रकार के संस्कार से कितने भव करना पड़ेंगे, उसकी इसे खबर नहीं। एक भव की प्रतिकूलता के दुःख को टालने के लिये मृत्यु को सरल करके गया, बापू! वापस अनन्त मृत्यु है तेरे सिर पर। आहाहा!

वह लड़की क्या बेचारी कहाँ मरकर गयी होगी? पशु में गयी होगी। बहुत ऐसा भाव न हो नरक के तो। आहाहा! तिर्यंच-पशु हुई होगी। मैंने तो लालभाई को कहा था। पशु हुई होगी। नरक के तो ऐसे परिणाम नहीं हों। आहाहा! संसार ही ऐसा है, कहते हैं।

श्लोक - ५६

तथा अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सत्येवम्भूता बहिरात्मानो भवन्तीत्याह -

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥ ५६॥

चिरमनादिकालं मूढ़ात्मानो बहिरात्मानः सुषुप्ता अतीव जडतां गतः। केषु? कुयोनिषु नित्यनिगोदादिचतुरशीतिलक्षयोनिष्वधिकरणभूतेषु। कस्मिन् सति ते सुषुप्ताः? तमसि अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सति एवम्भूतास्ते यदि संज्ञिषूत्पद्य कदाचिद्दैववशात् बुध्यन्ते तदा ममाहमिति जाग्रति। केषु? अनात्मीयात्मभूतेषुअनात्मीयेषु परमार्थतोऽनात्मीयभूतेषु पुत्रकलत्रादिषु ममैते इति जाग्रति अध्यवश्यन्ति। अनात्मभूतेषु शरीरादिषु अहमेवैते इति जाग्रति अध्यवश्यन्ति॥५६॥

अनादि मिथ्यात्व के संस्कार के कारण ऐसे (प्रकार के) बहिरात्मा होते हैं, वह कहते हैं —

मोही मुग्ध कुयोनि में, है अनादि से सुप्त।
जागे तो पर को गिने, आत्मा होकर मुग्ध॥ ५६॥

अन्वयार्थ - (मूढात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव, (तमसि) मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के उदयवश (चिरं) अनादि काल से (कुयोनिषु) नित्यनिगोदादि कुयोनियों में (सुषुप्ताः) सो रहे हैं-अतीव जड़ता को प्राप्त हो रहे हैं। यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियों में उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो (अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम्) अनात्मीयभूत स्त्री-पुत्रादि में—'ये मेरे हैं' और अनात्मीयभूत शरीरादिकों में, 'मैं ही इनरूप हूँ' (इति जाग्रति) — ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं।

टीका - चिर काल से-अनादि काल से मूढ़ात्मा अर्थात् बहिरात्मा सो रहे हैं अर्थात् अति जड़ता को प्राप्त हुए हैं। कहाँ (सो रहे हैं)? कुयोनियों में अर्थात् नित्य निगोदादि चौरासी लाख योनियों में। क्या होने से वे उनमें सो रहे हैं ? अन्धकार अर्थात् अनादि मिथ्यात्व के संस्कार (के वश) होकर (सो रहे हैं) — ऐसे होते हुए (सोये हुए) वे (बहिरात्मा) यदि संज्ञी (जीवों में) उत्पन्न होकर कदाचित् अर्थात्

दैववशात् जागृत हों, तो वे 'मेरा-मैं' ऐसा अध्यवसाय करते हैं। किसमें ? अनात्मीयभूत में और अनात्मभूत में — अनात्मीय में अर्थात् वास्तव में अनात्मीयभूत / अपने नहीं — ऐसे पुत्र-स्त्री आदि में 'ये मेरे हैं' — ऐसा मानते हैं अर्थात् ऐसा अध्यवसाय करते हैं और अनात्मभूत जो शरीरादि उनमें—'यह मैं ही हूँ' — ऐसा अध्यवसाय करते हैं — ऐसी विपरीत मान्यता करते हैं।

भावार्थ - अनादि काल से यह अज्ञानी जीव, मिथ्यात्व के संस्कारवश नित्य-निगोदादि निंद्यपर्यायों में-चौरासी लाख योनिस्थानों में-ज्ञान की अत्यन्त हीनदशा में अर्थात् जड़वत मूर्छित अवस्था में पड़ा रहा है। कदाचित् यदि वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याय प्राप्त करे और थोड़ी ज्ञानशक्ति जागृत हो, तो वह अनादि अविद्या के संस्कारों के कारण, स्त्री-पुत्र-मित्रादि जो अपने से प्रत्यक्ष भिन्न हैं अर्थात् 'अनात्मीय' हैं, उनमें 'ये मेरे हैं' — ऐसी ममकारबुद्धि करता है और शरीरादि जो अपना स्वरूप नहीं है, जो 'अनात्म' अर्थात् जड़ है, उसमें 'यह मैं हूँ' — ऐसी आत्मबुद्धि करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

शरीरादि नोकर्म, शुभाशुभ रागादि भावकर्म, और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का आत्मा के साथ संयोगसम्बन्ध है। वास्तव में वे सब आत्मा से भिन्न हैं; आत्मस्वरूप नहीं; इसलिए वे 'अनात्मभूत' हैं तथापि अज्ञानी उनको अपना मानता है।

स्त्री-पुत्र-मित्रादि का, आत्मा के साथ प्रत्यक्ष भिन्न संयोगसम्बन्ध है। वास्तव में वे जीव के अपने नहीं हैं; इसलिए वे 'अनात्मीयभूत' हैं।

अज्ञानी, इन अनात्मभूत और अनात्मीयभूत पदार्थों में ममकारबुद्धि और आत्मबुद्धि करके, अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर, अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है। भव-भ्रमण का मूलकारण, जीव का मिथ्यात्वभाव ही है।

'जो आत्मा, इस प्रकार जीव और पुद्गल के (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्व स्वभाव द्वारा, स्व-पर का विभाग नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मैं हूँ-यह मेरा है' — इस प्रकार मोह से परद्रव्य में अपनेपने का अध्यवसान करता है; अन्य नहीं।[१] '॥५६॥

---

१. श्री प्रवचनसार, गाथा १८३ की टीका

श्लोक - ५६ पर प्रवचन

अनादि मिथ्यात्व के संस्कार के कारण ऐसे (प्रकार के) बहिरात्मा होते हैं, वह कहते हैं — यह अब ५६ में कहते हैं।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥ ५६॥

टीका - चिर काल से-अनादि काल से मूढ़ात्मा अर्थात् बहिरात्मा सो रहे हैं... आहाहा! सो रहे हैं। आत्मा क्या चीज़ है, यह भान ही नहीं। आहाहा! साधु होकर भी देखो न! वहाँ एक बार नहीं? किस गाँव में? बोटाद? वढवाण-वढवाण। वढवाण नहीं स्थानकवासी के साधु? हम गये थे न वहाँ। ९१। दरिया के उपाश्रय में ९१ में व्याख्यान वाँचन करते थे बाहर। धर्मशाला। दो-तीन हजार व्यक्ति। एक साधु कोई था वहाँ कांप में। अकेला रहता था। वह आया था पात्रा देने। महाराज! हमारे पात्रा। अकेला उकता गया होगा। ऐसा उकता गया! पात्रा और कुछ देने आया था। तब वीरजीभाई वहाँ कांप में थे। कुछ आये हुए और वह आये। यह (संवत्) १९९१ की बात है। अभी (सम्प्रदाय) छोड़ा नहीं था तब। ९० की बात है। वह ऐसा उकताया हुआ साधु अकेला। कोई कुछ मान ऐसा प्राप्त नहीं हुआ हो और वेश लेकर भटकता हुआ हमारे पास आया था वहाँ। उसके पास डोरी रखी होगी अच्छी ठीक सी। मीण पिलायी हुई डोरी। वह डोरी बाँधकर लटका। कांप में उपाश्रय है न? उसके पास रहते हैं न सब साधु और आर्जिका। वहाँ। और दरवाजा बन्द करके... खबर पड़ी उन जीवनभाई को और अपने... जीवनभाई। जीवन मूलजी तुम्हारे। यह कहते, हों! कि हमने जहाँ देखा दरवाजा बन्द। ऐसा देखें तो मुर्दा लटके। साधु मुँहपत्ती। आहाहा!

मुमुक्षु : चार-पाँच व्यक्ति इकट्ठे हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। फिर वह किया। दबा दो बात बाहर। बाहर तो पालखी बनाकर। पालखी लेकर जयनन्दा... जयनन्दा... बाहर में ऐसा कहलाये कि इस साधु ने आत्मघात किया है? सेठियाओं की वह (इज्जत) जाये। वे कहते थे। सब दो-चार-

पाँच इकट्ठे हुए। कहे, बोलना नहीं अब बात। उतारकर यहाँ गले में वह पड़ गयी हो न ऐसे, वस्त्र-बस्त्र व्यवस्थित करके। और कोई देखे तो कहेगा यह तो आत्महत्या की है। आहाहा! ऐसे तो अनन्त बार चिन्ता बाहर में मरकर पड़ता है। आहाहा!

चिर काल से-अनादि काल से मूढ़ात्मा अर्थात् बहिरात्मा सो रहे हैं अर्थात् अति जड़ता को प्राप्त हुए हैं। आहाहा! **कहाँ (सो रहे हैं)? कुयोनियों में अर्थात् नित्य निगोदादि चौरासी लाख योनियों में।** आहाहा! नित्यनिगोद। जिसमें से निकलना नहीं अभी। उसमें और उसी में पड़े हैं। आहाहा! **नित्य निगोदादि चौरासी लाख योनियों में।** निगोदादि। **क्या होने से वे उनमें सो रहे हैं ? अन्धकार...** आहाहा! **अर्थात् अनादि मिथ्यात्व के संस्कार (के वश) होकर (सो रहे हैं)...** स्वभाव की खबर नहीं होती और मिथ्यात्व के भाव में पड़े हैं, उसके वश सो रहे हैं। **ऐसे होते हुए (सोये हुए) वे (बहिरात्मा) यदि संज्ञी (जीवों में) उत्पन्न होकर...** संज्ञी में आवे। मनवाले जीव। **अर्थात् दैववशात् जागृत हों,...** उस उघाड़ की अपेक्षा से, हों! **तो वे 'मेरा-मैं' ऐसा अध्यवसाय करते हैं।** आहाहा! जागृत अर्थात् उघाड़ हो, ऐसा। नित्यनिगोद में तो क्षयोपशम है नहीं। ऐसा। यहाँ कुछ उघाड़ हुआ और आया... आहाहा! वहाँ यह बँध जाता है संज्ञी पंचेन्द्रिय में।

और क्षयोपशम में आया, वहाँ **वे 'मेरा-मैं' ऐसा अध्यवसाय करते हैं। किसमें ? अनात्मीयभूत में...** आहाहा! जहाँ उघाड़ हुआ, तब फिर अनात्मीयभूत वस्तु। राग, शरीर, वाणी, मन सब अनात्म। पर सब अनात्म वस्तु। आहाहा! उसमें मेरा—मैं, ऐसी एकत्वबुद्धि करता है। आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, इज्जत, यह सब अनात्म-पर है। उसमें यह मेरा है, ऐसा अध्यवसाय करता है। आहाहा! जो इसमें नहीं, इसके नहीं और इसके होकर रहे नहीं, उसमें यह मेरा है—ऐसा अध्यवसाय अज्ञानी करता है। आहाहा! निगोद में पड़ा है वहाँ तो, कहते हैं, जड़ है, सो रहा है, परन्तु बाहर आया संज्ञी पंचेन्द्रिय... आहाहा! यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री, यह मेरा मकान, यह मेरी इज्जत, यह मेरी पुत्रियाँ और यह मेरे दामाद। आहाहा! यह मेरे समधी और रिश्तेदार। आहाहा!

अनात्मीयभूत... अनात्मभूत में... अनात्मी में अर्थात् ? **वास्तव में अनात्मीयभूत**

अर्थात् अपने नहीं... देखा! **ऐसे पुत्र-स्त्री आदि...** आहाहा! कहाँ इसका पुत्र था? उसका आत्मा भिन्न, उसके रजकण भिन्न। **स्त्री आदि में...** कहे न फिर। इज्जत, मकान, पैसा... आहाहा! यह मेरे पैसे हैं। हमारे पिता छोड़ गये हैं। पाँच लाख, दस लाख। हमारे हैं। हम पहले से श्रीमन्त हैं। गर्भश्रीमन्त। आहाहा! ऐसा अनात्म में... आहाहा! यह तो स्थूल भाषा है परन्तु अनात्मा अर्थात् राग में और पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार... आहाहा! रिश्तेदार हो साले का साला, परन्तु पैसेवाला और इज्जतवाला हो तो कहते हुए इसे हर्ष आता है। हमारे साले के साले को मुम्बई में ऐसा है। परन्तु उसमें तुझे क्या? हमारे साले की बहू मुम्बई में क्या कहलाती है बड़ी? मेयर। लो, मेयर। और पुत्र का पुत्र, उसका कोई साला हो, वह भी विलायत गया हो तो वहाँ से कुछ लेकर आया। पढ़कर आया हो बड़ा होशियार। परन्तु तुझे क्या उसमें? परन्तु कितनी मूर्खाई वेदता है न? आहाहा!

यह मेरे हैं, ऐसा मानता है; इसलिए ऐसा अध्यवसाय करता है। आहाहा! जो उसे कुछ सम्बन्ध नहीं परद्रव्य के साथ। हमको निरोगी शरीर मिला है। मेरा शरीर निरोगी है। सौंठ चोपड़नी पड़ती नहीं। ६० वर्ष हुए।

मुमुक्षु : आप कहते हो ऐसा ही एक व्यक्ति कहता था।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। यह करते हैं न लोग। ८० वर्ष हुए कभी सोंठ चोपड़ी नहीं। रोग आया (नहीं), सिर दुःखा नहीं और अब आया यह अभी एकदम तब निश्चित अब मरण का अवसर लगता है। और ऐसा भी बोले। ऐसा जो दुःख आया एकदम रोग-मरण का लगता है। ऐसा अपने देखा नहीं। आहाहा! यह देखा है, सब सुना हुआ। मूर्खों के कहीं गाँव अलग होते हैं? आहाहा! अरे... किसके बापू! लो!

और अनात्मभूत जो शरीरादि उनमें—'यह मैं ही हूँ'... आया वापस देखो! पुत्र-स्त्री लेकर फिर यहाँ डाला। शरीर, वाणी... आहाहा! मेरा कण्ठ और शरीर ऐसा सुन्दर है कि साधारण व्यक्ति भी आकर्षित हो। अरे... प्रभु! परन्तु कहाँ तेरे? वह तो जड़-मिट्टी है। आहाहा! वाणी ऐसी मीठी निकले। आहाहा! ऐसी वाणी, यह लड़की अभी नहीं थी? उसने कहा था न? जयपुर में है न वह क्या कहलाता है? आदर्शनगर।

मुलतान। सब, बड़ा मन्दिर है। तब लड़की बोली थी। छह-सात हजार लोग। व्याख्यान दिया था तब। वह लड़की वापस यहाँ आयी। पद्म अभी गये थे न टोंक से पद्मपुर। व्याख्यान दिया साढ़े तीन। वहाँ कहा कि... लोग, बहुत लोग वहाँ भी। पूरा हॉल बड़ा भर गया। देखने आये थे वहाँ। और शाम को तो हमारे चले जाना था जयपुर। वह लड़की... हम आहार करते थे। आहार करके जाना था न! वहाँ बोली। ओम हरि ओम। ऐसा करके बोलते हैं न वे? अपने भाई बोलते हैं। तुम्हारे जलगाँववाले। चले गये। नटु-नटु। ओम हरि ओम, ऐसा कुछ बोलते। परन्तु ऐसा वह कण्ठ, वह कण्ठ वाणी का। फिर से उसने सुनाया। था तो वैराग्य का गीत परन्तु ऐसा उसका कण्ठ, वह व्यक्ति एक बार सुनकर ऐसा हो जाये। उसे भी ऐसा हो जाये कि मेरा कण्ठ। परन्तु कण्ठ तो जड़ है। आहाहा!

किसी बाई का नहीं? टोकरी बजाकर नहीं? हाँ, वह। ... उसमें था। टोकरी बजे रणकार की। परन्तु वह तो हो रजकण, उसमें उसका विशेष क्या? कण्ठ का, रजकण का ऐसा बंधाण ऐसा हो वहाँ। वह आवाज ही निकले ऐसे। टोकरी बजे तो झनझनाहट। बाजा-बाजा भी पड़ा रहे। बाजा की आवाज, ऐसी आवाज हो, परन्तु वह तो जड़ की दशा है। उस काल में जड़ का उत्पन्न उस प्रकार का है। उसमें तेरा कहाँ से आ गया? आहाहा! वापस कण्ठ ऐसा अच्छा रखने के लिये रखे सब। सौंप और आता है न कुछ?

दूध साकर ने अेलची, वरियाळी ने द्राक्ष,
जो गायानो खप करे तो पांचे वस्तु राख।

ऐसा आता है। ऐसा सुना हुआ है। आहाहा! अभी वहाँ सुनने आया था तुम्हारा नहीं भावनगरवाला। भावनगर नहीं था? २०० रुपये दिये थे एक घण्टे के।

मुमुक्षु : राजकोट में जयन्तीभाई के भाई थे न, जेठालालभाई थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जेठालालभाई थे। परन्तु उनका कण्ठ तो बहुत बारीक भाईसाहेब। जेठालालभाई सुने थे। व्याख्यान, उनका भाषण। वे गायन बोलते थे। 'पीयावा कांठे' ऐसा यह बोलते थे। फिर क्या भाषा थी। 'पीयावा कांठे पंथ बन्यो छे

आ।' यह व्याख्यान पूरा होने के बाद जेठलाल बोलते थे। कण्ठ इसलिए... ऐसा चरपरा नहीं खाते। घी में तला हुआ खाते। खबर है न। तब आये थे ७७ में। तब कण्ठ बहुत वह था। कहे, मेरे यहाँ महाराज पधारना। मेरे लिये सब्जी बनती है, वह कहता था बेचारा। ७७ की बात है। जेठालाल मोरारजी कैसा? जेठालाल।

मुमुक्षु : भीमजी मोराजी।

पूज्य गुरुदेवश्री : भीमजी मोराजी के भाई। यह तो सब जानते हैं ७७ से। अरे... परन्तु यह तो जड़ के परिणाम हैं, भाई! उसे रखना, रक्षा करना, वह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! वहाँ उलझते हुए सो गये हैं। आत्मा की जागृति की उसे खबर नहीं है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण २, बुधवार, दिनांक २५-६-१९७५, श्लोक-५६-५७, प्रवचन-७१

भावार्थ - अनादि काल से यह अज्ञानी जीव,... ऐसा शब्द प्रयोग किया है न? संस्कृत में ही ऐसा है पहला। **मिथ्यात्व के संस्कारवश...** कर्म के कारण नहीं। विपरीत मान्यता के संस्कार के वश से नित्यनिगोद में कुयोनि में बसा है। **नित्य-निगोदादि निंद्यपर्यायों में**- आहाहा! जिसमें अनन्त काल व्यतीत किया है। निन्द्य दशा जिसे जगत के प्राणी, आत्मा है ऐसा स्वीकार न कर सके, ऐसी स्थिति।

मिथ्यात्व के संस्कारवश... ऐसा लिया है। पाठ ऐसा है न? '**अनात्मीयात्मभूतेषु**' '**चिरं सुषुप्तास्तमसि**' ऐसा शब्द है न? मिथ्यात्व के कारण है। कर्म के कारण है, ऐसा नहीं। गोम्मटसार में ऐसा कहा है प्रचुर कलंक। अपने स्वरूप को भूलकर विपरीत संस्कार मिथ्यात्व के, अज्ञानरूप से उसमें रहा। अनन्त काल तो उसमें रहा। **चौरासी लाख योनिस्थानों में-ज्ञान की अत्यन्त हीनदशा में अर्थात् जड़वत मूर्छित अवस्था में पड़ा रहा है।** आहाहा! एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। कुछ खबर नहीं होती। आहाहा! अनन्त काल कैसे गया-व्यतीत हुआ, इसकी उसे खबर नहीं होती। खबर नहीं, इसलिए नहीं हो—ऐसा कौन कहे? यह तो बहुत बार कहा जाता है न? जन्म के पश्चात्, छह महीने और बारह महीने में इसी भव में क्या हुआ, इसे याद है? याद नहीं, इसलिए नहीं था—ऐसा कौन कहे? छह महीने जन्मने के बाद बालक अवस्था में...

मुमुक्षु : गत कल का आज याद नहीं....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो छह महीने की स्थिति, बारह महीने की स्थिति। क्या खाया? क्या माँ ने दूध पिलाया या कुछ खबर है? वह था या नहीं? था तो भी याद नहीं, इसलिए नहीं था—ऐसा कौन कहे? आहाहा! अरे... अनादि मिथ्यात्व संस्कार में कुयोनि में इसके अनन्त भव गये। आहाहा! इसे याद नहीं आता, इसलिए नहीं था—ऐसा कैसे कहा जाये?

कहते हैं, **ज्ञान की अत्यन्त हीनदशा में...** आहाहा! अक्षर के अनन्तवें भाग में

निगोद की दशा रह गयी। शक्तिरूप से भले सत् केवलज्ञानादि पूर्ण है। परन्तु पर्याय में हीनदशा इतनी अधिक हो गयी कि इसे खबर ही नहीं। आहाहा! **अर्थात् जड़वत मूर्छित अवस्था में पड़ा रहा है।** आहाहा! कौन वहाँ मान और कहाँ वहाँ अपमान कुछ है नहीं। आहाहा!

कदाचित् यदि वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याय प्राप्त करे और थोड़ी ज्ञानशक्ति जागृत हो,... जागृति का अर्थ तो दृश्यति किया है इन्होंने। जागृति किया है न? '**ममाहमिति जाग्रति**' मेरा ऐसा यह मानता है। ऐसा अर्थ किया है। जागृति अर्थात् क्षयोपशम हुआ है, ऐसा अर्थ नहीं। है न संस्कृत? '**अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति**' जागृति अर्थात् कि अध्यवसाय करता है, ऐसा। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानशक्ति जागृत हो, तो वह अनादि अविद्या के संस्कारों के कारण, स्त्री-पुत्र-मित्रादि जो अपने से प्रत्यक्ष भिन्न हैं... कुछ लेना-देना सम्बन्ध नहीं। क्या कहा?

मुमुक्षु : घर सम्हाल दे, रांध दे...

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... पैर दबावे आकर वह आठ हजार के वेतनवाला। पैर, पैर भी आत्मा नहीं न! कान्तिभाई! आहाहा! किसकी स्त्री? किसका लड़का? आहाहा! किसका लड़का और किसका बछरा, किसके माँ और बाप? अन्त काल में जाना अकेला साथ में पुण्य और पाप। आता है या नहीं? आहाहा! भजन में आता है। यह अभी गाया था वहाँ। वह भावनगरवाला नहीं तुम्हारा? डेढ़ घण्टे के पन्द्रह सौ लिये थे। यह वहाँ हमने हिम्मतभाई के घर में आहार किया न, पाँच मिनिट के रास्ते में है न वह?

मुमुक्षु : सांताक्रुज।

पूज्य गुरुदेवश्री : सांताक्रुज। और वहाँ रास्ता है न, वह क्या कहलाता है तुम्हारे? प्लेन का। नजदीक सही न! गाँव में से जाये तो बीस मिनिट हो। और खाने की देरी हो जाये। वहाँ आहार पहले आया था। दो भजन बोला था, वही व्यक्ति। परन्तु वह तो कण्ठ। उसमें वैराग्य का कुछ नहीं होता। श्वेताम्बर है। घण्टे, डेढ़ घण्टे के डेढ़ हजार लिये थे तुम्हारे पंच कल्याणक में। आहाहा! वह यह गाया था। 'कोना मन्दिर ने

कोना माळिया अेमा सोड ताणीने सूतो, काढो रे काढो अेने सौ कहे।' जादवजीभाई! मानो जन्मा ही नहीं था। आया ही नहीं वहाँ। निकालो निकालो झट।

मुमुक्षु : दो-चार पीढी जाये तो एकदम भूल जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... हो गया यह तो आया था कि नहीं था यह। यह उसमें है वह? हाँ यह। लो यह।

'ऊँचा मन्दिर ने माळिया सोड ताळीने सूतो,
काढो काढो अेने सौ कहे जाणे जन्म्यो ज नहोतो।
एक रे दिवस अेवो आवशे मन...

क्या है यह? क्या है यह? सज्झाय? ... वह है? अहमदाबाद का। 'साल सोनाना रे सांकळा पहेरण नवा नवा वाघा।' मखमल के वस्त्र, मखमल के, आहाहा! अभी तो और बाल रखे हैं बड़े। ग्वाले जैसे। ऐसे के ऐसे और यहाँ से यहाँ तक। ग्वाले रखते थे ग्वाले पहले, यहाँ से यहाँ। अब बनिया रखते हैं। यहाँ से यहाँ और ऐसे। छोड़ बड़े बाल। बाल। आहाहा! वह साईं बाबा रखता था। अखबार पढ़ता था न वह! इसलिए यह सब लड़के रखते हैं। आहाहा! है न? कुर्ता नया-नया पहनावा। सफेद वस्त्र उसके कर्म का। यह तो बाहर की बातें हैं। वह तो शोधने लगे। यह तो कर्म-बर्म कहाँ गये? वह वतो चला गया अब उसे कहाँ! आहाहा!

'चरु कडाईया अति घणां बीजानुं न लेखुं, खोखरी हांडी अेना कर्मनी।' उसे क्या चाहिए वह तो गया। यह तो बातें वैराग्य की बातें। आहाहा! किसका लड़का और किसके... सगी नारी रे तारी कामिनी ऊभी टकटक जोवे। उसका भी कुछ चले नहीं। बैठकर सुबक-सुबक कर रोवे। प्रिय वह प्रिय क्या करो? प्रिय विदा करके आयेंगे। प्रिय विदा करके आयेंगे। परन्तु वह तो गया। मुर्दे को। वह तो गया। घर में अर्थी निकालते हुए छूने न दे। अर्थी निकालते हुए उस दरवाजे को क्या कहलाता है? दरवाजे का होता है न। चोखट... चोखट छूने न दे। ऐसा है।

'व्हाला वनमां लाकडा...' उसके साथ क्या? वह तो गया अब। वह तो है ही नहीं। 'नहि त्रापो ने कांई तुमडी, नथी तरवानो आरो।' चौरासी में जाये कहीं तिरना

नहीं। अवतार और आवास कुछ नहीं। आहाहा! एकेन्द्रिय में, दो इन्द्रिय में, बाघ में, भालू में, कुछ जंगल में अवतरित होगा। आहाहा! यहाँ यही कहते हैं।

अनादि अविद्या के संस्कारों के कारण, स्त्री-पुत्र-मित्रादि जो अपने से प्रत्यक्ष भिन्न हैं अर्थात् 'अनात्मीय' हैं,... आहाहा! वह यह आत्मा नहीं। वह तो परचीज़ उसके कारण से आयी और उसके कारण से खड़ी रही। और उसके कारण से उसमें वह परिणम रही है। आहाहा! **उनमें 'ये मेरे हैं'—ऐसी ममकारबुद्धि करता है...** आहाहा! यह मिथ्यात्वभाव है। जो चीज़ पर है, पररूप से टिककर बदल रही है, अपने में—पर्याय में आयी नहीं, उसे मेरा मानकर ममकार से मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा!

ऐसी ममकारबुद्धि करता है और शरीरादि जो अपना स्वरूप नहीं है,... यहाँ लाये अब। शरीर, वाणी का अस्तित्व, वह आत्मा का नहीं। **जो 'अनात्म' अर्थात् जड़ है, उसमें 'यह मैं हूँ'...** मैं रूपवान हूँ, मैं सुन्दर हूँ, जवान हूँ, वृद्ध हूँ, मेरा शरीर खोखला हो गया है, जीर्ण हो गया है, मजबूत है, दृढ़ है। आहाहा! ऐसी ममता में **ऐसी आत्मबुद्धि करता है।** आहाहा!

विशेष - शरीरादि नोकर्म, शुभाशुभ रागादि भावकर्म,... लो! **और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का आत्मा के साथ संयोगसम्बन्ध है।** संयोग अर्थात् पररूप से वह सम्बन्ध है। स्वरूप से सम्बन्ध नहीं उसका। आहाहा! **वास्तव में वे सब आत्मा से भिन्न हैं;...** यह रागादि भी डाले न फिर। संयोगी भाव है न रागादि? आहाहा! **आत्मस्वरूप नहीं...** शरीर, कर्म और दया, दान के विकल्प या काम-क्रोध के भाव, वे आत्मस्वरूप नहीं हैं, परस्वरूप हैं। उन्हें अपने मानता है। वह मिथ्यात्व के संस्कार हैं। आहाहा!

इसलिए वे 'अनात्मभूत' हैं... आत्मा नहीं। आहाहा! **तथापि अज्ञानी उनको अपना मानता है।** आहाहा! अरे... शास्त्रज्ञान जो है, वह भी अपना ज्ञान नहीं। अहितकर है। आहाहा! समझ में आया? परलक्ष्यी ज्ञान, वह कहीं आत्मज्ञान नहीं। अपना नहीं। अपना हो तो भिन्न कैसे पड़े? वह भिन्न पड़ जाता है। एकेन्द्रिय में से आवे। नौ पूर्व प्राप्त करे, लो! मुनि हो मिथ्यादृष्टि। वापस एकेन्द्रिय में जाये। आहाहा! यह शाश्वत् चीज़ है,

ध्रुव ज्ञानस्वरूप है। वह ध्रुव ज्ञानगुण है, उसमें से पर्याय आवे, वह उसका ज्ञान है। उसे अपना न जानकर यह अज्ञान है, उसे अपना जानता है। आहाहा! **अज्ञानी उनको अपना मानता है।**

स्त्री-पुत्र-मित्रादि का, आत्मा के साथ प्रत्यक्ष भिन्न... अच्छे मित्र अनुकूल मिले और बैठे हों पाँच इकट्ठे होकर। और देखो तुम्हारे। आहाहा! एक-दूसरे की मजाक और एक-दूसरे मेरेपन की प्रियपन की बातें। मेरेपन की प्रियपन की बातें। बातें, हों! आहाहा! कहाँ का तू? कहाँ का वह? अरे उससे क्या सम्बन्ध? **स्त्री-पुत्र-मित्रादि...** सगे-सम्बन्धी। पुत्र के ससुर, पुत्र की बहू, वह सब... आहाहा! कहीं कुछ भी सम्बन्ध नहीं उसे। परन्तु उसके सम्बन्ध में ऐसा मानता है कि ये मेरे हैं... ये मेरे हैं...

प्रत्यक्ष भिन्न संयोगसम्बन्ध है। वास्तव में वे जीव के अपने नहीं हैं;... वास्तव में इस जीव में वह कोई चीज़ ही नहीं है। आहाहा! **इसलिए वे 'अनात्मीयभूत' हैं।** यह आत्मा नहीं, इसलिए वह अनात्मभूत है, ऐसा कहना है। कलश में आता है न? जीव अधिकार नहीं? आत्म-अनात्म। भगवान भी अनात्मा है। यह आत्मा नहीं, इसलिए अनात्मा है। आहाहा!

अज्ञानी, इन अनात्मभूत और अनात्मीयभूत पदार्थों में ममकारबुद्धि और आत्मबुद्धि करके,... आहाहा! यह स्त्री मेरी, यह पुत्र मेरा। कहाँ था परन्तु तेरा? उसका। उसका आत्मा है, वह तेरा कहाँ से हो गया? किसके पिता और किसका पुत्र? आहाहा! कैसा है दामोदरभाई! आहाहा! भाई आये नहीं? आहाहा! यह संसार के जंजाल में फँस गया है। उसे कुछ लेना-देना न हो। पाँच-पच्चीस वर्ष के साथ सम्बन्ध में मानो हम एक हैं। भाई एक हैं। डण्डा मारने से कहीं पानी पृथक् पड़ता है, भाई? इसी प्रकार भाई, वे भाई हैं।

मुमुक्षु : एक-एक परमाणु भिन्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा डण्डा मारे, वहाँ पानी वापस इकट्ठा हो जाये। आहाहा! ऐसा लोग कहते हैं न? भाई-भाई डण्डा मारने से पानी अलग होगा? भाई तो हम एक हैं। आहाहा!

वह राम बोले थे न? लक्ष्मण को जब था न वह विद्या रावण की। लक्ष्मण को रावण की शक्ति लगी थी न जब? लक्ष्मण असाध्य हो गये थे। सीताजी को वहाँ ले गये थे अकेले (हरण हो गया था)। भाई मरे। ऐसा आता है अन्दर। 'भाई मरे भव हारीये, बहिनी मरे दिश जाये।' दिशा जाये। जहाँ बहिन हो वहाँ फिर मर जाये, फिर उसकी ओर लड़के का रहे नहीं कुछ। लड़का-लड़की न हो भानेज-बानेज। ऐसा आता है उसमें। उस दुकान पर सब बोलते थे। 'भाई मरे रे भव हारीये।' भाई मरे उसमें भव हारा कहाँ से? 'बहिनी मरे दिश जाये, नानपना मां जेनी मा मरे अेने चारेय दिशाना वा वाय।' ऐसा दुकान पर गाते थे। सामायिक करके बैठे, प्रतिक्रमण। फिर फुरसत होकर ऐसा गाते थे। आहाहा!

कहाँ चले गये कुँवरजीभाई और कहाँ चले गये शिवलालभाई! बेचारे भाई कहाँ के कहाँ! दुकान में इकट्ठे थे। आहाहा! खुशालभाई कहाँ गये, लो! यह खुशालभाई का विकल्प आया था, कहा था न भाई अभी? तब। यह उसमें गये न जलगाँव। राजकोट का मुंशी गृहस्थ बड़ा हों! नागर जैसा। नागर का देखो शरीर और गृहस्थ और पैसेवाला। बड़ा धन्धा होगा। राजकोट, वहाँ बड़ी दुकान है। हमारा स्वागत निकला, उसमें तो वह रोने ही लगा। हमको खबर नहीं, हों! वह तो फिर पत्र लिखा। रोने ही लगा। और फिर जब मोटर से उतरता, लम्बा था इसलिए मोटर में आया। वहाँ भी रोने लगा। फिर रो कर अन्दर आँसू पोंछने गया। कागज लिखा, महाराज! आपको देखकर हमें बहुत रुदन आया। क्या है यह? अपशकुन हुआ या? उसे बेचारे को।

कहा भाई! कितने वर्ष हुए तुझे? आया। पत्र लेकर आया, हों! फिर पत्र दिया और फिर आया। १०१ रुपये लेकर आया। १०१ रखे। गृहस्थ व्यक्ति है। भाई! तुझे कितने वर्ष हुए? ३५। कहा, हमारे एक खुशालभाई मरकर मनुष्य हुए हैं कहीं। तब उस समय याद आया था। परन्तु हमको याद है, हमारे खुशालभाई को ३८ वर्ष हुए।

मुमुक्षु : यह तो अन्तर....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अन्तर चाहे जिस कारण से, परन्तु उसे रोना ही आवे। रूपवान नागर का लड़का। रोने ही लगा। ऐसा रोवे... ऐसा रोवे... कि दुकान पर न जा

सका मैं, कहे। अन्दर घुस गया। और वापस मोटर से उतरते ही। कहा, भाई! कुछ उलझन में नहीं आना हो! वह तो अच्छे शकुन। तुझे सत्समागम में रुदन आया। १०१ रुपये लेकर आया बेचारा। वापस यहाँ आया था जामनगर। उसने १०१ रुपये दिये जामनगर (में) मन्दिर खाते। उद्घाटन किया न! पैसेवाला व्यक्ति। ऐसे कहाँ अवतार किसके कहाँ जाकर आवे। आहाहा! किसे कोई सम्बन्ध है कुछ? आहाहा!

कहते हैं, **अज्ञानी, इन अनात्मभूत और अनात्मीयभूत पदार्थों में ममकारबुद्धि और आत्मबुद्धि करके, अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर,...** ओहोहो! जिसका स्वभाव नित्य ज्ञान और आनन्द। आहाहा! एक सवेरे की बात याद हो गयी थी कि वह निमित्त-नैमित्तिक की पर्याय कही न, भाई! परन्तु ज्ञान की पर्याय लोकालोक को निमित्त। परन्तु लोकालोक की पर्याय अकेली निमित्त नहीं केवलज्ञान में। यह बात हो गयी थी पहले। प्रवचनसार में आता है न! ऐसा कि ज्ञान में वर्तमान निमित्त है न वह? भूत-भविष्य नहीं वह। भूत-भविष्य तो अभी है नहीं। वह वर्तमान में ही उसकी पर्याय और द्रव्य-गुण तीनों वर्तमान में पूरा है, वह यहाँ ज्ञान को निमित्त है। केवलज्ञान में। यह वहाँ इतनी बात में अन्तर है।

केवलज्ञान की पर्याय उसे निमित्त, गुण और द्रव्य नहीं। परन्तु केवलज्ञान की पर्याय में लोकालोक की पर्याय, द्रव्य, गुण वह निमित्त है, ऐसा पारस्परिक। समझ में आया? भाई! यह बात कही थी तब, नहीं? चेतनजी! की थी न उस समय। यह घूमते हुए की थी न तुमको? भूल गये? लो, हो गया, लो! अपने घूमते नहीं थे आहार करने से पहले अन्दर?

मुमुक्षु : आज की बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : आज की अभी बात की थी तुमको कितनी बार। लोकालोक की पर्याय, द्रव्य और गुण वह केवलज्ञान में निमित्त है। देखो, भूल गये। यह आहार से पहले यहाँ से गये न तब।

मुमुक्षु : परस्पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : परस्पर नहीं।

केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक को निमित्त, परन्तु केवलज्ञान की पर्याय को लोकालोक की पर्याय, द्रव्य और गुण निमित्त। केवलज्ञान(का) गुण और द्रव्य निमित्त नहीं, ऐसा। ऐसा कहना है। क्योंकि केवलज्ञान में वर्तमान उसे निमित्त। तब वर्तमान में पूरा हो तब निमित्त हुआ न? यह तो उस गाथा में आया था न चित्राम शिलालेख? चौबीस तीर्थंकर का... उसमें कहा था, यह बात हुई थी कि भूत-भविष्य का उसे वर्तमान में निमित्त होना चाहिए न? केवलज्ञान की पर्याय में पूरी चीज़ की वर्तमान निमित्त होना चाहिए न? भूत, भविष्य का नहीं परन्तु वर्तमान में उसका अन्दर (योग्यता) है, वह निमित्त है।

मुमुक्षु : उसमें रहा हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रहा हुआ। आहाहा! समझ में आया? चन्दुभाई को कहा था फिर। फिर आहार करने के बाद। यह वह जरा सी बात रही थी। सबमें पर्याय। आहाहा!

अवगाहनगुण की पर्याय, वह सब अनन्त पदार्थ को वर्तमान निमित्त हो सके अवगाहनरूप से। एक साथ। उसका गुण नहीं। भाषा तो ऐसी ही आवे न! परन्तु केवलज्ञान की पर्याय में (सामनेवाले के) द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आते हैं। वर्तमान पूरा आवे। समझ में आया? जिस प्रकार से इसका न्याय हो, ऐसा जानना चाहिए न? आहाहा! श्रुतज्ञान में भी ऐसा है। श्रुतज्ञान परोक्ष है तो भी सब जानता है न? सब जानता है अर्थात् वर्तमान ज्ञान की पर्याय की निमित्तता पर को। और पर उसे सब निमित्त है। जितना उसका विषय है उतना पूरा। नहीं कहा? मतिज्ञान ... स्वरूप पर्यायदर्श। द्रव्य सब (परन्तु) पर्याय सर्व नहीं। इतना आता है। तत्त्वार्थसूत्र में, भाई! अस्वरूप पर्याय। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सर्व द्रव्य परन्तु असर्व पर्याय। सब पर्याय नहीं, ऐसा वहाँ आता है और केवलज्ञान में सब। एक समय में वर्तमान ऐसा। आहाहा! तथापि एक-दूसरे को कुछ सम्बन्ध नहीं (कि) यह लोकालोक इसका है और यह इसका है... (ऐसा नहीं)। आहाहा! समझ में आया?

अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है। आहाहा! अपनी जाति जो ज्ञानस्वरूप

भगवान, वह तो जानने-देखने के कार्यवाला भगवान है। इसके अतिरिक्त उसे उल्लंघकर दूसरी चीज़ उसकी मानना अज्ञान है। आहाहा! **भव-भ्रमण का मूलकारण, जीव का मिथ्यात्वभाव ही है।** कर्म है, ऐसा नहीं लिया, देखा! आहाहा! स्वरूप की जो सामर्थ्यता है, उसके विरुद्ध की मान्यता है। मिथ्यात्व, वही संसार का कारण और भूल का कारण है। आहाहा! **भव-भ्रमण का मूलकारण, जीव का मिथ्यात्वभाव ही है।**

श्रीमद् ने कहा न? सन्तों की यह शिक्षा है कि तू तेरी भूल से भटकता है। पहली शिक्षा यह है। अब यह कहे कि कर्म की भूल... कर्म की भूल... अब सब यह सीखे, लो! आहाहा! गृहस्थाश्रम में रहे हुए समकिती ऐसा कहे, सन्तों की पहली यह शिक्षा है कि तेरी भूल से तू भटकता है। वह भूल कौन सी? कि अपने को पर का मानना और पर को अपना मानना। अपने को पर मानना और पर को अपना। आहाहा! यह तेरी भूल। यह कर्म के कारण भूल, ऐसा नहीं। वह कर्म तो परद्रव्य है। आहाहा!

एक गोम्मटसार की गाथा है न, भाई! समकिती इन्द्रियों से निवृत्त नहीं। इन्द्रिय से अविरत। गाथा है न पूरी। नौ इन्द्रिय अविरहित—पूरा श्लोक है। उसमें तो दूसरा कहना है कि सम्यग्दर्शन होने पर भी, इन्द्रिय के विषयों से निवृत्त नहीं, छूटा नहीं, इतना अभी भाव है। चारित्रदोष का स्वभाव है। यह तो उस दुःख के ऊपर का, सेठिया के ऊपर का लक्ष्य गया था। गाथा है कहीं। नीचे दी है न अपने नोइन्द्रिय... कहीं पुस्तक में दी है।

इन्द्रिय के विषयों से समकिती निवृत्त नहीं। वह तो चारित्र हो तो निवृत्त हो। आहाहा! तब इसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्रियों के विषयों के भाववाला है तो उतना दुःख है। यह श्लोक है कहीं। भाई! खबर है? गोम्मटसार की गाथा है। कहीं अपने नीचे दी है कहीं। बहुत ग्रन्थों का कहीं याद रहता है? परन्तु भाव लक्ष्य में रहते हैं। इन्द्रिय के विषय से निवृत्त नहीं हुआ, इसलिए अन्याय के विषय को सेवन करता है, ऐसा नहीं। क्योंकि आत्मभान हुआ, परन्तु अभी इन्द्रिय के विषय की आसक्ति का जो राग, वह गया नहीं। वह यदि जाये तो चारित्र हो जाये। समझ में आया? यह श्लोक निकालना बाद में कहीं से। अपने कहीं नीचे दिया अवश्य है इस ओर। पुस्तक में नहीं। नोइन्द्रियो... फिर दूसरे तीन पद हैं। गोम्मटसार के हैं।

यहाँ तो दूसरा कहना था कि सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रिय के विषयों से निवृत्त नहीं, तथापि विषय का सम्बन्ध होने पर भी, उस सम्बन्ध से पृथक् अपने को जानता है। स्वामित्व नहीं है अर्थात् कि उसका कर्ताकर्म नहीं है। आहाहा! और वह अज्ञानी बाहर से विषय छोड़े हैं। स्त्री, कुटुम्ब आदि (छोड़े हैं) परन्तु अन्दर में राग है और विषय विकार है, वह मेरे हैं, ऐसी मान्यता में वह विषयों के राग को अपना मानता है और उसमें सुख है, ऐसा वह मानता है और ज्ञानी को विषयों का भाव निवृत्त नहीं हुआ, परन्तु उसे दुःखभाव मानता है। यहाँ तो यह ले लेना है।

सम्यग्दृष्टि को दुःख है। इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त नहीं, इतने विषय का भाव दुःख है। परन्तु उसके साथ 'मेरे हैं' ऐसा भाव नहीं है। आहाहा! भावकर्म कहा न वह? विषय का भाव, वह भावकर्म है। वह भी मेरी चीज़ नहीं है। उसका स्वामी नहीं, तथापि छूटे नहीं हैं। आहाहा! दृष्टि से छूटे हैं, स्थिरता से छूटे नहीं अभी। आहाहा! समझ में आया? यह तो दो विचार वे आये थे। लोकालोक को वह और एक यह नोइन्द्रियाँ... आया था कहीं, मस्तिष्क में आ गया था।

अज्ञानी की विषय का भाव और विषय की सामग्री—यह सब मेरी है, ऐसा मानता है। वह मिथ्यात्व के संस्कार के कारण है। और सम्यग्दर्शन में विषयों की निमित्तता है, उसे और उसका भाव भी है, परन्तु उसका स्वामी नहीं। पृथक् मानता है। आहाहा! परन्तु तब ऐसा कहते हैं कि पृथक् मानता है, तो भी उसमें किसलिए करता है? परन्तु करता नहीं, यह आता है, वह चारित्र का दोष है। आहाहा! कर्तव्यरूप से है और करनेयोग्य है, ऐसा नहीं। आहाहा! बहुत अन्तर। सत्य की शरण में जाना और वापस थोड़ा असत्य रहना... आहाहा! रहे सही, परन्तु एकत्वबुद्धि से नहीं रहता। विषय, वासना है, वह सब असत्य है न! सत्य की अपेक्षा से। आहाहा!

भव-भ्रमण का मूलकारण, जीव का मिथ्यात्वभाव ही है। भाव ही है। एकान्त कर डाला नहीं? कर्म भी कथंचित् है, ऐसा कहना चाहिए न? कथंचित् मिथ्यात्व और कथंचित् कर्म। ऐई... चन्दुभाई! चन्दुभाई! यह एकान्त, मिथ्यात्व ही है? यही अनेकान्त है। पर से नहीं और एकान्त, मिथ्यात्व है, वही अनेकान्त है। आहाहा!

जो आत्मा, इस प्रकार जीव और पुद्गल के (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्व स्वभाव... जीव का चैतन्यस्वभाव और पुद्गल का अचेतनस्वभाव उस **द्वारा, स्व-पर का विभाग नहीं देखता,...** आहाहा! इस प्रकार स्व और पर की भिन्नता देखता नहीं, विवेक नहीं। आहाहा! स्व और पर की भिन्नता का जिसे विवेक नहीं। **वही आत्मा 'यह मैं हूँ-यह मेरा है'—इस प्रकार मोह से परद्रव्य में अपनेपने का अध्यवसान करता है;...** यह '**जागृति**' का अर्थ किया। '**जागृति**' है न? '**ममाहमिति जागृति**' जागता है अर्थात् एकत्वबुद्धि करता है, ऐसा। आहाहा!

ऐसा कि एकेन्द्रिय में इतना क्षयोपशम नहीं। यहाँ क्षयोपशम हुआ, यहाँ क्षयोपशम हुआ, वह भी क्षयोपशम हुआ, इसलिए इसे स्त्री, पुत्र का संयोग हुआ, उसे यह मानता है, यह अध्यवसाय एकत्व है, ऐसा। उघाड़ हुआ इसलिए मानता है, ऐसा नहीं है। उघाड़ है, ऐसे यह मेरे हैं, ऐसा मानता है, वह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। समझ में आया? तब तो सब बाबा हो, तब अकेला माना जाये। बाबा ही है। श्रद्धा में राग और परचीज़ मेरी नहीं, ऐसी दृष्टि में बाबा हुए बिना, पर का सम्बन्ध मेरा है, ऐसा माने बिना रहता नहीं। आहाहा!

अपना **मोह से परद्रव्य में अपनेपने का अध्यवसान करता है; अन्य नहीं।** एकड़ा है न यह? आधार दिया है।

पर अरु स्व को नहीं जानता, इस रीति पाकर स्वभाव को,
वह 'यह, यह मैं यह मुझ' ऐसे अध्यवसान मोह से करे... (१८३) (प्रवचनसार)

लो, १८३। अच्छा अर्थ किया है छोटाभाई ने।

श्लोक - ५७

ततो बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य स्वपरशरीरमित्थं पश्येदित्याह -

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वं व्यवस्थितः ॥ ५७ ॥

आत्मनो देहमात्मसम्बन्धिशरीरं अनात्मचेतसा इदं ममात्मा न भवतीति बुद्धया अन्तरात्मा पश्येत्। निरन्तरं सर्वदा। तथा अन्येषां देहं परेषामात्मा न भवतीति बुद्धया पश्येत्। किं विशिष्टा: ? आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः आत्मस्वरूपनिष्ठः ॥५७॥

इसलिए बहिरात्मस्वरूप का त्याग करके, स्व-पर के शरीर को किस प्रकार देखना, वह कहते हैं —

हो सुव्यवस्थित आत्म में, निज काया जड़ जान।
पर काया में भी करे, जड़ की ही पहिचान॥ ५७॥

अन्वयार्थ - अन्तरात्मा को चाहिए कि (आत्मतत्त्वं) अपने आत्मस्वरूप में (व्यवस्थितः) स्थित होकर, (आत्मनः देहं) अपने शरीर को (अनात्मचेतसा) 'यह शरीर, मेरा आत्मा नहीं'—ऐसी अनात्मबुद्धि से (निरन्तरं पश्येत्) सदा देखे-अनुभव करे और (अन्येषां) दूसरे प्राणियों के शरीर को (अपरात्मधिया) 'यह शरीर, पर का आत्मा नहीं'—ऐसी अनात्मबुद्धि से (पश्येत्) सदा अवलोकन करे।

टीका - अपने शरीर को अर्थात् आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शरीर को; 'अनात्मबुद्धि' से अर्थात् 'यह मेरा आत्मा नहीं है'—ऐसी बुद्धि से अन्तरात्मा को निरन्तर -सर्वदा देखना (अनुभवना) तथा अन्य के देह को 'यह पर का आत्मा नहीं है'—ऐसी बुद्धि से देखना। कैसा होकर (वैसा करना) ? आत्मतत्त्व में व्यवस्थित होकर अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित होकर (वैसा करना)॥५७॥

भावार्थ - ज्ञानियों को आत्मस्वरूप में स्थित होकर, अपने शरीर को अनात्मबुद्धि से निरन्तर देखना-अनुभवना अर्थात् 'यह शरीर मेरा नहीं'—ऐसी भेदबुद्धि से सदा जानना। अन्य के शरीर को भी वैसी भेदबुद्धि से देखना अर्थात् अन्य का शरीर, वह उसका आत्मा नहीं है—ऐसी भेदबुद्धि से सदा देखना।

विशेष स्पष्टीकरण -

आचार्य उपदेशरूप से कहते हैं: — 'हे जीव! तू अनादि से शरीरादि बाह्यपदार्थों में आत्मबुद्धि करके, संसार में परिभ्रमण कर दुःखी हुआ है परन्तु अब सुखी होना हो तो देह में आत्मबुद्धि का त्याग करके, आत्मस्वरूप में स्थिर हो अर्थात् बहिरात्मपना छोड़कर, अब अन्तरात्मा बन! तेरा आत्मा चैतन्यस्वरूप है और तेरा शरीर तो अचेतन है। वह तेरा स्वरूप नहीं है तो भी तू उसको अपना आत्मा मानता है और मानता है कि मैं उसकी क्रिया कर सकता हूँ (किन्तु) वस्तुतः यह तेरा भ्रम है। इस भ्रम को अब छोड़ दे और तेरे शरीर को सदा अनात्मबुद्धि से देख अर्थात् वह पर है — ऐसा देख; वह मैं हूँ — ऐसी आत्मबुद्धि से मत देख। तेरे आत्मा को शरीरादि से निरन्तर भिन्न अनुभव कर; दोनों की एकताबुद्धि छोड़ दे।

तू तेरे शरीर के सम्बन्ध में जैसी भूल करता है, वैसी ही भूल अन्य जीवों के शरीर के सम्बन्ध में भी करता है। तू उनके शरीर को भी उनका आत्मा मानता है; इसलिए उनके आत्मा को भी उनके शरीर से भिन्न जान। शरीर को शरीर जान और आत्मा को आत्मा जान। स्वस्वरूप में स्थिर होकर जहाँ तक तू स्व-पर का भेदज्ञान नहीं करेगा, वहाँ तक शरीरादि परपदार्थों के साथ तेरी आत्मबुद्धि-एकताबुद्धि-ममत्वबुद्धि-कर्ताबुद्धि हुए बिना नहीं रहेगी और तेरे दुःख का अन्त नहीं आयेगा; इसलिए बहिरात्मपना छोड़कर, आत्मस्वरूप में स्थित हो — यही सुख का उपाय है।।५७।।

श्लोक - ५७ पर प्रवचन

इसलिए बहिरात्मस्वरूप का त्याग करके, स्व-पर के शरीर को किस प्रकार देखना, वह कहते हैं —

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वं व्यवस्थितः॥ ५७॥

इसमें डाला है।

हो सुव्यवस्थित आत्म में, निज काया जड़ जान।
पर काया में भी करे, जड़ की ही पहिचान॥ ५७॥

बनाया है न किसी ने। यह अपना बनाया है? (स्वयं ने बनाया है।)

टीका - अपने शरीर को अर्थात् आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शरीर को; 'अनात्मबुद्धि' से अर्थात् 'यह मेरा आत्मा नहीं है'... है? **अपने शरीर को अर्थात् आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शरीर को;...** ऐसे भले इकट्ठे हों नहीं। परन्तु **'अनात्मबुद्धि' से अर्थात् 'यह मेरा आत्मा नहीं है'...** यह शरीर, वह मेरी चीज़ नहीं। **ऐसी बुद्धि से अन्तरात्मा को निरन्तर -सर्वदा देखना...** सर्वदा ऐसा होता ही है। भिन्न पड़ी हुई चीज़ को भिन्न पाड़ना पड़े, ऐसा है नहीं। आहाहा! निरन्तर भगवान आत्मा और शरीर भिन्न है। निरन्तर धारा अन्तरात्मा को होती है। बहिरात्मा को बाहर—पर, वह मैं हूँ, ऐसा मिथ्यात्व के संस्कार के कारण होता है। आहाहा!

ऐसी बुद्धि से अन्तरात्मा को निरन्तर -सर्वदा देखना (अनुभवना) तथा अन्य के देह को 'यह पर का आत्मा नहीं है'—ऐसी बुद्धि से देखना। दूसरे का देह भी उसके आत्मा का नहीं। आहाहा! जैसे अपना देह आत्मा नहीं, ऐसा निरन्तर देखता है; उसी प्रकार पर का देह उसका नहीं, ऐसा देखता है। आहाहा! परन्तु यह तो शरीर को देखे और यह मेरा पुत्र तथा यह मेरी स्त्री, ऐसा मानता है न? वह आत्मा शरीर को देखे, यह मेरा पुत्र। आत्मा अन्दर कौन देखे? अरे मरे तब भी वह आत्मा शरीर छोड़कर कहाँ गया मरकर, यह कहाँ इसे नहाने जाना है? हिम्मतभाई! यह तो उसकी वर्तमान सुविधा को रोता है कि यह मेरी इतनी वर्तमान सुविधा जाती है। वह था तो इतनी रही। वह मरकर नरक गया, उसमें यहाँ हमारे क्या नहाने जाना है, कहे?

मुमुक्षु : वह तो सान्तवना देने जाये, वह ऐसा ही कहे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब उसे ऐसा कहे। कान्तिभाई! वह सान्तवना देने आये, भाई ऐसे थे और भाई ऐसे थे। दुकान में ऐसे भाग लेते थे। हमारी कम सिरपच्ची थी। मरकर कहाँ गया? यह कोई पूछता है?

मुमुक्षु : यह किसी को खबर भी कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु भान कब है इसे कि यह भिन्न है। आहाहा! भिन्न था, वह भिन्न होकर कहीं गया वापस। आहाहा! किस गति में गया? कहाँ गया? आहाहा!

वह आता है न वह दृष्टान्त आता है न? पिता मर गया, इसलिए बारह महीने का श्रद्धा किया। दूधपाक बनाया, दूधपाक। पिता मर गया, उसकी तिथि थी बराबर। श्रद्धा किया तो सबने दूधपाक खा लिया अब। फिर वह चिपका हुआ रहता है न? कड़ाही में। तो वह कुत्ते का बच्चा था, वह खाने के लिये बारम्बार आवे। बारम्बार आवे। मारे तो भी हटे नहीं। कि यह क्या है भाई? और किसी को पूछा कि यह क्या है? यह तेरा पिता, जिसका तूने श्राद्ध किया वह यह है। वह यह खाने आता है। आहाहा! कहो, जिसके श्राद्ध के लिये दूधपाक बनाया। वह खाने आये तो उसे मारे। किसे खबर है कि यह आत्मा मेरा पिता था। आहाहा! परन्तु पिता भी कहाँ था? आहा! किसका पिता? एक भव की सगाई मानी है। थी कब?

मुमुक्षु : ऐसी बात यह भगवान....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दरकार की नहीं।

यह हमारे धीरुभाई कहते थे। धीरुभाई है न यहाँ लाठी में। लड़का नहीं है। एक यह लड़की। कहा, अच्छे जाना है, यह तो निश्चित है परन्तु अभी कुछ होता नहीं। परन्तु अब अकेला है, पैसा है। परन्तु जाना अवश्य है। ऐसा तो परन्तु जाना है सब छोड़कर, परन्तु यह अभी अन्दर छोड़ना सुहाता नहीं, कहे। धीरुभाई है न? लाठी-लाठी। यह इनके मनुभाई गये न? उनके दामाद।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसे खबर है।

मुमुक्षु : धीरुभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। जयन्तीभाई। यह तुम्हारे काका। वहाँ कहते थे। बैठे। रात्रि में नहीं वह चर्चा चली थी न? बाहर। तुम्हारे मकान के बाहर। जाना है, छोड़ना पड़ेगा। छोड़कर जाना है। कहते हैं। आहाहा! अन्दर राग हटता नहीं। आहाहा! दरकार

नहीं। अरे... मैं कहाँ जाऊँगा? आहाहा! मैं कहाँ जाऊँगा? कहाँ का मैं और कहाँ जाऊँगा? आहाहा! यह सम्बन्ध कितने काल का दिखता है यह! खोटा परन्तु कितने काल का वापस? खोटा सम्बन्ध है, यह कहे। यह तो आनन्द और आत्मा को सम्बन्ध है।

ज्ञान और आत्मा को सम्बन्ध है। इसके (पर के) साथ सम्बन्ध, वह तो झूठा है। आहाहा! वह भी सम्बन्ध एक समय का। ... एक समय का ही है। दूसरा, तीसरा है अब तीसरा हो जाता है। आहाहा! पर के साथ पर्याय का सम्बन्ध एक समय का मानता है। त्रिकाली भगवान को अनन्त गुण का सम्बन्ध है। जिसका ध्रुव ज्ञान है, जिसका ध्रुव आनन्द है, ऐसा जो सम्बन्ध आत्मा को अनादि से है, (वह) माना नहीं।

उसमें आता है न १९ गाथा में नहीं टीका में? कि आत्मा ज्ञान को तो सेवन करता ही है। १९वीं गाथा। टीका। आत्मा ज्ञान को तो सेवन करता ही है। कहीं आत्मा से ज्ञान पृथक् नहीं। तो फिर तुम आत्मा को ज्ञान सेवन करो-सेवन करो, ऐसा कहाँ से? सुन न अब। पर्याय में ज्ञान, वह आत्मा ऐसा निर्णय किये बिना सेवन कहाँ से किया? आहाहा! चेतनजी! आता है न? तादात्म्य है। आत्मा और ज्ञान तादात्म्य है अर्थात् सेवन करता ही है। परन्तु तादात्म्य है, ऐसा पर्याय ने कहाँ निर्णय किया है? पर्याय निर्णय करे तादात्म्य, (तब) उसकी सेवा की कहलाये। आहाहा! गुण और गुणी एकरूप है, तादात्म्य है, परन्तु ऐसी एक स्थिति स्वीकार किसने की है? ज्ञान उसकी ओर ढले, तब ज्ञानपर्याय ऐसा स्वीकार करती है। तब ज्ञानी ने आत्मा को सेवन किया। आत्मा ज्ञान को सेवन करता है तो ज्ञान आत्मा को सेवन करता कहलाता है। आहाहा!

जिस चीज़ में एकाग्र हो तो उसे सेवन किया कहलाये। आत्मा को द्रव्य और गुण तो एकाग्र है। परन्तु एकाग्र है, एकरूप है, ऐसा जिस पर्याय ने सम्बन्ध देखा, उसने इस ज्ञान की सेवा की। आहाहा! नहीं तो राग की सेवा करता है। पर की तो कुछ कर नहीं सकता। राग-द्वेष के विकल्प। आहाहा! वह ध्रुव, ज्ञानस्वभाव ध्रुव। ध्येय जिसका ध्रुव, ज्ञानध्रुव—ऐसा जिसने—पर्याय ने ध्येय किया, उसने ज्ञान की सेवा की। आहाहा! तो उसने सम्बन्ध सम्हाला। ज्ञान और आत्मा का ध्रुव सम्बन्ध था, वह उसने सम्हाला। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है, भाई! यह लोग बेचारे देखो न,

उतावले होकर साधु हो जाते हैं। यह बेचारा देखो जवान साधु था, हों! व्याख्यान में बहुत आता था।

मुमुक्षु : आचार्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आचार्य है छोटी उम्र में। परन्तु चाहे जो हुआ। कुछ पकड़ा गया। साधुपना छोड़ दिया। मुनिपना छोड़ दिया। यह उतावले होकर समझे बिना मुनिपना था कब? अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं।

बाहर की सभा भरे और वाणी द्वारा (समझावे), वह कहाँ तेरी चीज़ थी? उसके कारण महिमा कहाँ थी तुझे? जड़ के कारण महिमा? आहाहा! वाणी द्वारा समझावे और लोग इकट्ठे हों। आहाहा! अपने कुछ त्याग लिया, वह सफल तो हुआ। इतने लोग सुनते हैं। अब उसमें कहाँ तेरा त्याग आया? आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा नहीं कहा?—कि जिस ज्ञान से समझाने पर बहुत लोग पढ़े, सुने तो वह प्रसन्न हो। आता है न? परन्तु उसके साथ क्या सम्बन्ध है? आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में यह लिया है। कहीं सातवें में होगा कहीं। अरे... इन्होंने बहुत नाड़ी पकड़ी है। यह वह कहे नहीं मानूँ। यह क्या कहलाता है? इनकार किया। आहाहा! भाई! तेरी स्थिति क्या थी, वह तुझे बतलाते हैं। तुझे बतलानेवाले को खोटा शास्त्र, ऐसा तू क्यों कहता है? आहाहा!

जिस ज्ञान से अपने को शान्ति मिले, वह उसका ज्ञान है। जिस ज्ञान से लोग अधिक सुनें तो मेरा ज्ञान सच्चा और उसमें प्रसन्न होना, वह तो संस्कार मिथ्या है। आहाहा! दीक्षा ली तो लोग आदर कितना करते हैं! और अपने को भी पाट पर बैठकर पढ़ने का योग बना अब। एक घण्टे मैं... परन्तु अब उसमें महत्ता क्या आयी तुझे? आहाहा! ऊपर तो मक्खियाँ जाती हैं, इससे मनुष्य से बड़ी हो गयी? ऊपर मक्खी जाये तो? आहाहा! राग से भिन्न पड़कर बड़ा हो, वह इसकी महत्ता है। यह बाहर की महिमा से महत्ता माने, (यह) मिथ्या संस्कार है। आहाहा! सूक्ष्म-सूक्ष्म शल्य कैसे रहते हैं, यह बात है।

निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्व स्वभाव द्वारा, स्व-पर का विभाग नहीं देखता,

वही आत्मा... आहाहा! यहाँ आया न? यहाँ। यहाँ। ५७ में। **ऐसी बुद्धि से अन्तरात्मा को निरन्तर-सर्वदा देखना (अनुभवना) तथा अन्य के देह को 'यह पर का आत्मा नहीं है'...** यह देह उसका आत्मा नहीं। आहाहा! उसका देह जीर्ण हुआ तो आत्मा जीर्ण हो गया, ऐसा मानता है। वह तो एकबुद्धि (एकत्वबुद्धि) है। देह की पुष्टि हो और बहुत रूपवान हो, इसलिए आत्मा(मय) वह है, यह अत्यन्त मिथ्याबुद्धि है। आहाहा!

'यह पर का आत्मा नहीं है'—ऐसी बुद्धि से देखना। आहाहा! 'सर्व जीव है ज्ञानमय...' आता है न? धारे समता भाव। ज्ञानमय, वह आत्मा है। उसमें राग और शरीर, वह कहीं आत्मा नहीं। आहाहा! **कैसा होकर (वैसा करना)? आत्मतत्त्व में व्यवस्थित होकर...** आहाहा! अपने में व्यवस्थित होकर। अकेला इस देह से दूसरा आत्मा नहीं, यह पर का यथार्थ ज्ञान किसे होता है? जिसे आत्मतत्त्व में व्यवस्थित बुद्धि हुई है। आहाहा! मैं शरीर और वाणी नहीं, ऐसी आत्मा में व्यवस्थित हुई दशा, उसे पर का शरीर, वह उसका आत्मा नहीं। आहाहा! दिगम्बर के सन्त, दिगम्बर के गृहस्थ, पण्डित यथार्थ बात करनेवाले। थोड़े-थोड़े भाव में भी उन्होंने सत्य प्रसिद्ध किया है। सत्य को प्रसिद्ध (किया है)।

आत्मस्वरूप में स्थित होकर... अर्थात? है न? **'येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः'** चौथा पद है। आहाहा!

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वं व्यवस्थितः॥ ५७॥

'येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः' अन्य के देह से भिन्न उसका आत्मा, वह स्वयं भी आत्मा से भिन्न अपने आत्मा में व्यवस्थित है, उसे इस प्रकार से देखना। आहाहा! स्वयं भी राग और देह को अपना मानता हो और दूसरे के देह से उसका आत्मा भिन्न वह कहाँ से मान सकेगा? आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ - ज्ञानियों को आत्मस्वरूप में स्थित होकर, अपने शरीर को अनात्मबुद्धि से निरन्तर देखना... भाषा तो समझ में आती है न! अपना शरीर। भाषा क्या करना? अर्थात् यह शरीर, ऐसा। अर्थात् कि यह शरीर, ऐसा। वह दूसरे शरीर नहीं उसमें।

अपना अर्थात् यह शरीर, इतनी बात। **ज्ञानियों को आत्मस्वरूप में स्थित होकर, अपने शरीर को अनात्मबुद्धि से निरन्तर देखना-अनुभवना अर्थात् 'यह शरीर मेरा नहीं'...** आहाहा! शरीर की कोई भी चेष्टा मेरी नहीं है। आहाहा! शरीर की चेष्टा में मैं आया नहीं। शरीर की चेष्टा मुझसे हुई नहीं। आहाहा! **ऐसी भेदबुद्धि से सदा जानना।** आहाहा! बहुत संक्षिप्त में समाधि का वर्णन किया है न?

अन्य के शरीर को भी वैसी भेदबुद्धि से देखना अर्थात् अन्य का शरीर, वह उसका आत्मा नहीं है—ऐसी भेदबुद्धि से सदा देखना। पर, वे मेरे, यह बहिरात्मबुद्धि। आहाहा! **तेरा आत्मा चैतन्यस्वरूप है और तेरा शरीर तो अचेतन है। वह तेरा स्वरूप नहीं है तो भी तू उसको अपना आत्मा मानता है और मानता है कि मैं उसकी क्रिया कर सकता हूँ...** देखो भाषा! स्पष्टीकरण किया है। देह की क्रिया यह हिलना, चलना, बोलना यह चेष्टा सब मैं कर सकता हूँ। ऐसा मानता है, **वस्तुतः यह तेरा भ्रम है।** मैं कर सकता हूँ का अर्थ ही यह (कि) मेरा है। आहाहा! विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ३, गुरुवार, दिनांक २६-६-१९७५, श्लोक-५७-५८, प्रवचन-७२

५७ गाथा, इसका विशेष। चार लाईन चली हैं। फिर से।

आचार्य उपदेशरूप से कहते हैं: — 'हे जीव! तू अनादि से शरीरादि बाह्यपदार्थों में आत्मबुद्धि करके, संसार में परिभ्रमण कर दुःखी हुआ है... जो चीज़ तेरी नहीं, शरीर तेरा नहीं, वाणी तेरी नहीं, उसे अपना माना तो दूसरी चीज़ तो दूर रही। यह पुत्र मेरा, स्त्री मेरी, पुत्र मेरा, व्यापार मेरा, दुकान मेरी। वह पर बाह्य पदार्थ में आत्मबुद्धि, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

संसार में परिभ्रमण कर दुःखी हुआ है परन्तु अब सुखी होना हो तो देह में आत्मबुद्धि का त्याग करके,... यह नजदीक की बात सीधी की है। शरीर की क्रिया हो, वह मुझसे होती है; बोलना, वह भी मैं हूँ तो बोला जाता है, ऐसी पर में आत्मबुद्धि मिथ्यात्व है। आहाहा! भाषा जड़ बोलता है। आहाहा! **आत्मबुद्धि का त्याग करके,...** शरीर और वाणी, वे जगत के पदार्थ अजीवरूप से रहे हैं, वे कहीं जीव के हुए नहीं। आहाहा! उनमें मैं यह बोलता हूँ, मैं इस देह को हिलाता हूँ, लिखता हूँ मैं, दूसरे को समझाने की भाषा मैं करता हूँ, यह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसमें विकल्प उठे, वह परवस्तु है। यह शब्द भी पर है। आहाहा!

यह शब्द है, वह मेरे और उनसे मुझे ज्ञान होता है, यह भी मिथ्यात्वभाव है। ऐसी बात! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! लोगों को बाहर से मिला है। अन्तर मूल तत्त्व क्या है... शरीर के एक-एक रजकण भी स्वयं अपनी पर्याय को करते हैं, दूसरे रजकण की पर्याय को वे नहीं करते, तो आत्मा तो दूसरे को किस प्रकार करे? आहाहा!

अर्थात् बहिरात्मपना छोड़कर,... बहिर् चीज़ है, उसे अपनी मानना, वह बहिरात्मा है। मिथ्यादृष्टि है। उसकी दृष्टि में विपरीतता पड़ी है। **अब अन्तरात्मा बन! तेरा आत्मा चैतन्यस्वरूप है और तेरा शरीर तो अचेतन है।** भाषा वह अलग वस्तु अन्दर में। तह

बैठ जाये अन्दर में। शरीर अचेतन, तू चैतन्य। दोनों अत्यन्त विरोधी तत्त्व है। वह तेरा स्वरूप नहीं। शरीर की सुन्दरता, शरीर की निरोगता और उसमें से यह हिलने-चलने की क्रिया में मैं इस प्रकार चलता हूँ, मैं इस प्रकार बोलता हूँ। भगवान! यह तेरा भ्रम है, भाई! वह जड़ है, जड़। जड़ बोले, जड़ चले। तुझसे नहीं। भारी कठिन काम! यह सब धन्धा व्यापार करे न! कान्तिभाई!

मुमुक्षु : बोले बिना वकालत का धन्धा कैसे करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले बिना वकालत होती होगी? कौन बोले भाई! बोले, वह दूसरा। भाषा जड़ है, भाई! आहाहा! लिखनेवाला मैं, बोलनेवाला मैं, दूसरे को समझाने की भाषा का कर्ता मैं। आहाहा! यह सब जड़ को अपना मानना है। वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म है।

तो भी तू उसको अपना आत्मा मानता है... वाणी और शरीर की क्रिया, वह जड़ की क्रिया जड़ से होती है, तथापि तू ऐसा मानता है कि मुझसे होती है। तू उस जड़ को तेरा मानता है। आहाहा! **मानता है कि मैं उसकी क्रिया कर सकता हूँ...** इच्छानुसार शरीर को हिलाऊँ। आहाहा! खाने के समय में भी बराबर रोटी का टुकड़ा करके दाल में लेकर, चटनी जहाँ लेनी हो, वहाँ हाथ पड़े। यह सब क्रिया मुझसे होती है।

मुमुक्षु : ऐसा आता है, पेट में कहीं दाँत नहीं है, इसलिए चबाकर खाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। सब बातें अज्ञानी की है। आहाहा! अंग्रेजों के चोचले है सब। आहाहा! कौन खाये? कौन पीवे? जड़ की क्रिया जड़ में होती है, उसे ऐसा कहे कि मैं बराबर चबाकर खाता हूँ। आहाहा! वह तो जड़ की क्रिया अजीव की पर्याय है। उसे अपना माना, यह तेरा भ्रम है। आहाहा! बहुत छोटी बात है परन्तु बहुत सीधी सरल बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : छोटी-छोटी बात में भी बड़ी-बड़ी भरी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ी भरी है। छोटी में बड़ी बात भरी है।

शरीर और वाणी उसके कारण से, उसके काल में उसकी क्रिया होती है तो मैंने

व्यवस्थित ज्ञान को रखा, इसलिए वह काम हुआ—मूढ़ है, कहते हैं। आहाहा! भाई! तूने जड़ को आत्मा माना। तुझे मिथ्यात्व का महापाप है उसमें। आहाहा!

मुमुक्षु : ....बीमार हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं? हम भाषा नहीं समझते।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं तो यह समझता नहीं।

यह ऐसा कहे, बराबर खा नहीं सके तो बीमार पड़े। ध्यान रखकर खाये तो स्वस्थ रहे। यह सब अज्ञानी का भ्रम है। आहाहा! उसे जड़ और चैतन्य दोनों भिन्न हैं, उसकी उसे श्रद्धा नहीं है। मैं शरीर द्वारा दया पाल सकता हूँ, शरीर द्वारा दया पाल सकता हूँ। परजीव मरते को बचाऊँ। पानी में पड़ा हो तो ऐसे करके ऐसे से लेकर रखता हूँ, वह मेरी क्रिया है। ऐसा माननेवाला जड़ को अपना मानता है। आहाहा! सोने में भी ऐसे करवट बदलूँ। एक करवट से जरा ऐसा हो वहाँ। वह मेरी इच्छानुसार करवट बदल सकता हूँ। शरीर की करवट को ऐसे बदलता हूँ। आहाहा! प्रभु कहते हैं कि शरीर और तू प्रभु! भिन्न है न, भाई! वह भिन्न तुझे क्या करे? तुझे भ्रम है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप कहते हो कि भ्रम है, दूसरे कहते हैं कि चतुर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दुनिया तो पागल में अच्छा पागल हो, उसे पागल अच्छा कहे। दुनिया पागल है। आहाहा!

इस भ्रम को अब छोड़ दे... आहाहा! **और तेरे शरीर को सदा अनात्मबुद्धि से देख...** यह तो अनात्मा है। वह आत्मा तो नहीं। उससे होनेवाली जितनी क्रियायें, वे सब अनात्मा की क्रिया है। हिलने की, बोलने की, चलने की, लिखने की... आहाहा! यह बड़े पण्डित होकर भी मैं ऐसा बोल सकता हूँ, मैं ऐसा समझा सकता हूँ। जोर जड़ में जाता है। अरे... प्रभु! भाई! यह तुझे भ्रम है। भाषा के काल में भाषा जड़ से निकलती है। आहाहा! ऐसा कैसे बैठे इसे?

मुमुक्षु : निमित्त का निमित्तपना तो सही?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त की व्याख्या? वह करता नहीं, इसलिए निमित्त। (यदि) करे, तब तो उपादान हो गया। आहाहा!

तेरे शरीर को सदा अनात्मबुद्धि से देख अर्थात् वह पर है—ऐसा देख;... आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान, दुकान तो कहीं रह गयी। शान्तिभाई! कहीं रह गयी वह तो। यहाँ तो यह।

मुमुक्षु : दुकान तो वहाँ रही परन्तु यहाँ गले को चिपटी है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ममता है कि दुकान मेरी है। दुकान इसकी कब थी? दुकान तो जड़ की है। आहाहा!

जब तुम अनेक तत्त्व मानो, तब तो अनेक वह-वह अपने से होकर बदल रहा है। यह आत्मा ऐसा माने कि मेरे कारण इस शरीर में इस प्रमाण व्यवस्थित चले। ध्यान रखूँ परन्तु ऐसा चले... ऐसा चले... ऐसे जाना हो तो ऐसे जाया जाये। सब क्रियायें जड़ की हैं। आहाहा! **वह मैं हूँ—ऐसी आत्मबुद्धि से मत देख।** पर है, ऐसा देख। आहाहा! उसे तू आत्मबुद्धि से न देख। अर्थात्? वे मेरे हैं और जैसे मैं चाहूँ, तद्नुसार उनमें कर सकता हूँ, ऐसा न देख। आहाहा!

देखो न, यह बाई पड़ी है न सात महीने से। शान्तिलाल खुशाल। दो अरब चालीस करोड़ रुपये हैं। गोवा-गोवा। दो अरब चालीस करोड़। सात महीने से वह बाई असाध्य है। पति मर गया। इसके पिता की मामी है। इस लड़के के। इसके पिता की सगी मामी है। पति मर गया पाँच-दस मिनिट में। मुझे कुछ दुःखता है, ऐसा कुछ हुआ। ४०-४० लाख के मकान, १०-१० लाख के दो दूसरे। दो अरब चालीस करोड़। २४० करोड़ रुपये। क्या वह तो धूल है, पर है, परन्तु उसमें आत्मा को क्या उसमें? आहाहा!

और वह बाई तो सात महीने से असाध्य है। अभी उनका दामाद यहाँ आया था। वींछियावाला है न? रसिकभाई नहीं वह अपने काम करता... उसके भाई के पुत्र के साथ दी है। वह आया था वहाँ। मेरी सासू सात महीने से असाध्य है, कहे। वह वींछियावाला नहीं? शान्तिभाई। वींछियावाला नहीं मुम्बई में वह रसिक-रसिक? सामने नहीं बोलता बहुत? धोलकिया। धोलकिया। उसका बड़ा भाई। उसके लड़के के

साथ लड़की है उसकी। वह आया था वहाँ मुम्बई में। वहाँ उसमें। भाई मोटाणी के घर। मोटाणी के घर उतरे थे न हम। मेरी सासू सात महीने से असाध्य है। परन्तु तेरे यह ४०-४० लाख रुपये के बँगले, दो अरब चालीस करोड़ धूल पड़ी है न? असाध्य। मुर्दा पड़ा है। आहाहा! परन्तु उसे और पर को सम्बन्ध क्या है? आहाहा!

अच्छा शरीर हो तो ध्यान रखे तो निरोगता रख सकते हैं। और पथ्य न खायें तो निरोग (न) रहे और पथ्य खायें तो निरोग रहे, अपथ्य खायें तो रोग हो—यह सब क्रियायें आत्मा की नहीं हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो दया पाले और व्रत पाले परन्तु अभी माने देह की क्रिया मेरी, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उसे धर्म तो नहीं परन्तु पाप का भाव है। आहाहा! ऐसी बात है।

ऐसा देख; वह मैं हूँ—ऐसी आत्मबुद्धि से मत देख। शरीर को। **तेरे आत्मा को शरीरादि से निरन्तर भिन्न अनुभव कर;...** आहाहा! आत्मा का ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञान में आकर भिन्न देख उसे। आहाहा! भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान क्या करे? पर को अपना माने? वह तो अज्ञान है। पर का कर सके ज्ञान? अज्ञान है। तू ज्ञान में आकर परवस्तु को पर जान। उस पर की क्रिया मुझसे होती है, ऐसा छोड़ दे। आहाहा!

तेरे आत्मा को शरीरादि से निरन्तर भिन्न अनुभव कर; दोनों की एकता-बुद्धि छोड़ दे। आहाहा! शरीर और आत्मा एक... अरे...! राग और आत्मा एक (माने वह) मिथ्यात्वभाव है। त्रिकाली शुद्ध ज्ञानस्वभाव, राग का कण विभाव, दोनों की एकता... आहाहा! पर की दया पालने का भाव राग, वह राग और आत्मा एक, मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा! ऐसी मार्ग की पद्धति है, भाई! दुनिया को अन्तर की बातें मिली नहीं और बाहर में सब यह करो... यह करो... मन्दिर बनाओ, यह बनाया। आहाहा! कौन बनावे? परमाणु... परमाणु उसका बापू! तुझे खबर नहीं। उस क्षेत्र में उस काल में उस प्रकार की पर्याय की उत्पत्ति वहाँ होनेवाली है, उसके कारण वह हुआ है। रामजीभाई ने बहुत ध्यान रखा और वजुभाई ने... धूल भी ध्यान नहीं। ध्यान की पर्याय इसके पास रही। वह पर्याय उसमें गयी। आहाहा! बहुत कठिन काम। हमने

यह बनाया। देखो, कैसा बना? प्रसन्न-प्रसन्न हो। अक्षर उत्कीर्ण किये न, बापू! यह नहीं, भाई!

शरीर के रजकण की अवस्था भी तुझसे नहीं बदलती। आहाहा! तो यह सब तुझसे हो, बापू! मिथ्यात्व का अभिमान है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। हमने मन्दिर बनाया, हमने यह किया... यह किया... आहाहा! जिस काल में जो जड़ की अवस्था उसका जन्मक्षण है, उस-उस पर्याय को वहाँ उत्पत्ति का काल का वह काल है। आहाहा! उसके बदले वह यह खड़ा रहा हुआ आत्मा, मुझसे यह व्यवस्थित काम हुआ, (ऐसा माने) वह मिथ्यात्व है, भाई! कहो, त्रंबकभाई! आहाहा! यह मशीन करे तुम्हारा।

यह चिमनभाई बड़ी मशीन नहीं चलाते कैसी? जोरावरनगर। स्टील की मशीन रखी है। अभी गये थे, हों! लाये हैं। वढवाण से आते हुए वहाँ गये थे। तुम थे न? आहाहा! किसकी मशीन और किसके... बापू! यह जड़ के संयोग की दशा कौन करे और कौन उसे अपनी माने? आहाहा! होती है, वह जड़ से; मानता है वह अज्ञानी अपने स्वरूप को भूलकर। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग, भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव ने यह सत्य का प्रवाह रखा है। आहाहा!

तू तेरे शरीर के सम्बन्ध में जैसी भूल करता है, वैसी ही भूल अन्य जीवों के शरीर के सम्बन्ध में भी करता है। दूसरा जीव है, वह शरीर को ऐसे हिलाता है, ऐसा करता है और ऐसा करता है। आहाहा! उसने ऐसे थप्पड़ मारी शरीर से। तो कहे, इस आत्मा ने उसे थप्पड़ मारी। वह तो शरीर की क्रिया है। वह आत्मा कर सके थप्पड़ मारने की क्रिया? ऐसा भी कैसा? आहाहा! बापू! मार्ग ऐसा है। सम्यग्ज्ञान से शुरुआत इसकी।

जड़ की कोई भी रजकण की अवस्था यह पुस्तक बनाना, इसके लेख लिखना, यह आत्मा की क्रिया है, ऐसा तीन काल में नहीं है। सोनगढ़ से कितनी पुस्तकें १४-१५ लाख प्रकाशित हुई हैं। भाई कहते थे कि २१ लाख हुए हैं, कहे। हुकमचन्दजी। यहाँ के ५-७ लाख। हुकमचन्दजी ऐसा कहते थे। २१ लाख। १४-१५ लाख यहाँ के, ५-७ लाख वहाँ के। जयपुर। २१ लाख पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं न? आहाहा! या आत्मा ने की है? बहुत काम, बापू! आहाहा!

जड़ और चैतन्य की भिन्नता और भिन्नता में एकता मानना। आहाहा! 'जड़ और चैतन्य दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न...' बड़े पण्डित होकर भी उसका अभिमान इसका। ऐसा भाषण ऐसे कर सकते हैं, ऐसा बोल सकते हैं। धीरे बोलना हो तो धीरे बोल सकते हैं। जोर से बोलना हो तो जोर से बोल सकते हैं। भाई! यह धीरे और जोर से की दशा किसकी, बापू! यह तो जड़ की (दशा) है, भाई! आहाहा! तू कहाँ उसका स्वामी हुआ? आहाहा! बहुत कठिन काम। वीतराग जैनदर्शन।

श्रीमद् ने कहा न एक बार। तिनके के दो टुकड़े करने की हमारी शक्ति नहीं। अर्थात्? कि तिनके के दो टुकड़े आत्मा नहीं कर सकता, ऐसा इसका अर्थ है। तिनका होता है न एक? वह तो पुद्गल की क्रिया है। पृथक् पड़ना और इकट्ठा होना, वह तो जड़ की क्रिया है। वहाँ ऐसा कहे, ओहोहो! तिनके के दो टुकड़े करने की हमारी शक्ति नहीं। अर्थात्? कि कर नहीं सकता। आहाहा! पूरे दिन यह कपड़े का धन्धा, कपड़ा चौड़ा करे और इकट्ठा करे और ऐसा करे, वैसा करे। फाड़कर दे। वह सब क्रिया आत्मा नहीं करता होगा? भाई! वह जड़ पदार्थ है और जड़ की अवस्था का उसे उस प्रकार का उसका काल है। वह वहाँ जड़ में जड़ से होती है। आहाहा!

यह यहाँ स्वाध्यायमन्दिर पहले बनाया, देखो! फिर यह और यह बना मन्दिर। फिर समवसरण। फिर यह। यह नहीं वह? मानस्तम्भ। फिर यह। एक व्यक्ति कहता नहीं था? एक व्यक्ति आया था कल। कि मेरे पास ३५ तोला सोना है। समयसार का कवर सोने का चढ़ाओ। भाई! अब रहने दो, बापू! अब हुआ वह हुआ। इनकार करना पड़ा। किसी को कहा तो नहीं हमने कभी कि ऐसा यह करो। वह तो उसके कारण से होना हो, तब होता है।

मुमुक्षु : आपने नहीं दूसरे किसी ने कहा हो न?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी ने कहा नहीं। अपने आप हुआ है। आहाहा! कभी किसी ने यहाँ पाँच पैसे दे, ऐसा भी कहा नहीं। उसे जहाँ रजकणों को आना हो, वे आते हैं, उसमें करे कौन? आहाहा! लोग नहीं कहते कि खानेवाले का नाम दाने-दाने पर है। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : रुपये-रुपये पर नाम है, ऐसा नहीं कहते।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये-रुपये पर नाम है, इसका अर्थ दाना-दाना। यह रुपये-रुपये में उसकी जहाँ वह रुपया जहाँ आनेवाला है, वहाँ आनेवाला है। जो उसका नोट जहाँ आनेवाला है, वह आनेवाला है उसके कारण से। दूसरा कहे कि मैं लाऊँ और दूँ। बाबूभाई! क्या होगा यह तुम्हारे? धन्धा तुम्हारे बाबूभाई के बड़ा जबरदस्त है। दहेगाम में। बोरी-बोरी बड़ी। यह भारी! सुजानमलजी!

मुमुक्षु : खोटी बात करता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं माने तो पार आ जाये। उसकी ताकत उसकी है या नहीं? मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञान किसका करे और किससे कार्य ले? आहाहा! चैतन्य हीरा अनन्त गुण के पासा से पड़ा है, प्रभु! आहाहा! वास्तव में तो उसके परिणाम जो होते हैं जीव के, वे परिणाम भी त्रिकाली ध्रुव से नहीं। आहाहा! तो पर के परिणाम जीव करे... आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य पर्याय का दाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य पर्याय का दाता नहीं और कर्ता नहीं। आहाहा!

भाई ने तो एक बार, निहालभाई ने तो एक बार लिखा नहीं? परिणाम परिणम गया और मैं ऐसा का ऐसा रह गया। लोगों को निश्चयाभास जैसा लगता है। लोगों को खबर नहीं। परिणाम की दृष्टि ध्रुव पर है, इसलिए वह परिणाम बदल गये और मैं तो ऐसा का ऐसा रहा। मैं अर्थात् ध्रुव। आहाहा! उसे यह नहीं बैठता। निहालभाई की बात परमसत्य है। निश्चयाभास है, ऐसा करके निकाल डाला। वे ज्ञानचन्दजी आये थे न देखने? तुम उन्हें निश्चयाभास सिद्ध करो तो हम देखने आयेंगे। कहो, ठीक! इस वर्ष देखने आये थे। तुम्हारे पास आये थे। कलकत्तावाले। अरेरे!

मुमुक्षु : दिल्ली।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दिल्लीवाले। दिल्ली-दिल्ली। जयकुमार और ज्ञानचन्दजी यहाँ आये थे न जयकुमार। दोनों व्यक्ति आये। आप निहालभाई को निश्चयाभास सिद्ध

करो तो हम आ सकेंगे इस मेले में। अब आओ या न आओ, यहाँ हमारे क्या काम है ? तुझे उसका काम भी क्या है ? वह जहाँ है, वहाँ थे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **दोनों की एकताबुद्धि छोड़ दे। तू तेरे शरीर के सम्बन्ध में जैसी भूल करता है, वैसी ही भूल अन्य जीवों के शरीर के सम्बन्ध में भी करता है।** जोर से बोले तो कहे, यह आत्मा बोलता है। चले बराबर उतावले पैर से तो कहे, आत्मा चलता है। इसलिए पर को भी वह उसके शरीर को उसका आत्मा माना। आहाहा! और नजर में तो सगे-सम्बन्धी पड़ते हैं, वह तो शरीर पड़ता है। आत्मा तो नजर में पड़ता नहीं। स्त्री, पुत्र का शरीर। वह शरीर, यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र और यह मेरा यह। आहाहा! भ्रम, वह भी भ्रम।

इसलिए उनके आत्मा को भी उनके शरीर से भिन्न जान। आहाहा! उसके शरीर की जो क्रिया होती है, वाणी की क्रिया होती है, वह उसके आत्मा की नहीं। उसका आत्मा वहाँ भिन्न है। आहाहा! **शरीर को शरीर जान और आत्मा को आत्मा जान।** बहुत सादी संक्षिप्त भाषा परन्तु बहुत माल है इसमें। आहाहा! और पाठ में भी यह है न ? **'पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसः'** पाठ की व्याख्या की है यह तो विशेष।

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसः।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वेव्यवस्थितः ॥५७॥

इस मूल गाथा का यह उपदेश है। इसका विस्तार किया है। अध्धर से कहीं नहीं किया है ? आहाहा! इसमें लोगों को प्रसन्नता होती है। कुछ नहीं कर सकता। पर का कुछ नहीं कर सकता। अपने में अज्ञानरूप से राग-द्वेष को करे और भानरूप से ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम को करे। इतना भी व्यवहार है। आहाहा! क्योंकि आत्मा तो ज्ञानरसस्वभाव स्वरूप है। ज्ञानचक्षु है। वह तो ज्ञानचक्षु है। वह ज्ञानचक्षु पर का क्या करे ? आहाहा!

आँख है, वह ऐसा-ऐसा करे, इसलिए वहाँ रेत निकले ? रेत का खड्डा पड़े ? ऐसा हो तो खड्डा भरे ? वह आँख का काम है ? आहाहा! इसी प्रकार आँख की यह पलक फिरती है, वह भी जड़ की क्रिया है। आत्मा से नहीं। आहाहा! आवाज जो आती

है, वह जड़ की दशा भाषा की है। आत्मा से आवाज नहीं आती। आहाहा! कठिन काम! आहाहा!

स्वस्वरूप में स्थिर होकर जहाँ तक तू... देखो भाषा। अर्थात्? कि यह ज्ञानस्वरूप है आत्मा। उस ज्ञान में जब तक स्थिर न हो, एकाग्र (न हो), **स्वस्वरूप में स्थिर होकर जहाँ तक तू स्व-पर का भेदज्ञान नहीं करेगा,...** इस प्रकार परन्तु, हों! ज्ञानस्वरूप में एकाग्र होकर स्व और पर का भेदज्ञान करेगा नहीं... आहाहा! ज्ञानस्वरूपी चैतन्य प्रज्ञाब्रह्म भगवान में अन्तर में एकाग्र होकर जब तक तू स्व और पर का भेदज्ञान करेगा नहीं, आहाहा! **वहाँ तक शरीरादि परपदार्थों के साथ तेरी आत्मबुद्धि...** वहाँ तक शरीर, वाणी, आहाहा! संयोग में आये हुए, स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान। आहाहा! इसके बाप-दादा का मकान हो तो फिर अपने बाप-दादा का मकान हमारा, हम इसमें जन्मे हैं। इसलिए गरीब व्यक्ति थे, तब बिक गया है। अब पैसे हुए तो माँगे उसे देकर लेंगे। क्योंकि इसमें हमारा जन्म, हमारा मकान है।

उमराला में हमारे हुआ था। ब्राह्मण का। गाँव में मकान था, वह बिक गया। बेच दिया। वह साधारण होगा। फिर पैसे हुए। फिर उसकी माँ कहे, बेटा! यह तेरा जन्म यहाँ है। यह तेरे बाप का घर है। वह माँगे उतने पैसे लेकर अपना मकान ले ले। यह तो बना है। क्योंकि साधारण था तो दस हजार ऐसा कुछ अंक रखा था उसने। दस हजार, तो दस हजार लाओ। उमराला में हुआ था। यह एक साधारण दूसरे थे। एक करोड़पति है वह दूसरे भानुभाई और वे। यह दूसरे थे। आहाहा!

लोगों को कहाँ खड़ा हूँ? और जहाँ खड़ा हूँ, वहाँ मैं कौन हूँ? और जहाँ क्षेत्र में, काल में, भाव में जहाँ हूँ, वहाँ मैं कौन हूँ और यह कौन है? इसकी उसे खबर नहीं होती। पागल की भाँति... आहाहा! धन्धे में भी बोरियाँ फिरावे, खजूर की बोरियाँ फेरे, शक्कर की वह करे। एकाकार... एकाकार।

कहते हैं, **स्वस्वरूप में स्थिर होकर...** ऐसा हो गया। ज्ञानस्वरूप वह मैं; रागादि पर मैं नहीं। आहाहा! संघ के प्रमुख मुख्यरूप से कितने? बहुत पैसा दे, उसे प्रमुख बनावे। लो! पैसा पाँच-दस लाख दे, इससे यह संघवी हो जाये। लो, पैसे से पद मिला।

किसका संघवी, बापू ? आहाहा ! अनन्त गुण का संघ तेरा, उसका तू स्वामी है। आहाहा ! अनन्तगुण का साम्राज्य ऐसा भगवान आत्मा उसका वह स्वामी है। यह राग का स्वामी मानना, वह तो मिथ्याभ्रम है। आहाहा ! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल है। यह तो यह व्रत करो, तपस्या करो, यह करो और वह करो। हमेशा पूजा-भक्ति करो।

मुमुक्षु : प्रतिमा लो।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिमा लो। बापू ! भाई ! तू कौन है ? तुझे कहाँ जाना है ? बाहर की क्रिया प्रवृत्ति हुई, वह तुझसे होती है ? आहाहा ! तेरा स्वरूप अन्दर ज्ञान है, उस ज्ञान में स्थिर होकर अर्थात् उसकी ओर के झुकाव में रहकर जब तक स्व-पर का भेदज्ञान न करे... आहाहा !

वहाँ तक शरीरादि परपदार्थों के साथ तेरी आत्मबुद्धि-एकताबुद्धि... इतनी भाषा प्रयोग की है। आहाहा ! भगवान आत्मा स्वस्वरूप वह ज्ञान और आनन्दस्वरूप, उसका स्व-रूप तो ज्ञान और आनन्द है। उसमें स्थिर होकर पर से भेदज्ञान जब तक नहीं करे... आहाहा ! तब तक परपदार्थ के साथ तेरी आत्मबुद्धि, एकताबुद्धि, आहाहा ! **ममत्वबुद्धि...** वह मेरे ऐसा, **कर्ताबुद्धि...** मैंने किया। चार शब्द प्रयोग किये हैं। आहाहा !

जीवता जीव है भाई यह तो उछाला मारे न ! यह कहीं मर गया है ? चन्दुभाई ! कहते हैं ऐसा। जीवता जीव है तो कुछ उछाला तो मारे न ? ऐसा करूँ और ऐसा करूँ और ऐसा करूँ। आहाहा ! उसमें से ज्ञान की लहर उठे, वह जीवता जीव है। आहाहा ! उसमें से सम्यक् श्रद्धा उठे, जिसमें शान्ति स्थिरता उठे (प्रगटे), वह जीव का जीवन है। आहाहा ! यह जीवन जगत के... आहाहा !

जब तक ज्ञानस्वरूपी प्रभु अपने अस्तित्व—मौजूदगी ज्ञान और आनन्दस्वभाव से स्वयं है, ऐसी अन्तर में एकाग्रता न हो, तब तक उसकी परपदार्थ की एकताबुद्धि नहीं टलती। आहाहा ! जब तक उसकी एकताबुद्धि, आत्मबुद्धि नहीं टलती, ममत्वबुद्धि नहीं टलती। क्योंकि इस ओर ज्ञानस्वरूप मैं हूँ, ऐसी जब तक अन्दर स्थिरता न हो, तब तक उसे ममत्वबुद्धि—यह मेरे, ऐसा रहा करता है। मेरा जो है, उसमें एकत्व नहीं, मेरा

जो है ज्ञान और आनन्द, उसमें एकता नहीं। इसलिए उसे रागादि मेरे हैं, ऐसी ममत्वबुद्धि उसे होती है। आहाहा! ऐसा उपदेश कैसा! वे तो कहे, भाई! व्रत लो, तपस्या करो, अपवास करो, दान करो, दया करो, अरे... प्रभु! यह सब बातें.... आहाहा! भाई! मूल तत्त्व में मूल में भूल है। 'मूल में भूल' (पुस्तक) अपने प्रकाशित हुई है न? आहाहा!

कर्ताबुद्धि हुए बिना नहीं रहेगी... अर्थात्? जो स्वरूप से—ज्ञान और आनन्द स्वरूप से प्रभु है, उसमें आये बिना पर मेरे हैं, यह छूटेगा नहीं। आहाहा! चन्दुभाई! आहाहा! जो भाव है, अपना जो स्वभाव है, उस स्वभाव में आये बिना उस परचीज़ का मेरापन इसे टलेगा नहीं। मेरापन जो (स्व) है, उसमें आवे, उसे परपना मेरापना है, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? सोनगढ़ के रहवाण ऐसा उपदेश। यह तो छोटा गाँव कहलाये। मार्ग तो ऐसा है, बापू! तीनों काल परमसत्य।

आत्मा पर के लिये पंगु है। पंगु है। कौन करे, भाई! यह होशियार हो, दुकान कैसी चलती है! यह चिमनभाई कैसा करे लो कारखाना। यह हमारे बाबूभाई सब दुकानें बड़ी-बड़ी। वहाँ दुकान में नहीं गये थे? एक बार गये थे तो देखा था। कितनी खड़ी पड़ी हो और माल बेचे। दो गुणा, चार गुणा। दामोदरभाई! यह रंग बेचे दामोदरभाई। नवीन! आहाहा!

भगवान! तू तुझमें जब तक न आवे, तब तक परवस्तु की ममता (में) तुझे 'मेरा' ऐसा नहीं मिटेगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! तू तुझमें अर्थात् तेरा अर्थात् ज्ञान और आनन्द। आहाहा! तेरा अर्थात् ज्ञान और आनन्द, वह तेरा भाव और तेरा स्वभाव। ... और वह तू। उसमें न आवे तब तक परवस्तु में यह मुझे है, ऐसा उसे नहीं छूटेगा। आहाहा! कहीं न कहीं उसे लप रह जायेगी। आहाहा!

तेरे दुःख का अन्त नहीं आयेगा;... आहाहा! जो तेरा स्वभाव है ज्ञान और आनन्द, उसमें आये बिना पर (के लिये) मेरेपने की बुद्धि इसे नहीं छूटेगी। तब तक इसके दुःख का अन्त नहीं आयेगा। आहाहा! भले फिर बड़ा पण्डित होकर घूमे। साधु नाम धराकर घूमे। हम प्रतिमाधारी हैं। आहाहा! परन्तु जिसने ज्ञान और आनन्द का

स्वभाव मेरा है, ऐसा देखा नहीं, जाना नहीं, आया नहीं, उसमें आया नहीं। आहाहा! उसे कहीं पर में मेरापना आये बिना रहेगा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए बहिरात्मपना छोड़कर, आत्मस्वरूप में स्थित हो... अर्थात् कि बाह्य चीज़ में मेरेपन का मानना छोड़कर; जो चीज़ तुझमें है, उसमें आकर... आहाहा! **आत्मस्वरूप में स्थित हो—यही सुख का उपाय है।** जो इसका स्वभाव है भगवान आत्मा का ज्ञान और आनन्द, शान्ति और स्थिरता। उस स्वभाव में आने से पर की एकताबुद्धि छूटने पर वह सुखी होगा। आहाहा! वह सुख का उपाय है। वह सुखी होगा। यह पाँच-पचास लाख मिले और यह लड़के हुए और सुखी हुए, (ऐसा नहीं है)।

वह कहता था भाई! अतुल-अतुल। भाई अतुल नहीं? घीया। वह उलझ गया है बेचारा। उलझ गया है। दो बार मेरे पास आया था। पहले अहमदाबाद और फिर... उसे बेचारे को ऐसा। उसने दूसरा विवाह किया होता तो सुखी होता वह। हम सुखी होते। क्या बोलता है कहा? लालभाई की पुत्री। आत्महत्या की है न? उसे आघात हुआ है लड़के को। चारों ओर से मुख फीका पड़ गया। ऐसे बोला हमारे पास। उसे यदि अन्यत्र विवाह होता तो वह सुखी होती, हम भी सुखी होते। ऐसा सुखी अर्थात्? हमको यह सिरपच्ची नहीं आती। सुखी होते, ऐसा बोला। आहाहा! जगत की चीज़।

और वहाँ आहार लेने आये थे वहाँ जूनागढ़। वह भूल गया। वह उलझन में। दोनों लोगों ने आहार दिया था इस यात्रा में। मैंने नजर भी की थी उस पर। उसे बराबर नहीं था कुछ चैन। जूनागढ़ गये थे न? माघ शुक्ल दूज, तीज, चौथ, पंचम—चार दिन। वहाँ आहार दिया था दोनों लोगों ने। वह कहे, मुझे खबर नहीं। अतुल कहे। उलझन में आ गया है बेचारा। आहाहा! क्या जगत की चीज़!

मुमुक्षु : अहमदाबाद में आया था अतुलभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह वहाँ राजकोट आया था। पहले अहमदाबाद आया था। वहाँ आया था, वहाँ भी आया था अकेला। भाई बाबूभाई के घर में और यहाँ आया था, दो बार यहाँ राजकोट। अकेला आया था। यह बातें तब करता था। आहाहा! क्या

लोग ? नहीं तो वह तो करोड़पति है। करोड़पति। सवा करोड़ रुपये। उसके लड़के का लड़का है। परन्तु धूल में भी नहीं। आहाहा!

मुझे ऐसा हुआ! मेरे ऐसा हुआ! परन्तु तू कौन ? तू तो ज्ञान और आनन्द। उसमें क्या हुआ तुझे ? तूने माना कि मुझे ऐसा हुआ। इस शरीर में ऐसा हुआ, स्त्री मर गयी, अमुक ऐसा हुआ। उसके कारण हैरान हुआ, परन्तु किसके कारण ? यह तो वह मानी हुई बात है। आहाहा!

कहते हैं, **बहिरात्मपना छोड़कर, आत्मस्वरूप में स्थित हो — यही सुख का उपाय है।** ५७ हुई।

श्लोक - ५८

नन्वेवमात्मतत्त्वं स्वयमनुभूय मूढात्मनां किमिति न प्रतिपाद्यते येन तेऽपि तज्जानन्त्विति वदन्तं प्रत्याह -

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः॥ ५८॥

मूढात्मानो मां आत्मस्वरूपमज्ञापितमप्रतिपादितं यथा न जानन्ति मूढात्मत्वात्। तथा ज्ञापितमपि मां ते मूढात्मत्वादेव न जानन्ति। तत् स्तेषां सर्वथा परिज्ञानाभावात्। तेषां मूढात्मनां सम्बंधित्वेन वृथा मे ज्ञापनश्रमो विफलो मे प्रतिपादन-प्रयासः॥५८॥

इस प्रकार आत्मतत्त्व का स्वयं अनुभव करके, मूढ़ आत्माओं को क्यों नहीं समझाते, जिससे वे भी यह जाने — ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं —

कहूँ ना कहूँ मूढ़जन, नहीं जाने निजरूप।
समझाने का श्रम वृथा, खोना समय अनूप॥ ५८॥

अन्वयार्थ **- स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है कि (यथा) जैसे (मूढ़ात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव, (अज्ञापितं) बिना बताए हुए (मां) मेरे आत्मस्वरूप**

को (न जानन्ति) नहीं जानते हैं, (तथा) वैसे ही (ज्ञापितं) बतलाये जाने पर भी नहीं जानते हैं; (ततः) इसलिए (तेषां) उन मूढ पुरुषों को (मे ज्ञापन श्रमः) मेरा बतलाने का परिश्रम (वृथा) व्यर्थ है, निष्फल है।

टीका **- जैसे-मूढ़ आत्माएँ मुझे अर्थात् आत्मस्वरूप को बिना कहे (बिना समझाये) मूढ़ात्मपने के कारण नहीं जानते; इसी तरह कहने पर भी वे मुझे (आत्मस्वरूप को) मूढ़ात्मपने के कारण ही नहीं जानते; इसलिए उनके सर्वथा परिज्ञान का अभाव होने से, उन मूढ़ात्माओं के सम्बन्ध में बोध करने का (उनको कहने का-समझाने का) मेरा श्रम वृथा (व्यर्थ) है अर्थात् उनको वह स्वरूप समझाने का मेरा प्रयास विफल (व्यर्थ) है।**

भावार्थ - आत्मानुभवी ज्ञानी जीव विचारता है कि जैसे मूढ़ जीव, अज्ञानता के कारण, बिना समझाये आत्मस्वरूप को नहीं जानते; इसी तरह उनको आत्मस्वरूप समझाया जावे तो भी वे मूढ़पने के कारण समझनेवाले नहीं हैं; इसलिए उनको आत्मस्वरूप समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है क्योंकि उनके लिए समझाना या न समझाना— दोनों समान हैं।

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानी, मूर्ख जीवों को आत्मस्वरूप समझाने में उदासीन होते हैं क्योंकि —

१. मूर्ख जीव, बहिर्मुख होते हैं। उनकी दृष्टि बाह्यविषयों की ओर ही होती है। उनको आत्मस्वरूप जानने की जिज्ञासा अथवा रुचि, बिलकुल नहीं होती। वे सदा विषयों में ही रत होते हैं।

२. 'मैं दूसरों को समझा दूँ'—ऐसी बुद्धि, ज्ञानियों के नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि कोई किसी को समझा नहीं सकता। उनको भलीभांति ख्याल में आता है कि 'प्रत्येक पदार्थ, अपनी-अपनी मर्यादा में स्वयं परिणमता है; कोई किसी के आधीन नहीं है[१], कोई पदार्थ, किसी का परिणमाया परिणमता नहीं है।' एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता—ऐसा विश्व का अफरनियम है;[२] इसलिए ज्ञानियों को पर के सम्बन्ध में कर्ताबुद्धि बिलकुल नहीं होती।

---

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-५२ २. श्री समयसार, गाथा-१०३

३. ज्ञानी को अस्थिरता के कारण कदाचित् पर को समझाने का विकल्प उत्पन्न होता है परन्तु अभिप्राय में उसका निषेध है क्योंकि भाषावर्गणा का परिणमन, विकल्प से निरपेक्ष है-स्वतन्त्र है। विकल्प के कारण, उपदेश-वाणी निकलती है- ऐसा वे कभी नहीं मानते।

४. मेरा स्वरूप तो जानना-देखना ही है, इसके अतिरिक्त मैं अन्य कुछ नहीं कर सकता। यदि कुछ करने का विकल्प उठता है तो राग उत्पन्न होता है। वाणी का तो मैं कभी कर्ता हूँ ही नहीं और वास्तव में विकल्प का भी कर्ता नहीं हूँ।

५. चैतन्यस्वरूप, स्वसंवेदन गम्य है; उसे वाणी या विकल्प द्वारा अन्य को समझाया जा सके, वैसा नहीं है।

इसलिए ज्ञानी मुख्यतया अन्य को उपदेश देने की प्रवृत्ति में नहीं पड़ते; वे तो सदा अपना आत्महित साधने में ही तत्पर रहते हैं। उनको कदाचित् उपदेशादि की वृत्ति उत्पन्न होती है तो उसकी मुख्यता नहीं है; उस समय भी उनको चैतन्यस्वरूप की ही भावना होती है।

परोपदेश की प्रवृत्ति का विकल्प, वह शुभराग है; वह आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बाधारूप है; इसलिए उस राग के व्यामोह में पड़कर, ज्ञानी कभी आत्महित को नहीं भूलते हैं।

'जगत के जीव, उनके कर्म, उनकी लब्धियाँ आदि अनेक प्रकार के हैं; इसलिए सभी जीव समान विचार के हों, यह होना असम्भवित है; अतः परजीवों को समझा देने की आकुलता करना योग्य नहीं है। स्वात्मावलम्बनरूप निजहित में प्रमाद न हो, वैसे रहना ही कर्तव्य है।'[१] ॥५८॥

---

१. णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी। तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥

अर्थात् नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार का कर्म है, नाना प्रकार की लब्धि है; इसलिए स्वसमयों तथा परसमयों के साथ (स्वधर्मियों तथा परधर्मियों के साथ) वचनविवाद वर्जनेयोग्य है।

(श्री नियमसार, गाथा १५६ व अर्थ)

श्लोक - ५८ पर प्रवचन

५८, अब आचार्य कहते हैं **इस प्रकार आत्मतत्त्व का स्वयं अनुभव करके, मूढ़ आत्माओं को क्यों नहीं समझाते,...** ऐसा प्रश्न किया है, लो। महाराज! आप तो आत्मतत्त्व को जानते हो तो मूढ़ आत्माओं को समझाओ न! बेचारे मूढ़ हैं, उन जीवों को। आहाहा! देखो, एक शैली ली है। **जिससे वे भी यह जाने—ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं—** है न?

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः॥ ५८॥

कहूँ ना कहूँ मूढ़जन, नहीं जाने निजरूप।
समझाने का श्रम वृथा, खोना समय अनूप॥ ५८॥

आहाहा! **टीका - जैसे-मूढ़ आत्माएँ मुझे अर्थात् आत्मस्वरूप को बिना कहे (बिना समझाये) मूढ़ात्मपने के कारण नहीं जानते;...** आहाहा! **मूढ़ आत्माएँ मुझे अर्थात् आत्मस्वरूप को बिना कहे (बिना समझाये) मूढ़ात्मपने के कारण नहीं जानते; इसी तरह कहने पर भी वे मुझे (आत्मस्वरूप को) मूढ़ात्मपने के कारण ही नहीं जानते;...** मूढ़ है, वे नहीं जानते। आहाहा! किसका व्यर्थ किसे उपदेश करेगा? आहाहा! **मूढ़ आत्माएँ मुझे अर्थात् आत्मस्वरूप को बिना कहे (बिना समझाये) मूढ़ात्मपने के कारण नहीं जानते;...** तो कहने से भी नहीं जानते। ऐसा कहते हैं। यह तो उसे जानना मूढ़ हो गया है न? आहाहा!

वे मुझे (आत्मस्वरूप को) मूढ़ात्मपने के कारण ही नहीं जानते;... वह मूढ़ है, इसलिए नहीं जानता। **इसलिए उनके सर्वथा परिज्ञान का अभाव होने से,...** भान ही नहीं होता, कहते हैं उसे। आहाहा! पागल हो गया, उसे क्या समझाना हमारे? आहाहा! ऐसा कहकर उपदेश के वाक्य क्या करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा! विकल्प किसलिए करना, ऐसा कहते हैं। क्या कहा यह?

वे लोग आत्मा के स्वरूप को मूढ़ता के कारण जानते नहीं। तो मेरे कहने से भी

मूढ़ता के कारण नहीं जानेंगे। आहाहा! उसे जानने का भाव जब जगेगा, तब जानेंगे। आहाहा! मार्ग यह। समाधिशतक है। आहाहा! दूसरे को समझाने से भी नहीं समझते, भाई! कहीं-कहीं उसे उल्टा तर्क निकालेगा। लो। यह! बस! किसी का कुछ कर नहीं सकता? पंगु जीव। शरीर का नहीं कर सकता? तो कौन करता है पूरे दिन? यह हाथ ऊँचा किया, भाई ने कहा था। वह वकील चीमनचकू। स्थानकवासी का प्रमुख है न वहाँ मुम्बई। यहाँ उसमें था (संवत्) १९९७ में। मैंने कहा, बापू! पर का यह किया, लो! भाई! उसमें क्या हुआ तुझे खबर नहीं। मैंने यह किया, ऐसा बोले, लो। आहाहा! भाई! कहा, उसमें क्या हुआ, इसकी खबर नहीं। वह तेरी पर्याय में क्या हुआ? और उसकी पर्याय में कैसे उस काल में हुआ? इसकी तुझे खबर नहीं। ऐसा बड़ा वकील और दिमाग में, बाहर में सेवा की इसलिए... हम सबकी सेवा करते हैं। अभी भाषण आया था। श्रद्धा वेदान्त की। आहाहा!

जैन परमेश्वर वीतराग क्या कहते हैं, वह नहीं। बस वह वेदान्त। सर्वव्यापक ऐसा है न! पढ़-पढ़कर स्वाध्याय में से यह निकाला। आहाहा! अरर! यह स्थानकवासी के वापस वह प्रमुख कहलाये। यह सुशील वहाँ नहीं था कल वाँचने आया था। मैं स्थानकवासी नहीं। मैं तो जाता हूँ, लो। स्थानकवासी साधु है न सुशील? वह ऐसा अर्थ करता था णमो लोए सव्व साहूणं। देखो इसमें कहाँ कहा जैन के साधु को नमस्कार करना? सब साधु। णमो लोए सव्व साहूणं। अरे... परन्तु... साधु थे ही कब दूसरे? वीतरागमार्ग के अतिरिक्त, वीतरागमार्ग की दृष्टि, ज्ञान और रमणता, वह अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती।

सव्व में वह तो वह के वह। णमो लोए सव्व अरिहंताणं। ऐसा कहा है लो। णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो त्रिकालवर्ती, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं। वह तो स्वरूप को साधे, सर्वज्ञ ने कहा हुआ, परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव ने कहा हुआ जो आत्मा और उन्होंने कहे हुए तत्त्व, उसे अन्तर में अनुभव करके जो अन्तर में स्थिर होता है, साधता है, उसे यहाँ साधु कहते हैं। समझ में आया? दूसरा वेश पहने, इसलिए साधु हो गया, (ऐसा नहीं)। जैन भी द्रव्यलिंग धारण किया नग्नपना और पंच महाव्रत की क्रिया, वह कोई साधुपना नहीं है। आहाहा!

साधुपना तो स्वरूप का साधन। जिसके साध्य में केवलज्ञान प्रगटे। आहाहा! वह स्वाभाविक वस्तु है केवलज्ञान, तो उसका साधन / उपाय भी स्वाभाविक है। उसमें परद्रव्य का सहारा नहीं है। आहाहा! ऐसे बिना साधु... अब यह अभी जाते हैं। महावीर का सन्देश देने परदेश में (जाते हैं)। अभी स्वयं को भान नहीं होता, भगवान क्या कहते हैं? वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ, ऐसा कहीं है नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर ने और वह भी दिगम्बर सन्त। आहाहा! ऐसी वाणी और ऐसा स्वरूप कहीं नहीं है। लोगों को परीक्षा नहीं होती और जहाँ-तहाँ भटकते हैं। रजनीश ऐसा बोलता है, अमुक ऐसा। अब धूल भी बोलता नहीं।

... बड़ा स्वागत। एक दुकान के पास गये, वहाँ बड़ा स्वागत। एक बड़ी पुस्तक। भगवान रजनीश। अरे..! मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव ने कहा हुआ आत्मा, जिनेश्वरदेव ने कहे हुए नवतत्त्व, उसकी कहाँ खबर है उसे? आहाहा! जिसके पन्थ में सर्वज्ञ नहीं, जिसके मत में सर्वज्ञस्वभावी माना नहीं, उसे पर्याय में सर्वज्ञपना नहीं आता, उसके मत की एक भी बात सत्य नहीं होती। आहाहा!

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर साक्षात्, इसका स्वभाव सर्वज्ञ है—जीव का स्वभाव ही सर्वज्ञ है। यह सर्वज्ञ ध्रुव स्वरूप है। समझ में आया? जीव का सर्वज्ञस्वभाव ध्रुवस्वरूप है। ध्रुव सर्वज्ञ। आहाहा! उसका आश्रय लेकर पर्याय में जो सर्वज्ञपना हो और उन्होंने जो देखा, जाना, वह सत्य। बाकी सब कल्पना से बातें करे, वह सत्य को मिलान नहीं खाती। आहाहा! समझ में आया? सर्वज्ञपर्याय जो होती है, वह सर्वज्ञ ध्रुवस्वरूप है। चैतन्य का सर्वज्ञ (स्वभाव) ध्रुवस्वरूप है। आहाहा! परमपारिणामिकभाव से वह ध्रुवस्वरूप है। उसे अवलम्बन कर जो सर्वज्ञदशा होती है, वे सर्वज्ञ सच्चे और उन्होंने जाना वह सच्चा। बाकी कल्पना के सर्वज्ञ मनावे, ऐसा नहीं चलता, बापू! यह तो वीतरागमार्ग है। आहाहा! यहाँ पण्डिताई का कुछ काम नहीं है। तत्त्व क्या है? वीतराग परमेश्वर ने आत्मा, उन्होंने जड़, उसका राग वह किसे कहा? आहाहा!

उन्होंने तो ऐसा कहा '**परदव्वादो दुग्गइ**' आहाहा! गजब बात है न। भगवान की वाणी में ऐसा आया कि हम परद्रव्य हैं तेरे हिसाब से। तेरे हिसाब में हम... हमारे प्रति

लक्ष्य करेगा तो राग होगा। और वह राग दुर्गति है। वह सिद्धपद को नहीं देगा। दुर्गति को देगा, देवगति, वह सब दुर्गति है। आहाहा! ऐसी वाणी वीतराग के अतिरिक्त, दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं है। उसकी परीक्षा करने जाये तो खबर पड़े। ऐसा का ऐसा मान ले, ऐसा नहीं। आहाहा! देखो न! सन्त ऐसा कहते हैं, हमको तुम मानोगे तो तुमको राग है। आहाहा! क्योंकि हम परद्रव्य हैं। तेरा लक्ष्य हमारे प्रति जायेगा तो तुझे राग होगा। आहाहा! परम सत्य। परम सत्य का पुकार है।

णमो लोए सव्व साहूणं में यह दिगम्बर सन्त सच्चे हों, वे आते हैं। श्वेताम्बर भी नहीं आते और अन्यमति भी नहीं आते। बाबूभाई! आज एक पत्र आया है, कोई तुम्हारे अहमदाबाद का। विवाद वहाँ अहमदाबाद में, संघ में व्यवस्थित नहीं न! कहीं कहीं फूट है। वह भूराभाई। रतिलाल भूराभाई वे कहीं जाते होंगे श्वेताम्बर में ऐसा कुछ। पहले भी किसी का पत्र आया था और आज भी आया है। तीन तो भाग पड़ गये हैं मण्डल में, ऐसा कहते हैं। यह और चौथा पड़ेगा, ऐसी सब बातें करेंगे। अब यह चन्दुभाई गाँव में हैं और ऐसा होगा? ....भाई! आहाहा! कहते हैं, मूर्ख तो अपने आप मूर्ख हुए हैं। अब यह मैं समझाऊँगा तो भी वह मूर्खता नहीं टालेंगे। आहाहा! इसलिए मैं किसे समझाऊँ? ऐसा कहकर विकल्प को तोड़ने की बात (है)। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ४, शुक्रवार, दिनांक २७-६-१९७५, श्लोक-५८, प्रवचन-७३

इसका भावार्थ। यहाँ समाधितन्त्र चलता है न? अर्थात् समाधि से विरुद्धभाव का निषेध करते हैं। कहते हैं, **आत्मानुभवी ज्ञानी जीव विचारता है कि जैसे मूढ़ जीव, अज्ञानता के कारण, बिना समझाये आत्मस्वरूप को नहीं जानते;...** बिना समझाये जानता नहीं तो समझाने से भी जानता नहीं, ऐसा कहना है। आहाहा! उनकी योग्यता के अतिरिक्त वह जानेंगे नहीं। **इसी तरह उनको आत्मस्वरूप समझाया जावे तो भी वे मूढ़पने के कारण समझनेवाले नहीं हैं; इसलिए उनको आत्मस्वरूप समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है...**

मुमुक्षु : अज्ञानी अपने को ही ऐसा मानता होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही मानता है, तथापि यह कहते हैं कि तुम ऐसा मानते हो, तब बोलते किसलिए हो? ऐसा सामने प्रश्न करते हैं न लोग?

मुमुक्षु : ऐसा उसे वापस समझाने का विकल्प तो उठे।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो कहते हैं न! विकल्प उठा है, तथापि वह निरर्थक है, ऐसा सिद्ध करना है।

यह आत्मा की बात... आहाहा! जिसके अनन्त गुण और अनन्त स्वभाव जो गुणों की संख्या का अन्त नहीं। ओहोहो! जिसके भूतकाल की आदि का अन्त नहीं, उसकी अपेक्षा भी जीव के गुण अनन्तगुणे। आहाहा! यहाँ अन्त नहीं, उससे अनन्तगुणे। भविष्यकाल से अन्त नहीं। उसका अन्त नहीं, क्या कहते हैं यह? उससे भी जीव के गुण अनन्तगुणे। जिसका क्षेत्र से अन्त नहीं, उससे अनन्तगुणे। यह वह बात यह। ऐसे गुणों का स्वरूप उसे समझाना, बिना समझे भी वह समझता नहीं, बिना समझाये, तथा यह समझाने से भी मूढ़ जीव हो, वह नहीं समझता।

इसलिए कहते हैं उसे समझाना, 'उसके सन्दर्भ में समझाना या नहीं समझाना- दोनों समान हैं।' यह तो विकल्प है, वह असमाधि है, यह सिद्ध करना है। समझाने का विकल्प उठा, वह भी असमाधि है। आहाहा! लिखने के समय उठा तो है। तब ऐसा

कहते हैं, बापू! यह वास्तव में यह विकल्प मेरा कर्तव्य नहीं है और विकल्प में, गुण हैं, वे कहीं विकल्प में नहीं आते। और यह विकल्प है, वह वाणी में नहीं आता। समझ में आया? आहाहा! वाणी, वाणी के कारण से निकलती है, विकल्प के काल में विकल्प हो, इससे वाणी निकलती है—ऐसा भी नहीं है। और समझाने का ज्ञान का क्षयोपशम है, वह विकल्प में नहीं आता। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी दिन तो मिलान खाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। उसमें आता नहीं। मेल भले खाये। ऐसा ही विकल्प और ऐसी ही वाणी निकले, परन्तु निकले उसके कारण से। यहाँ ज्ञान का क्षयोपशम है कि ऐसा समझाना, इसलिए ऐसी वाणी वहाँ निकलती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! जैसा क्षयोपशम में समझाने का भाव है कि ऐसा ज्ञान है, ज्ञान। ऐसा ही ज्ञान का विकल्प उठे कि ऐसा समझाऊँ, परन्तु उस विकल्प में कहीं यह ज्ञान की समझण उसमें नहीं आती। आहाहा!

मुमुक्षु : उपाध्यायपना तो कहीं रहा ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपाध्याय। कहते हैं न, उनके पास सीखा हूँ। यह सब व्यवहार है और व्यवहार, वह विकल्प है। आहाहा! यह कहते हैं। उसे समझाऊँ तो भी नहीं समझता और नहीं समझाये तो भी नहीं समझता। आहाहा! कुछ इसमें से निकालेगा उल्टा। तुम ऐसा कहते हो, निश्चय हो जाता है, व्यवहार का लोप हो जाता है, अमुक हो जाता है। अमुक होता है। (विवाद) निकालेगा, बापू! समझेगा नहीं। आहाहा! जिसकी समझने की योग्यता नहीं, वह कहाँ से समझे? यह विकल्प आया, वाणी वाणी के कारण से निकले। यह विकल्प का भी कर्ता नहीं और वाणी का भी कर्ता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। जहाँ अनन्त गुण—अन्तरहित संख्या से, उसका जहाँ ज्ञान और प्रतीति हुई, उस प्रतीति में कितनी सामर्थ्यता है! उस सामर्थ्य के समक्ष विकल्प उठे, उसकी कुछ कीमत नहीं। यहाँ ऐसा कहते हैं। ऐसा कहना है। ओहोहो!

कलश में तो ऐसा भी कहा है, श्रुतज्ञान है, वह विकल्पवाला है—ऐसा कहा है। कलश में आता है दो जगह। है सही श्रुतज्ञान तो विकल्प बिना का भी श्रुत में कहा ऐसा

जो विकल्प उठता है न, इससे उसे विकल्पवाला कहते हैं। कलश में दो जगह है। कलश में दो जगह है। अर्थात् अनुभव है, वह श्रुत के विकल्प से रहित, ऐसा सिद्ध करना है। अनुभव जो है, वह तो श्रुत के विकल्प से रहित है, भेद से रहित है। आहाहा! वह तो अनुभवगम्य ही आत्मा है। कोई विकल्पगम्य कहे, सुनने से गम्य हो, ऐसा आत्मा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : सुमनभाई को घर छोड़कर यहाँ आना किसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई! तथापि शास्त्र में—धवल में आता है। सुनो। एक 'सुनो' पर बड़ी व्याख्या की है। यह तो आवे, विकल्प आवे, तब यह शैली हो। सुनो, ऐसा। इसके ऊपर तो बड़ी व्याख्या ली है एक श्लोक की। आहाहा! ऐसी स्याद्वाद शैली वीतराग की है कि यह विकल्प आवे, परन्तु विकल्प निरर्थक है, ऐसा सिद्ध करने के लिये समाधि को स्थापित किया है। सुननेवाले को विकल्प है, वह असमाधि है। सुनानेवाला... आहाहा! ऐसी बात है। अरेरे! यह तो वीतराग, वस्तु वीतरागस्वरूप आत्मा है। उसमें विकल्प उठे... अनन्त गुण, अनन्त गुण वीतरागस्वभाव से, वीतरागभाव से अन्दर बुने हुए हैं। क्योंकि वीतरागस्वभाव है तो अनन्त गुण वीतराग के भाव से अविनाभाव रहे हुए हैं। उसमें एक विकल्प तो एक गुण की विपरीत पर्याय। आहाहा! दोष है।

श्रीमद् में आता है कि एक जीव को भी यथार्थ धर्म प्राप्त करावे, तीर्थंकरगोत्र बाँधे। परन्तु बाँधे न? पोपटभाई प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसा आता है अन्दर। एक जीव को भी... आहाहा! क्या अपेक्षा है, वह जानना चाहिए। यह पुण्य का बन्ध वहाँ पड़ता है। अबन्धस्वरूपी भगवान अबन्धस्वरूपी स्वरूप उसका है। निश्चय से देखें तो नास्ति से (देखें) तो अबन्ध, अस्ति से मुक्तस्वरूप ही है। मोक्षस्वरूप ही भगवान है। मात्र माना था कि मैं रागवाला हूँ। यह मान्यता छूटी तो वस्तु है, वह है। मुक्तस्वरूप ही है। ऐसा जो भगवान आत्मा, कहते हैं, दूसरे को समझाना या न समझाना दोनों समान है।

विशेष - ज्ञानी, मूर्ख जीवों को... मूढ़ शब्द है सही न! **आत्मस्वरूप समझाने में उदासीन होते हैं...** आहाहा! मैं दूसरे को समझा दूँ और वह समझ जाये।

मुमुक्षु : ....समझावे...

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन समझावे ?

भोपाल में ४०-४०, ४५ हजार लोग। ऐई... बड़ा पण्डाल खचाखच भर गया। लोग ६० हजार कहते थे। ४० होंगे ४०। वह तो उसकी योग्यता प्रमाण वाणी आवे, विकल्प के काल में विकल्प हो। इससे दूसरे समझ जायें, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! उसमें भी तूफान उठाया था न एक बार। थोड़े लड़कों ने उकसाया था वहाँ कुछ। वह पूरा हो गया और अपने क्या कहलाता है ? तीर्थ का। यहाँ का तीर्थ का अलग है न ? तीर्थ का। क्या कहलाता है ? पैसे का। पैसे का। वह फण्ड का। यह तीर्थक्षेत्र। यह वहाँ हुई थी। पूरी हुई वहाँ कितने ही लड़के पूरा होने के बाद आये। यहाँ पैसे नहीं भरने देंगे। क्योंकि पूरा हो गया था। वह तो स्वतन्त्र है। और कोई तो ऐसा कहता था कि हमने किया वह सब ऐसा राजकुमारसिंहजी का वचन था कि ऐसा नहीं भरने देना। लोग कहे बहुत प्रकार के। संसार ऐसा है। आहाहा!

यहाँ तो समझाने का विकल्प उठा, वह भी दुःखरूप है—ऐसा सिद्ध करना है।

मुमुक्षु : उन्मत्त....

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्मत्त चेष्टा, ऐसा कहे। मैं दूसरे से समझूँ, मैं दूसरे को समझाऊँ, उन्मत्त चेष्टा है। आहाहा! उसमें उसे अभिमान आ जाता है कि मैंने दूसरे को खास समझाया और यह पुस्तक बनायी। यह मैंने किया, यह मैंने इतनी विक्रय की, सस्ते भाव में विक्रय की, यह ऐसा हुआ। वह यहाँ तुम्हारे सस्ते भाव में देते हैं न। इसके लिये तो पैसे देते हैं बेचारे। सस्ते भाव के लिये। अरे! कौन दे ? कौन ले ? आहाहा!

मूर्ख जीव, बहिर्मुख होते हैं। देखा! बहिर्मुख उसकी दृष्टि निमित्त के ऊपर या राग पर या एक समय की पर्याय बहिर्मुख है, उसके ऊपर है। आहाहा! क्योंकि पर्याय के पीछे पूरा द्रव्य जो है, वह तो अप्रगट है। उसकी पर्याय में वह द्रव्य आया नहीं। और एक समय की जो पर्याय है, उसका झुकाव ऐसा है राग के ऊपर। पर्याय का बहिर्मुख झुकाव है। आहाहा! जो जिसकी पर्याय है, उसके सन्मुख न होकर; जिसकी नहीं, उसकी ओर का उसका झुकाव अनादि का है। आहाहा!

मूर्ख जीव, बहिर्मुख होते हैं। उनकी दृष्टि बाह्यविषयों की ओर ही होती है। विषय अर्थात् बाहर झुकाव। विषय अर्थात् एकदम शब्दरूप, उसमें राग पर उसका झुकाव वहाँ है। बहिर्मुख दृष्टि। आहाहा! क्योंकि **उनको आत्मस्वरूप जानने की जिज्ञासा...** ओहो! अनन्त आनन्द का सागर, अनन्त प्रभुता की शक्ति से निर्मित प्रभु, अनन्त प्रभुता के गुण उसमें हैं। उसे जानने की इसे अन्तर जिज्ञासा है। यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... बहिर्मुख दृष्टि। मन्दिर बनाऊँ, दान दूँ, लोगों में प्रसिद्ध होऊँ, लोग मुझे अच्छा कहे, ऐसी अज्ञानी की दृष्टि बाह्य के ऊपर है। आहाहा!

यह कहते हैं, **उनको आत्मस्वरूप जानने की जिज्ञासा अथवा रुचि, बिलकुल नहीं होती। वे सदा विषयों में ही रत होते हैं।** अर्थात् परसन्मुख के झुकाव में रत होता है, ऐसा। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में परसन्मुख के झुकाव में ही उसका रत होना है। अन्तर्मुख चीज़ क्या है, उसकी ओर उनका लक्ष्य नहीं। भगवान महा परमात्मा विराजता है। उसके सन्मुख और उसका माहात्म्य उन्हें नहीं है। एक समय की पर्याय में ऐसे विकल्प में झुकाव है। दया पालन की, भक्ति की, व्रत लिये और तप किये। आहाहा! इससे यह विषयों में रत अर्थात् परसन्मुख में लीन है।

२. 'मैं दूसरों को समझा दूँ'—ऐसी बुद्धि, ज्ञानियों के नहीं होती,... आहाहा! **क्योंकि वे जानते हैं कि कोई किसी को समझा नहीं सकता।** कहो, सुजानमलजी! आहाहा! यह करना, ऐसा लिखा है न! ज्ञानानन्द में रहना। कर्तव्य तो यह है। आहाहा! **क्योंकि वे जानते हैं कि कोई किसी को समझा नहीं सकता।** अर्थात् अन्दर में जोर न आवे, ऐसा कहते हैं। विकल्प आवे परन्तु उसका कर्ता नहीं होता, उसका जाननेवाला रहता है। इसलिए जोर नहीं आता उसमें, कि इसे समझा दूँ और यह समझ जाये। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी भाषा व्यवहार से तो ऐसी ही आवे न! श्रुत, परिचित, अनुभूता। राग से रहित ऐसा भगवान आत्मा, उसकी बात यह सुनी नहीं। यह तो बराबर कहे न! राग की बात वहाँ सुनी है कि पुण्य करना, दया पालना, भक्ति करना और राग को भोगने की बात तूने सुनी है, परन्तु रागरहित एकत्वस्वभाव भगवान आत्मा, राग से

विभक्त, (स्व)भाव से एकत्व की बावत तूने सुनी नहीं। यह तो उसका स्वरूप कहते हैं। सुनानेवाला भी ऐसा कहता है। आहाहा! ऐसा तो मार्ग हेय है।

नहीं तो यहाँ कहे, तुम कहते हो... शास्त्र बनाया। विकल्प किसलिए किया? बापू! सुन न! ऐसे नहीं पकड़ा जाता। विकल्प आवे और वाणी के काल में वाणी निकले। विकल्प आये, इसलिए वाणी निकले ऐसा नहीं और वाणी निकलने की है, इसलिए विकल्प आया ऐसा नहीं और विकल्प आया, इसलिए आत्मा ने किया है, ऐसा नहीं। आहाहा! स्वभाव क्या करे? ज्ञानस्वभाव राग के कण को कैसे करे? राग के कण को करे तब तो निर्विकारीस्वभाव विकार का है, ऐसा इसने माना। सूक्ष्म बात है, भाई! जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक है।

कहते हैं, **उनको भलीभांति ख्याल में आता है कि 'प्रत्येक पदार्थ, अपनी-अपनी मर्यादा में स्वयं परिणमता है;...** आहाहा! **कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई पदार्थ, किसी का परिणमाया परिणमता नहीं है।** मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है न? समयसार, गाथा-१०३, ३७२। आहाहा! **एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता...** एक वस्तु दूसरी चीज़ को कुछ नहीं कर सकती। उसे लाभ नहीं दे सकती, उसे नुकसान नहीं कर सकती। आहाहा!

मुमुक्षु : लोगों को जेल में भेजते हैं...

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन भेजे? वह तो उसे विकल्प आया। खलबलाहट हो गया अभी देश में। वहाँ वकील था, कहते हैं छुट्टी ले ली। वहाँ किसी की शक्ति ऐसी है कि मस्तिष्क कुछ। तीन लाख रुपये का ... माँगे ऐसा ... है। पारसी है न कोई। पालखीवाला। कोई कहता था, वह सुना है। अपने ... कहते थे मस्तिष्क के तीन लाख माँगता है। तीन लाख में मस्तिष्क हमको दो। कहो। यह कहते हैं न वे। कोई और दूसरा कहा था। कोई कहता था। लश्कर का एक बड़ा व्यक्ति है, वह पृथक् होना चाहता है, ऐसा कोई कहता था। परन्तु अभी बाहर प्रसिद्ध नहीं हुआ। खलबलाहट... खलबलाहट... है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? नहीं। नहीं। अपने को। अपने को पदवी का मोह।

आहाहा! खलबलाहट होगी लोगों में। कोई कहता था पत्थर मारे पूना में और अहमदाबाद में बस को। लड़के बात करते थे।

मुमुक्षु : आज बन्द है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्द? कहाँ? बड़ी खलबलाहट है, भाई! यहाँ खलबलाहट छोड़ने की बात है। समझाने का विकल्प उठे, वह खलबलाहट है, कहते हैं। आहाहा! अनन्त काल से विकल्प के जाल में रुककर यह चैतन्य को भूल गया है। शान्तरस का सागर प्रभु। अनन्त गुण... आहाहा! संख्या से जिनकी गिनती का अन्त न आवे। यह वह क्या चीज़ है? स्वभाव है न! काल का अन्त कहाँ? वैसे क्षेत्र का अन्त कहाँ? ऐसे भाव की संख्या का अन्त कहाँ? आहाहा!

एक समय में तीन काल के समय से भी एक समय में अनन्त गुण की पर्यायें अनन्तगुणी। ऐई! हिम्मतभाई! अब तीन काल की पर्यायें कितनी? पहला यह प्रश्न हुआ था। एक समय की पर्याय जो है, उसकी संख्या कितनी? कि तीन काल के समय से अनन्तगुणी संख्या। ऐसी पर्याय अनादि-अनन्त इसकी। वह कितनी? तीन काल से अधिक? अनन्त गुण की अनन्त पर्याय है न? गुण जो अनन्त हैं क्षेत्र से अनन्तगुणे, उनका अन्त नहीं, ऐसे यहाँ अन्त नहीं संख्या का। उसकी पर्याय भी इतनी ही है न? एक समय में अनन्त गुण की अनन्त पर्याय। वह अनन्त पर्याय कितनी हुई? कि क्षेत्र के काल से, क्षेत्र के क्षेत्र से एक समय की पर्याय अनन्त गुणी हो गयी। थोड़ी सूक्ष्म बात पड़ेगी। और ऐसी की ऐसी पर्यायें वापस अनन्त... अनन्त... अनन्त ऐसे अनन्त ऐसे। काल थोड़ा, उससे पर्याय अधिक, परन्तु वापस उसकी पर्याय का काल ऐसे गया न? आहाहा!

एक बार बात रखी थी। रात्रि में (रात्रिचर्चा में) बात। ओहो! निर्विकल्प सागर प्रभु पूरा पड़ा है। इन सबके परमाणु का ऐसा और पर्याय ऐसी और... एक प्रदेश से एक परमाणु जाये ऐसे और तब समय का माप वहाँ आ जाता है और इतने में वह कालद्रव्य है और एक प्रदेश एक परमाणु से—प्रदेश से हटकर दूसरे पर जाये, इतने में एक प्रदेश कहलाता है। एक प्रदेश में एक परमाणु जितनी जगह है, तथापि अनन्त रहते हैं, तथापि

उस प्रदेश का अन्त। परन्तु यह जानता कौन है ? यह तो सब बात हुई पर की। परन्तु उसे जाननेवाला कौन ? कि ऐसा है और वैसा है और ऐसा है। पोपटभाई!

वहाँ होता है, उसकी तो उसे खबर भी नहीं। परमाणु में ऐसे जाता है और उसकी एक समय की पर्याय वहाँ स्थित होकर पर्याय जितना वहाँ द्रव्य है इतने में। ऐसी उसे खबर है वहाँ? आहाहा! और एक समय में परमाणु चौदह राजुलोक जाये, उसे खबर है ? आहाहा! उस खबर का करनेवाला उससे भिन्न रहकर जानता है। आहाहा! ऐसा जो भगवान ज्ञानस्वरूपी श्रुतज्ञान में भी इतनी उसकी ताकत है। आहाहा! उसके माहात्म्य के समक्ष राग का माहात्म्य कहाँ रहा ? आहाहा!

उस चीज़ को, कहते हैं, समझाने में **कोई पदार्थ, किसी का परिणमाया परिणमता नहीं है।' एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता—ऐसा विश्व का अफरनियम है;...** विश्व का अफरनियम है। **इसलिए ज्ञानियों को पर के सम्बन्ध में कर्ताबुद्धि बिलकुल नहीं होती।** इस सम्बन्धी के ... में सेठिया को बहुत बारम्बार प्रश्न है। विश्व की व्यवस्था बराबर है, ऐसा बहुत भार दे। इसमें जरा बदल गया है बड़ा। ज्ञानी को दु:ख नहीं होता। ऐसा कहे कि ज्ञानी को आनन्द की मुख्यता से दु:ख गौण हो, कदाचित् ऐसा कहे। परन्तु वेदन की अपेक्षा से मुख्य-गौण है ही नहीं। आहाहा! वह तो मुख्यता की अपेक्षा से गौण है। परन्तु एक साथ गिने तो गौण है ही नहीं। आनन्द और दु:ख का वेदन एक समय में है। यह तो एक पर्याय के दो भाग। वस्तुस्थिति ऐसी है। उसमें किसी की की हुई कहाँ है ? यह वस्तु की ऐसी मर्यादा ही ऐसी है। आहाहा! भगवान ने तो बतलायी है, भगवान ने कहीं की है ? आहाहा!

इसलिए ज्ञानियों को पर के सम्बन्ध में कर्ताबुद्धि बिलकुल नहीं होती। ज्ञानी को परसम्बन्धी में ऐसे कर दूँ... ऐसा कर दूँ... इसके पास ऐसे जाऊँ... उसके पास ऐसे जाऊँ तो वह समझ जाये, फिर वह मेरी बात स्वीकार करे, स्वीकार करे तो मुझे अच्छा गिने। यह सब मिथ्यादृष्टि का भाव है। आहाहा! समझ में आया ? जादवजीभाई! ऐसा सूक्ष्म मार्ग है। आहाहा! नहीं आये, चले गये। यह रूपचन्द का लड़का आया था। ...सांगली, तीस वर्ष में मिला, लो! हमारा रूपचन्द था न भानेज ? उसका पुत्र आज

आया। सांगली में रहता है। कितने-३० वर्ष में आया। कुछ खबर नहीं होती। कमाना, कमाना न, आहाहा!

रूपचन्दभाई का पुत्र आया था। गंगाबहिन! खबर है? मिला? यह मेरे पास ३० वर्ष में आया। सांगली में रहता है एक अनजाना। अपना वह जसु आता है। हीरालाल कभी कहे। यह तो किसी ने देखा भी नहीं। रूपचन्द का पुत्र है। हमारी बहिन का पुत्र होता है दादा की पुत्री। अकेली मजूदरी करे। मजदूरी कहलाये न यह कमाने की। चला गया। आहाहा!

अरे! जीवन तो देखो कहाँ! बाहर में कहीं ठीक से आजीविका मिले और पद्धतिसर जीवन जाये तो हमने ठीक किया कहलाये। शान्तिभाई!

मुमुक्षु : यह तो दूसरे प्रमाण में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे प्रमाण में कुछ पद्धतिसर पैदा हो, पद्धतिसर पुत्र-पुत्री का विवाह और ऐसे ठीक कहलाये। अब उसमें धूल में क्या था? आहाहा!

तेरा भगवान चैतन्य अन्दर विराजता है। उसकी कीमत नहीं होती, उसका माहात्म्य नहीं आता। आहाहा! और बाहर की व्यवस्थितता रखने में जिन्दगी जाती है, समझ में आया? आहाहा! ज्ञानी तो विकल्प उठे, उसका भी कर्ता नहीं। आहाहा! तो उसे जोर विकल्प में नहीं आता। आहाहा!

३. ज्ञानी को अस्थिरता के कारण कदाचित् पर को समझाने का विकल्प उत्पन्न होता है... कदाचित् विकल्प उठे, आवे, **परन्तु अभिप्राय में उसका निषेध है...** आहाहा! अभिप्राय उसे स्वीकार नहीं करता। अभिप्राय में तो भगवान त्रिलोकनाथ का स्वीकार है। आहाहा! एक समय की अभिप्राय की पर्याय, जिसका अन्त नहीं संख्या से ऐसे अनन्त गुण का एकरूप, उसका जिसे अन्तर अभिप्राय बैठा। आहाहा! उसे एक गुण की विपरीत पर्याय का विकल्प का माहात्म्य क्या? समझ में आया? आहाहा! वह समझाने जाता है सुशील। परदेश में। मुँहपत्ती लेकर जायेगा या छोड़कर, होवे वह ठीक। आहाहा! किसे समझावे? बापू! आहाहा! समझाने के लिये कहाँ जाये, यह तू तो समझ अभी। आहाहा! विकल्परहित चीज़ है, वह वस्तु अनन्त गुण की जहाँ स्वीकार

करे, वहाँ विकल्प टूट जाये। संख्या बिना के गुण। संख्या बिना के अर्थात् ? बेहद गुणों का पिण्ड प्रभु, उसके सन्मुख होने पर ऐसा प्रभु अर्थात् उसे विकल्प की एकता रहती ही नहीं। आहाहा! समझ में आया ? और विकल्प की एकता रहे, वहाँ उसे अनन्त गुण, अनन्त-अनन्त संख्या से भरे हैं, इसकी उसे खबर नहीं। भले वह पढ़ा हो, शास्त्र की बातें भी करता हो। आहाहा! यह समाधितन्त्र है। यह समाधि है, यह सिद्ध करना है। आहाहा! धर्मी को विकल्प आवे, परन्तु वह असमाधि है। (वह) राग असमाधि का कर्तव्य कैसे स्वीकार करे ? आहाहा!

परन्तु अभिप्राय में उसका निषेध है क्योंकि भाषावर्गणा का परिणमन, विकल्प से निरपेक्ष है... क्या कहते हैं ? विकल्प उठे, उसका अभिप्राय में निषेध क्यों ? कि भाषावर्गणा जो निकलती है, उसे विकल्प की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? ऐई! आहाहा! **भाषावर्गणा का परिणमन, विकल्प...** की अपेक्षावाला नहीं। वह तो निरपेक्ष है। आहाहा! जैसे राग को पर की कोई अपेक्षा नहीं, वैसे वाणी निकलने के विकल्प की अपेक्षा नहीं। आहाहा! वाणी के काल में वाणी जड़ से निकलती है, उसे पर की अपेक्षा नहीं होती। निरपेक्षरूप से निकलती है। आहाहा! विकल्प उठा, इसलिए वाणी का इस प्रकार से परिणमन हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! भाषा के स्वकाल में परिणमन हो, उसे विकल्प और ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? कोई कहीं अटके, कोई कहीं अटके, परन्तु अटके पड़े हैं और भटकते हैं, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : शुभभाव में अटकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव में अटके और उससे मैं वाणी का काम करता हूँ। मेरा भाव आया, ऐसी वाणी निकलती है, इसलिए मेरी अपेक्षा वाणी को है। बिल्कुल झूठ (बात है)। आहाहा! जैसे राग होने में पर की कोई अपेक्षा नहीं, वैसे सम्यग्दर्शन होने में राग की मन्दता या पर की अपेक्षा नहीं है। वैसे वाणी को निकलने के उस काल में वह वाणी का जन्मक्षण है, वह वाणी की उत्पत्ति का स्वकाल क्रम में उसका है। उसे विकल्प आया, ऐसी अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

विकल्प के कारण, उपदेश-वाणी निकलती है-ऐसा वे कभी नहीं मानते। आहाहा! विकल्प तो विकल्प के कारण से; वाणी, वाणी के कारण से और जाननेवाला, जाननेवाले के कारण से जानता है। आहाहा! ऐसी वस्तु की स्थिति है। निवृत्ति कहाँ है? यह धन्धा करे। स्त्री, पुत्र, पति, पत्नी, मकान और उसमें सम्हालना... आहाहा! पराधीन वृत्ति में जीवन और उसमें जीवन जाता है, जाये भटकने चौरासी में। आहाहा!

कहते हैं, वास्तव में तो विकल्प उठता है, उसे आत्मा की अपेक्षा नहीं है। कहा न, राग की उत्पत्ति को परतत्त्व की अपेक्षा नहीं है। इसी प्रकार विकल्प उठे उसे पर की आत्मा की अपेक्षा नहीं है। उस-उस काल में उस-उस गुण की उस पर्याय का काल स्वतन्त्र है, इससे उत्पन्न होती है। आहाहा!

मुमुक्षु : राग का उपादानकारण?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपादानकारण वह अशुद्धपर्याय राग स्वयं। राग का कारण राग। ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्व उपादान, उसका नाश होकर समकित होता है। तो कारण मिथ्यात्व कहा, ऐसा है? वह तो व्यवहार से बात की है। उपादान का व्यय हो और (समकित) उपादेय हो? परन्तु वह तो उपादेय जो पर्याय है, उस काल में उसी प्रकार से होनेवाली है। उपादान का व्यय हुआ, इसलिए यहाँ हुई है... आहाहा! ऐसा नहीं है।

विकल्प आया और उसका ज्ञान विकल्प ऐसा आया, वैसा ज्ञान यहाँ हुआ— ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की ही पर्याय उस काल में स्व को-पर को प्रकाशित करे, ऐसा उस पर्याय का स्वकाल है। आहाहा! विकल्प से ज्ञान नहीं, ज्ञान से विकल्प नहीं, विकल्प से वाणी नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। सत्य और सत्य का सत्यपना तो ऐसा है। उसे गड़बड़ करेगा (तो) जायेगा चौरासी के अवतार में। आहाहा!

अस्थिरता के कारण कदाचित् पर को समझाने का विकल्प उत्पन्न होता है परन्तु अभिप्राय में उसका निषेध है क्योंकि भाषावर्गणा का परिणमन, विकल्प से निरपेक्ष है-स्वतन्त्र है। आहाहा! ऐसा ही बोलूँ, इसलिए वाणी निकलती है ऐसी। ज्ञान में ऐसा ख्याल आया कि ऐसी वाणी हो, उसे इस प्रकार से समझाऊँ, इसलिए ऐसी

वाणी आती है - ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञान की पर्याय से निरपेक्ष विकल्प, विकल्प से निरपेक्ष वाणी और वाणी से निरपेक्ष विकल्प और विकल्प से निरपेक्ष यहाँ ज्ञान होना। आहाहा! ऐसा मार्ग है। सत् का ऐसा स्वरूप ही है। **विकल्प के कारण, उपदेश-वाणी निकलती है-ऐसा वे कभी नहीं मानते।** आहाहा!

४. मेरा स्वरूप तो जानना-देखना ही है,... यह राग और वाणी निकली, उस समय उस प्रकार की, ऐसा ही यहाँ ज्ञान हो, ऐसी अस्ति है; इसलिए यहाँ ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। मेरी पर्याय का ज्ञान का स्वभाव ही इस प्रकार से स्व-पर को जानने में पर्याय उठी। वह पर को जानने में पर ऐसा आया, इसलिए उस समय उठी है (हुई है), (ऐसा नहीं है)। उसी समय ज्ञान होता है, वह ज्ञान का ही स्वभाव है। स्व-पर का सामर्थ्य जानने का स्वयं से हुआ है। विकल्प से निरपेक्ष और वाणी से निरपेक्ष। आहाहा!

ज्ञान में वाणी ज्ञात हो, इससे वाणी के कारण यहाँ ज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं है। यह ज्ञान हुआ है, वह वाणी की अपेक्षा बिना निरपेक्ष रीति से हुआ है। आहाहा! इसी प्रकार वाणी भी यहाँ ज्ञान और विकल्प की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से निकली है। कान्तिभाई! ऐसा मार्ग है। ऐसा सूक्ष्म सुनने में रुके कौन? ऐई... बड़ी बातें हों वहाँ... आहाहा! लोग इकट्ठे हों, हो... हा... लगे। आहाहा!

इसके अतिरिक्त मैं अन्य कुछ नहीं कर सकता। जानने के भाव भी मेरे उस समय के पर की अपेक्षा रखे बिना जानने का भाव मेरा मुझसे होता है। **यदि कुछ करने का विकल्प उठता है तो राग उत्पन्न होता है।** उत्पन्न हो विकल्प। **वाणी का तो मैं कभी कर्ता हूँ ही नहीं और वास्तव में विकल्प का भी कर्ता नहीं हूँ।** उठे सही, राग आवे। आहाहा! दृष्टि की अपेक्षा से, स्वभाव की अपेक्षा से (कर्ता नहीं)। बाकी परिणमन राग का है, वह ज्ञान जानता है। जानने का कहा न? मुझमें परिणमन राग का है, ऐसा ज्ञान जानता है। आहाहा! इसका अर्थ हुआ न कि यह कर्तापने की बुद्धि नहीं है, परन्तु परिणमन होता है, उतना कर्ता हूँ—ऐसा ज्ञान जानता है। परिणमना, वह कर्ता, इस हिसाब से ज्ञान जानता है कि राग, वह परिणमा है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात पड़े न! यह सब अभी तो यह शीतल पहोर की शान्ति का मार्ग है अभी। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप, स्वसंवेदन गम्य है;... भगवान आत्मा तो स्व—अपने से, सं—प्रत्यक्ष वेदन में आये ऐसा है। पर से सुनने से ज्ञात हो, ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : सुने बिना?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुने बिना ही जानता है। यह देशनालब्धि और सुनने का जो ज्ञान हुआ अपना, परन्तु उसके कारण से आत्मा का ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। ऐसी बात है। आहाहा! देशनालब्धि बिना होता नहीं, यह तो एक अपेक्षा से बतलाते हैं। बाकी होता है वाणी सुनी और ज्ञान हुआ, वह कहीं वाणी से हुआ नहीं। हुआ है स्वयं से उस काल में भी, परन्तु वह भी परलक्ष्यी ज्ञान स्वसंवेदन में अपेक्षा नहीं रखता उसे। आहाहा! परलक्षी ज्ञान, वह स्वसंवेदन में उसकी अपेक्षा नहीं रखता। उससे भी निरपेक्ष है।

ऐसा लोग कहते हैं कि यह तो सब निश्चय... निश्चय... (परन्तु) निश्चय अर्थात् सत्य। आहाहा! सत्य ऐसा है। वस्तु का सत्य। सत् का सत्पना ही ऐसा है। दूसरे प्रकार से कोई कहे तो वह सत्पना ऐसा नहीं है। आहाहा! वस्तु को वस्तुरूप से रखना, भाई! श्रीमद् कहते हैं न? वस्तु को वस्तुरूप से रखना। तू फेरफार नहीं करना कि हमको यह विकल्प आये, इसलिए लाभ हुआ। सुना, इसलिए लाभ हुआ। सुनाऊँ दूसरे को, इसलिए लाभ होगा, उसमें से मुझे लाभ होगा। बेचारे धर्म प्राप्त करें, उसमें से कुछ भाग आवे या नहीं? जैसे धर्म प्राप्त करनेवाले का भाग दसवाँ भाग आता होगा? कितने में? चन्दुभाई! उसमें ऐसा कहा है। पैसा कमाये उसका दसवाँ भाग दान में देना। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में। लो! दे सकता नहीं और देना। वह तो राग घटाने की व्याख्या की है। समझ में आया? वैसे तो छठवाँ भाग देना। पूँजी का तो छठवाँ भाग न दे परन्तु... कमाई का-कमाई का।

दसवाँ भाग तो देना ही। सौ रुपये पैदा हों तो दस रुपये तो देना ही। इतना राग का मन्दपना उसे हो इतना। यह ऐसा बतलाना है। एक ओर कहे, देने-लेने की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! भाई! उस समय ऐसा समझाना तो क्या समझाना? आहाहा! दान के अधिकार में नहीं आया? लोभरूपी कुएँ की भेखड़ में फँसे हुए प्राणी के दान के उद्धार के लिये मैं यह उपदेश करूँगा। लो! भाई ने कहा है। पद्मनन्दि

आचार्य। दान की पहली गाथा। यह तीसरी गाथा है। कुँए की भेखड़ में फँसे हुए जैसे लोग होते हैं। भेखड़ होती है न अन्दर कुँए में अन्दर गहरे। गोल चक्कर पत्थर नीचे। इसी प्रकार जो लोभरूपी चक्कर में फँस गये हैं लोभिया। उनकी कंजुसाई टालने के लिये थोड़ा बहुत दान का अधिकार कहूँगा।

मुमुक्षु : उस समय विकल्प करना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस समय विकल्प आया था, उसका ज्ञाता है। वाणी वाणी के कारण से निकलती है। ऐसी बात है। आहाहा!

लोग जहाँ परजीव की दया पालन की, बस। हमारे बेचारे हीराजी महाराज यह कहते थे। अरेरे! ऐसे जैन में जन्मे और तत्त्व की खबर नहीं होती। सुनने को मिले नहीं। सुने तो समझे तब हो। आहाहा! सुनने को मिला तो भी क्या हुआ? वह परलक्ष्यी उघाड़ हुआ। वह चीज़ क्या हुआ? आहाहा! यहाँ यह कहते हैं।

मेरा स्वरूप **चैतन्यस्वरूप, स्वसंवेदन गम्य है;...** भगवान आत्मा अपने प्रत्यक्ष स्व अनुभव की दशा से प्राप्त हो, ऐसा है। आहाहा! **उसे वाणी या विकल्प द्वारा अन्य को समझाया जा सके, वैसा नहीं है।** आहाहा! **इसलिए ज्ञानी मुख्यतया अन्य को उपदेश देने की प्रवृत्ति में नहीं पड़ते;...** मुख्यतया। मुख्य तो ज्ञाता-दृष्टा में रहता है, वह उसका कर्तव्य है, परन्तु गौणरूप से विकल्प की दशा निर्बलता से आवे। **वे तो सदा अपना आत्महित साधने में ही तत्पर रहते हैं।** आहाहा! **उनको कदाचित् उपदेशादि की वृत्ति उत्पन्न होती है...** मोक्षमार्ग में आता है न! मुनि को अशुभ की तो बात ही नहीं, परन्तु धर्मलोभी देखकर कोई शुभभाव आवे तो उसे हेय जाने। श्रद्धा में उसे लाभ न माने। आहाहा! बहुत जीवों को उपदेश दिया, अपने को कुछ लाभ होगा या नहीं? आहाहा!

यह पुस्तकें बहुत बनाकर सस्ते भाव में विक्रय करे, उसमें लाभ होगा या नहीं जीव को? ऐई! रामजीभाई नहीं करते? प्रमुख तो यह हैं। अभी भी कौन करता है अभी? आहाहा! यह तो निमित्त से बात हो तो ऐसी ही होवे न! ओहोहो! जिस द्रव्य की, जिस समय की जो पर्याय उसके काल में हो, उसे कौन करे? आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मधर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी पर्याय का काल उससे वह समझे हैं। ऐसी बात है। व्यवहार से बोला जाता है तो ऐसा ही कहा जाये न।

'वह तो प्रभु ने ही दिया...' नहीं आता? 'वर्तुं चरणाधीन।' आत्मसिद्धि में आता है। निमित्त से कुछ... हमको हमारा यह स्वरूप ऐसा यह ख्याल में नहीं था। ऐसा भगवान माहात्म्यवाला पदार्थ, आनन्द का दायक, अनन्त गुण का दायक, तारनेवाला। आहाहा! ऐसी हमको मैं यह हूँ, ऐसी खबर नहीं थी। इसलिए यह ऐसा तू है, ऐसा जो समझाया, इसलिए आपने दिया, ऐसा कहने में आता है। तरण-तारण नहीं आता? णमोत्थुणं में नहीं आता? तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं। यह निमित्त से कथन है। आहाहा!

व्यवहार का विषय है न? आदरणीय नहीं। परन्तु विषय है या नहीं उसका? नहीं तो नय नहीं कहलाये। नय के दो विषय हैं, विरोध विषय। निश्चय का विषय स्व आधीन, व्यवहार का विषय पर रागादि या पर्यायादि। विषय है या नहीं? आहाहा!

ज्ञानी मुख्यतया अन्य को उपदेश देने की प्रवृत्ति में नहीं पड़ते; वे तो सदा अपना आत्महित साधने में ही तत्पर रहते हैं। उनको कदाचित् उपदेशादि की वृत्ति उत्पन्न होती है तो उसकी मुख्यता नहीं है;... मुख्यता नहीं ऐसा। **उस समय भी उनको चैतन्यस्वरूप की ही भावना होती है।** झुकाव तो चैतन्य के स्वभाव सन्मुख में ही होता है। आहाहा!

परोपदेश की प्रवृत्ति का विकल्प, वह शुभराग है;... ठीक रचा है। गाथा में है, उसका विस्तार किया है। टीका में इतना अधिक नहीं, उतना विस्तार। अच्छा किया है। **वह आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बाधारूप है;...** वह **परोपदेश की प्रवृत्ति का विकल्प, (वह शुभराग है); वह आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बाधारूप है;...** आहाहा! कहो, चन्दुभाई! कठिन बातें, भाई! **इसलिए उस राग के व्यामोह में पड़कर, ज्ञानी कभी आत्महित को नहीं भूलते हैं।** आहाहा! इस विकल्प में व्यामोह पड़कर दूसरे को समझाऊँ और मेरे बनाऊँ, मुझे माने, मेरी कीमत करे, हमको समझाना आता है।

मुमुक्षु : प्रभावना करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभावना यहाँ होती होगी या बाहर होती होगी? कहा न वह तीन महीने धर्मचक्र घूमा। बाहर लोग... लोग... ऐसे। इन्दौर में पचास हजार और

अन्यत्र दस हजार। उसमें हुआ क्या, कहा? तुमको क्या हुआ? तुमने तो शुभभाव किया, इतनी बात है। उसमें कहीं दस हजार इकट्ठे हुए और पचास हजार इकट्ठे हुए, हजार लोग इकट्ठे हों... परद्रव्य के झुकाववाला विकल्प शुभराग है। आहाहा! वह धर्मचक्र था। यह वह दुनिया का मार्ग। धर्मचक्र तो यहाँ होता है। विकल्प बिना चैतन्य के अनन्त धर्म गुण, उनका परिणमन होना, वह धर्मचक्र है। आहाहा!

उसमें वापस लोगों को अतिरेक हो जाता है। रात्रि में चले और दिन में यात्रा। यह उचित नहीं गिनी जाती। अपने तो भाई जैसा हो, वैसा आवे। अन्धेरे में पूरी रात चले। शाम से सवेरे। दिन में यात्रा। रात्रि में चलना उस सड़क पर जीव-जन्तु निकले हों बेचारे खाने के लिये। ऐसा मार्ग नहीं होता। यह तो अहिंसा का मार्ग है। ऐई! सुजानमलजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले में घण्टा, डेढ़ घण्टा हो। सवेरे के अन्तिम भाग में। बीच के भाग में तो जानवर खाने निकलते हैं। चूहा, बिल्ली, नेवला, सर्प बीच के काल में निकलते हैं। यहाँ से यहाँ और यहाँ से यहाँ। बहुत मर जाये। झपट में बहुत। हमने तो देखा है न, बहुत देखा है। उजाला हो, तब तो ऐसे सर्प निकला हो तो दिखाई दे तो ऐसे मोड़ ल। अन्धेरे में तो खबर भी नहीं पड़ती। आहाहा! यह प्रभु का मार्ग है। रात्रि में जहाँ खाने का भी त्याग चाहिए। रात्रि में खाना, वह ठीक नहीं है। उसमें जीवांत-त्रस मरते हैं। उसके बदले रात्रि में बना हुआ खाना नहीं। उसके बदले रात्रि में चलना पूरा। ऐई... विमलचन्दजी! यहाँ तो भाई! जैसा हो, वैसी बात है यहाँ तो। आहाहा!

मुमुक्षु : तत्त्व तो हो ऐसा ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : तत्त्व तो ऐसा है, भाई! कोई अमुक करे, उसके पक्षकार करे, इसलिए अच्छा करते हैं, (ऐसा नहीं है)। ऐसा मार्ग वीतराग का है, भाई! आहाहा!

परोपदेश की प्रवृत्ति का विकल्प, वह शुभराग है; वह आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बाधारूप है; इसलिए उस राग के व्यामोह में पड़कर, ज्ञानी कभी आत्महित को नहीं भूलते हैं। आहाहा! नियमसार का दृष्टान्त देंगे विशेष....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ५, शनिवार, दिनांक २८-६-१९७५, श्लोक-५८-६०, प्रवचन-७४

समाधितन्त्र। ५८ का अन्तिम आधार है न नियमसार की गाथा।

जगत के जीव,... अनेक प्रकार के हैं। **उनके कर्म,...** भी अनेक प्रकार के हैं। दो। **उनकी लब्धियाँ...** उनके उघाड़ की योग्यता भी अनेक प्रकार की है। **अनेक प्रकार के हैं; इसलिए सभी जीव समान विचार के हों,...** सब जीव एक सरीखे विचार के बने....

मुमुक्षु : समन्वय करे तो बने।

पूज्य गुरुदेवश्री : समन्वय किसका करे? है, उसका समन्वय होता है। आहाहा! (सभी) सच्चे हैं, ऐसा समन्वय तो कैसे हो? आहाहा! एक सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा हुआ, जाना हुआ आत्मा, उसके स्वरूप का भान हो, इसका नाम धर्म है। अब उसे यह बात न बैठे, वह समन्वय किसके साथ करे। राग की मन्दता, विकल्प जो है, उससे भी इस आत्मा की प्राप्ति नहीं। वह तो राग है। आहाहा! उसका आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप है, वह जाननेवाला चैतन्य सूर्य है। उसकी निर्मलदशा द्वारा ही वह प्राप्त होता है और उसे धर्म होता है। आहाहा! दूसरी कोई पद्धति है नहीं। यह व्यवहार... व्यवहार करते हैं न? व्यवहार तो विकल्प है न प्रभु! विकल्प द्वारा निर्विकल्प चीज़ की दृष्टि होगी? आनन्दस्वरूप भगवान अन्दर ऐसे तो अनन्त-अनन्त गुण एकरूप, उसे प्राप्त करने के लिये तो उसके सन्मुख की निर्मल पर्याय चाहिए।

स्वसंवेद्य। यह स्व अर्थात् अपने से अर्थात् राग बिना, अपनी निर्मल वीतरागी दशा द्वारा। सं अर्थात् प्रत्यक्ष हो सके, ऐसा इसका स्वभाव है। कहो, चन्दुभाई! दूसरा कोई उपाय नहीं है। व्यवहारवाले जीव को यह नहीं जँचता, इससे कहीं चीज़ कोई बदल जायेगी? कहते हैं, **इसलिए परजीवों को समझा देने की आकुलता करना योग्य नहीं है।** यह समान विचार के सब हो जायें और मैं मानता हूँ, ऐसा सब माने, ऐसी आकुलता करनेयोग्य नहीं है। क्योंकि जीव की अपनी योग्यता अलग-अलग प्रकार की, कर्म की योग्यता अलग-अलग प्रकार की, निमित्तरूप से। प्राप्ति—लब्धि की

अलग-अलग प्रकार की। आहाहा! इसलिए दूसरे को समझाने की आकुलता नहीं करना कि मैं दूसरे को समझा दूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : समझाने का विकल्प करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विकल्प करना, वह झूठा है। आहाहा! यह तो कहेंगे।

जो प्राणी राग में आरूढ़ है और देहादि को जो मैं समझाना चाहता हूँ, वह तो मैं नहीं। और मैं भी विकल्प से जो समझाना चाहूँ, वह विकल्प मैं नहीं। वाणी, देहादि की वाणी से समझाना चाहूँ, वह वाणी भी मैं नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त जन्म-मरण करते हुए भटकता प्राणी, चौरासी के अवतार में...

मुमुक्षु : निरन्तर समझाने में....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ कि निरन्तर जिसका, निरन्तर समझने की योग्यतावाला, ऐसा कहता है। निरन्तर वह कहाँ निवृत्त था? लिखा तो ऐसा ही न, दूसरा क्या? उसने कहा हुआ बोध वह बारम्बार रटन में रखे, उसे निरन्तर श्रवण कर, ऐसा कहने में आता है। ऐसी बातें हैं।

कहते हैं, यहाँ तो कहते हैं कि ऐसे सर्व जीव एक विचार के हो जायें, ऐसा नहीं होता। इसलिए आकुलता नहीं करना। आहाहा! **स्वात्मावलम्बनरूप निजहित में प्रमाद न हो,...** भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रज्ञाचक्षु, उसके स्वावलम्बन में, स्वावलम्बनरूप निज हित, उसमें प्रमाद नहीं हो, **वैसे रहना ही कर्तव्य है।** आहाहा! समझ में आया?

श्लोक - ५९

किंच -

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये॥ ५९॥

यत् विकल्पाधिरूढमात्मस्वरूपं देहादिकं वा बोधयितुं ज्ञापयितुमिच्छामि। तन्नाहं तत्स्वरूपं, नाहमात्मस्वरूपं परमार्थतो भवामि। यदहं पुनः यत्पुनरहं चिदानन्दात्मकं स्वसंवेद्यमात्मस्वरूपं। तदपि ग्राह्यं नान्यस्य स्वसंवेदने न तदनुभूयत इत्यर्थः। तत्किमन्यस्य बोधय तत्तस्मात्किं किमर्थं अन्यस्यात्मस्वरूपं बोधयेऽहम्॥५९॥

फिर —

समझाना चाहूँ जिसे, वह नहीं मेरा अर्थ।
नहीं अन्य से ग्राह्य मैं, क्यों समझाऊँ व्यर्थ?॥ ५९॥

अन्वयार्थ - (यत्) जिसे अर्थात् विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूप को अथवा देहादि को — (बोधयितुं) समझाने-बुझाने की (इच्छामि) मैं इच्छा करता हूँ-चेष्टा करता हूँ, (तत्) वह (न अहं) मैं नहीं अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं। (पुनः) और (यत्) जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप (अहं) मैं हूँ, (तदपि) वह भी (अन्यस्य) दूसरे जीवों के (ग्राह्यं न) उपदेश द्वारा ग्रहण करनेयोग्य नहीं है; वह तो स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव किया जाता है; (तत्) इसलिए (अन्यस्य) दूसरे जीवों को (किं बोधये) मैं क्या समझाऊँ?

टीका - जिसका, अर्थात् विकल्पादिरूढ़ आत्मस्वरूप का अथवा देहादि का मैं बोध कराना चाहता हूँ — जिसे समझाना चाहता हूँ, वह (तो) मैं नहीं अर्थात् उन (विकल्पाधिरूढ़ स्वरूप) मैं नहीं — परमार्थ से आत्मस्वरूप नहीं। फिर जो मैं अर्थात् फिर मैं जो चिदानन्दमय स्वसंवेद्य आत्मस्वरूप हूँ, वह भी अन्य को स्वयं ग्राह्य (समझ में आवे, वैसा) नहीं, (क्योंकि) वह स्वसंवेदन से अनुभव में आता है — ऐसा अर्थ है। अतः दूसरों को मैं क्या बोध करूँ? अर्थात् इसलिए मैं दूसरे को किसलिए आत्मस्वरूप का बोध करूँ?

भावार्थ - मूढ़ात्मा को आत्मस्वरूप का बोध देना व्यर्थ है, इसका कारण बताते हुए ज्ञानी कहते हैं कि —

मैं अन्य को शब्दों द्वारा आत्मस्वरूप समझाना चाहूँ तो विकल्प-राग उत्पन्न होता है और राग, आत्मा का शुद्धस्वरूप नहीं है; अर्थात् शब्दों द्वारा आत्मा का स्वरूप नहीं समझाया जा सकता।

तथा जो आत्मा का वास्तविक शुद्धस्वरूप है, वह अन्य को शब्दों द्वारा समझ में आवे, वैसा नहीं है; वह तो केवल स्वसंवेदन से ही अनुभव में आवे, वैसा है; इसलिए अन्य को उसका बोध कराना व्यर्थ है।

आत्मस्वरूप, स्वसंवेदनगोचर है।[१] वह शब्दों के द्वारा अथवा विकल्प के द्वारा अन्य को समझाया जा सके, वैसा नहीं है और दूसरे शब्दादि बाह्यसाधन से वह कभी समझ भी नहीं सकते। जैसे-मैंने स्वसंवेदन से आत्मा का अनुभव किया है, वैसे ही अन्य भी स्वसंवेदन से ही उसका अनुभव कर सकते हैं; इसलिए अन्य को आत्मस्वरूप का बोध देने का विकल्प छोड़कर, स्वरूप में सावधान रहना ही योग्य है॥५९॥

श्लोक - ५९ पर प्रवचन

५९ (श्लोक)।

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये॥ ५९॥

नीचे हरिगीत।

समझाना चाहूँ जिसे, वह नहीं मेरा अर्थ।
नहीं अन्य से ग्राह्य मैं, क्यों समझाऊँ व्यर्थ?॥ ५९॥

आहाहा! शास्त्र लिखना और बोलना, और उससे दूसरे समझें, ऐसी आकुलता

१. **जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में, कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।**
उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ, अनुभवगोचारमात्र रहा वह ज्ञान जब॥
(श्रीमद् राजचन्द्र, अपूर्व अवसर, काव्य-२०)

छोड़ दे, कहते हैं। समझ में आया? ऐसा मार्ग है। भाषा किसकी? भाषा भाषा की। विकल्प विकल्प का। जो राग है, वह मेरा कर्तव्य है, ऐसा कौन माने? वह मैं हूँ, ऐसा माननेवाले ऐसा माने। स्वाभाविक वस्तु जहाँ अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द का स्वभाव भरपूर, अनन्त गुण निर्विकल्प और वीतरागी, उसमें राग का कर्तृत्व वह कहाँ आत्मा का है? एक समय का क्षणिक विकल्प वह तो अपना जो माने, उसका वह कर्ता होता है। परन्तु जो यह स्वरूप अनन्त आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा जहाँ माने, वहाँ राग मेरा नहीं; इसलिए राग का वह कर्ता नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। समझ में आया?

टीका - जिसका... अन्वयार्थ में जिसे कहा है। **जिसे...** समझाना चाहता हूँ, ऐसा। उसमें **जिसका, अर्थात् विकल्पादिरूढ़ आत्मस्वरूप का अथवा देहादि का मैं बोध कराना चाहता हूँ—** जिसका अर्थात् विकल्प आरूढ़। राग से आरूढ़ आत्मस्वरूप का। जो राग से आरूढ़ है सामनेवाला आत्मा। राग में एकाकार है। आहाहा! और देहादि जो है। उसे **मैं बोध कराना चाहता हूँ—जिसे समझाना चाहता हूँ, वह (तो) मैं नहीं...** आहाहा! सामनेवाला प्राणी राग में आरूढ़ है और उसका देह, वह तो मैं नहीं। आहाहा! सामनेवाला आत्मा राग में एकत्व है और उसका देह है, वह कहीं मैं नहीं। आहाहा!

जिसे समझाना चाहता हूँ, वह (तो) मैं नहीं... आहाहा! मैं मुझे समझाऊँ ज्ञान की पर्याय से, वह तो मैंपना मुझमें आया। ज्ञान की पर्याय आत्मा को जानने के लिये प्रयत्न करे, वह तो स्वयं ज्ञान की पर्याय गुरु हुई। और उसके बिना—स्वसंवेदन बिना वह आत्मा ज्ञात हो, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! सुनने से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है; विकल्प से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है; सुने हुए ज्ञान की पर्याय जो है स्वयं से, उससे भी वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा जिसका स्वरूप है, उसके बदले इतने सब अभिमान जहाँ-तहाँ। हम ऐसा करते हैं, हम ऐसा समझा दें, हम ऐसी पुस्तकें बनावें, हम पुस्तकें विक्रय करें। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे को समझाने के लिए बहुत....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं सब। खीमचन्दभाई और हिम्मतभाई दो हैं न। कौन है तीसरा? सौ घर की माँग थी। सौ घर की (जगह की)। अस्सी भेजे थे। यह विकल्प था। गये, उसे समझाऊँ यह इसका विकल्प था। आहाहा! और सुननेवाले विकल्प आरूढ़ हैं। उन्हें समझाना। आहाहा!

मुमुक्षु : विकल्प....

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल समझता नहीं और वह विकल्प समझता नहीं। विकल्प से समझा नहीं सकता। यह स्वभाव की अपेक्षा से बात हुई न? ऐसे तो वापस नाम, स्थापना में आता है न, भाई! ४७ नय में। नामनय से। आता है। वस्तु अत्यन्त अव्यक्त तो नहीं। कही जा सकती है, ऐसे कथन है ऐसा। इसलिए स्थापना है वहाँ। नामनिक्षेप आता है न? इससे बात है। वक्तव्यरूप से नाम से ज्ञात होती है। ज्ञात होती है, पहिचानी जाती है। आहाहा! स्थापना से स्थापित की जा सकती है, ऐसा लिया है। वहाँ तो... उसकी योग्यता से। यह तो व्यवहार है परन्तु इसका अर्थ वह स्थापित की जा सकती है और वाणी से कही जा सकती है, इसलिए वह आत्मा का स्वरूप है और वह दूसरे उस प्रकार से समझेंगे उससे, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा!

चौरासी के अवतार करते हुए भटकते-भटकते मनुष्यपना इसे मुश्किल से अनन्त काल में मिला, उसमें यह यदि कही रुक गया राग में, हो गया, इसका पता नहीं लगेगा। चौरासी के अवतार में कहाँ जाकर जायेगा? आहाहा! आँख बन्द हुई कहीं ढोर में, कौवे-कुत्ते के ऐसे अवतार। यहाँ नींद नहीं ली जाती ऐई... लड़कों! सिर झुकाकर नीचे पड़ा है। नींद नहीं, यहाँ नींद नहीं ली जाती। सुनाई तो दे। कान में पड़ने दो वाणी। यहाँ नींद निकलने नहीं आये यहाँ। न समझ में आये तो कान में तो पड़ने दो। छोटे लड़के हैं न बेचारे। नींद में। कुछ समझ में नहीं आये, तब क्या करे? फिर कोई भागे पेशाब करने जाये या पानी पीने। क्या करना इसमें? यहाँ तो कहते हैं कि समझा नहीं सकता। इससे नींद निकालना? सुनने से समझ में नहीं आता, इसलिए नींद निकालना?

मुमुक्षु : प्रमाद न हो ऐसा करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह करना, लो। आहाहा! अरे रे! छोटी-छोटी उम्र के

लड़के चले जाते हैं। देह पूरी हो जाती है। फू... जाओ चौरासी में भटकने। आहाहा!

कहते हैं **जिसे समझाना चाहता हूँ, वह (तो) मैं नहीं अर्थात् उन (विकल्पादिरूढ़ स्वरूप) मैं नहीं—परमार्थ से आत्मस्वरूप नहीं।** वास्तव में मैं वह नहीं। और विकल्प से जो समझा, वह भी मैं नहीं। वाणी से समझाऊँ, वह मैं नहीं और वह (दूसरा) विकल्पारूढ़ है और देह है, उसे समझाना चाहूँ, वह भी मैं नहीं। आहाहा! गिरधरभाई! ऐसी बातें हैं। यह गिरधरभाई तो अभी बड़ा मकान बनाते हैं। ढाई लाख का मन्दिर। कितने लाख का होगा? आहाहा!

(विकल्पाधिरूढ़ स्वरूप) मैं नहीं... आहाहा! भगवान तो चैतन्यस्वरूप जाननहार स्फटिक रत्न जैसा चैतन्य हीरा है। उसमें यह विकल्प उठे, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! उसके बदले यह स्त्री, पुत्र, देह और व्यापार-धन्धा... आहाहा! परन्तु मार डाला। मोह ने मार डाला। वह आता है न कलश में कुछ, नहीं? मरता था जीव, उसे बचाया। मर गया हुआ। आता है। एक कलश में आया है। एक बार कहा था। है याद? वहाँ नहीं परन्तु आया है। मर गया हुआ जीव। मर गया अर्थात् आत्मा को जीवन जो है, उसकी उसे खबर नहीं। ऐसे मरे हुए जीव को समझाता हूँ, ऐसा कहीं है। २९वाँ कलश। किसमें?

मुमुक्षु : कलशटीका।

पूज्य गुरुदेवश्री : कलशटीका। २९? कहा था एक बार कलश। कलश में है न कहीं? आया नहीं। २९ होगा। २९ कलश में है नहीं। है उसमें देखो, २८ (में) २९ में नहीं। ... देखो आया न उसमें।

जैसे ढँकी हुई निधि प्रगट की जाती है... निधान हो, ऊपर ढक्कन हो, उसे उघाड़ा कर देना है, **उसी प्रकार जीवद्रव्य प्रगट ही है, परन्तु...** २८वाँ है, हों! **कर्मसंयोग से ढँका हुआ होने से मरण को प्राप्त हो रहा था;...** अर्थात् है नहीं ऐसा, आहाहा! आनन्द का नाथ चैतन्यमूर्ति विकल्पमात्र है, वह आत्मा है नहीं, वह तो मरण के तुल्य है। आहाहा! २८ है, हों! '**इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजन...**' '**न बोधो बोधमेवा कस्य**' ऐसा। ठीक। किसे नहीं प्रगटे, उसमें यह आया है। आहाहा! जिसने

यह शरीर मैं, वाणी मैं, मन मैं, राग मैं (माना है), उसने तो जीव को मार डाला है। मरणतुल्य हो गया। आहाहा!

कर्मसंयोग से ढँका हुआ होने से... जैसे अग्नि राख से ढँकी हुई होने से अग्नि नहीं जानी, वैसे भगवान आत्मा अनन्त स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, कर्म के निमित्त के संग से ढँका हुआ अर्थात् मानो मरणतुल्य हो गया। आहाहा! वह जीवन की ज्योति ही नहीं मानो जगत में। और यह सब राग और यह मैं हूँ। जो मरा हुआ मुर्दा, वह मैं और जीवता, वह मैं नहीं। आहाहा! राग और शरीर तो मरे हुए मुर्दे हैं। आहाहा! मृत्यु-मरण। आहाहा! मूर्च्छा कही है न! मृतक कलेवर कहा है न, ९६ (गाथा समयसार)। यह मृतक कलेवर है। यह मरा हुआ मुर्दा है। इसे (शरीर को) कुछ खबर है इस जड़ को? हम शरीर हैं या हम यह औदारिक हैं या इस पर्याय का यह है। आहाहा! उस मरे हुए मुर्दे को जीवित जाना। यह मैं हूँ, ऐसा माना।

जीवती ज्योति अन्दर आनन्द का नाथ ज्ञानस्वरूपी, उसकी अस्ति का ही नकार किया। आहाहा! यही उसकी हिंसा और यही उसका मरण है, भावमरण। आहाहा! जीवत्वशक्ति है न? जीवत्वशक्ति दर्शन, ज्ञान, आनन्द और सत्ता प्राण, उसका यह जीवन है। वह जीवन न मानकर राग और शरीर से जीता हूँ। आहाहा! दस प्राण जगत के जड़ के। पाँच इन्द्रिय, तीन मन (वचन, काय, बल आदि)। यह आत्मा के प्राण इन्हें मानकर, आत्मा के प्राणभाव मरणतुल्य हो गये। आहाहा! महाराज दृष्टान्त कैसा देते हैं!

वह भ्रान्ति परमगुरु श्री तीर्थंकर का उपदेश सुनने से मिटती है... निमित्त से यह कथन है। मिटती है इसके स्वसंवेदन से, परन्तु वीतराग तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की जो वाणी, उसे समझने में निमित्त कहने में आती है। स्वयं स्वसंवेदन करे तो। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **जिसे समझाना चाहता हूँ, वह (तो) मैं नहीं...** मैं नहीं, उसे समझाऊँ कैसे? ऐसा कहते हैं। वह तो दूसरा है। दूसरे को मैं समझाऊँ किस प्रकार? मेरे अस्तित्व में जो हो, उसके अस्तित्व को मैं कहूँ, ज्ञान करूँ तो समझ में आयेगा। परन्तु मेरे अस्तित्व में जो चीज़ नहीं, उसके अस्तित्व-मौजूदगी में है, उसे मैं किस प्रकार

समझा सकता हूँ ? मेरी सत्ता से बाहर की वह चीज़ है। समझ में आया ? आहाहा ! तब कहे, तुमने कैसे यह शास्त्र लिखे ? भाई ! सुन तो सही, ऐसा नहीं देखा जाता। स्वरूप की स्थिति क्या है ? यह जानने के लिये बात है। तुमने कैसे कहा ? **'वोच्छामि समयपाहुडमिणओ सुदकेवलीभणिद'** नहीं आया ? **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** समयप्राभृत मैं कहूँगा। आहाहा ! वहाँ उसे उसमें से निकाले, देखो ! समय(सार) शास्त्र को कह सकता है आत्मा। और वहाँ ऐसा स्थापित करे। वह तो विकल्प में आया है कि मैं समयसार कहूँगा। यह समयसार की परमाणु की पर्याय तो उसके कारण से होगी, परन्तु इसके निमित्त में विकल्प उठा है, इसलिए समयसार कहूँगा, ऐसा विकल्प आया। आहाहा ! वह विकल्प भी स्वभाव का कर्तव्य नहीं है।

जो चीज़ अपनी माने, उसका कर्ता होता है। राग जो विकल्प है, वह तो अपना माने, वह कर्ता होता है, परन्तु जहाँ राग एक समय की उपाधि, त्रिकाल निरुपाधि स्वभाव का धारक, उसे यह क्या ? समझ में आया ? मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई ! अभी धमाधम यह २५०० वर्ष के नाम से, ओहोहो ! कितनी पुस्तकें कितनी बाहर आती हैं ! लाखों पुस्तकें प्रकाशित होंगी। अन्दर में कितनी गड़बड़। अभी बाह्यलक्ष्यी ज्ञान का भी ठिकाना नहीं होता। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, **जो मैं अर्थात् फिर मैं जो चिदानन्दमय स्वसंवेद्य आत्मस्वरूप हूँ,...** मैं तो मेरे ज्ञान से, मेरी अस्ति में ज्ञान मेरी दशा, ऐसी अस्तिवाला तत्त्व, अस्तिवाले भाव से ज्ञात हो, ऐसा है। मुझमें यह अस्ति है, राग की और पर की अस्ति मुझमें नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? थोड़ा सूक्ष्म है। ऐई... रसिक ! यह सुनना तो पड़ेगा या नहीं ? वह अज्ञान की तुम्हारी शिक्षा (पढ़ाई) सीखते हैं, वह सब अज्ञान-कुज्ञान है। तो यह क्या है ?

मुमुक्षु : उससे पैसा मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं मिलता उसका। वह पढ़ा हुआ बड़ा बैरिस्टर था। पैसा, कुछ ग्राहक नहीं आता था। बैरिस्टर। यह रामजीभाई बैरिस्टर नहीं और सामने से घर से ग्राहक आवे। इसलिए कहीं पढ़ाई से... इनकार करना पड़ता रामजीभाई को

कि नहीं, अब नहीं लेना। कितने केस हैं। वह बैरिस्टर हुआ है तो घर में उसे मुवक्किल नहीं आते। पुण्य की बात है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तू कौन है अन्दर? यह तो मिट्टी-जड़ है। यह तो धूल है। अन्दर जाननेवाला चैतन्य है। वह चैतन्य रागवाला नहीं। वह ज्ञान और आनन्दवाला है। आहाहा! तो जिसने रागवाला माना, उसे तू समझाना चाहे, किस प्रकार समझेगा? आहाहा! जिसने देह का अस्तित्व मुझसे है, ऐसा जिसने माना, उसे तू किस प्रकार समझायेगा? ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो न, एक सेकेण्ड में बेचारी वह लड़की... अहमदाबाद आयी थी। मकनभाई की लड़की की लड़की। ९-१० वर्ष की आयी थी। अहमदाबाद नहीं? आहाहा! जन्मजयन्ती पर आयी होगी। १० वर्ष की लड़की लींबडी की। नहाकर जा रही होगी जरा वहाँ एकदम ट्रक आया। ट्रक में भरा हुआ वह क्या? सीमेंट-सीमेंट। बस टक्कर लगी, गिर गयी, मर गयी। एक सेकेण्ड में मर गयी। उसकी माँ मेरे पास आयी, महाराज! लड़की मर गयी, हमारे जाना पड़ेगा। हम वापस आयेंगे। वापस जन्मजयन्ती के दिन आयेंगे। आहाहा! मकनभाई नहीं अपने? उनकी लड़की की लड़की १० वर्ष की अहमदाबाद। लींबडीवाले। एक सेकेण्ड। ऐसे बेचारी ऐसे नहाकर जा रही थी, वहाँ लगी टक्कर। कब क्या हो? जड़ की क्रिया।

यह हीरालाल की लड़की लो न! कितने लाखोंपति, कितना उदार। भावनगर। कुचामन का हीरालाल। अब इनकी १० वर्ष की लड़की और ८ वर्ष की लड़की, वहाँ लाये थे मुम्बई। दर्शन कराने को। हॉस्पीटल में से। जयपुर-जयपुर। जयपुर है। जयपुर लाये थे। वहाँ आवास था न हमारा? वहाँ लाये थे। अब उसका पैर, यों ही बैठी थी, ऐसा खाती थी कुछ। आईसक्रीम या गोला। उसमें एक बस आयी तो पैर का भाग पूरा कट गया, इतना भाग। यह क्या कहलाता है? घुंटी-घुंटी। घुंटी से इतना पैर कुचल गया पूरा। आहाहा! हॉस्पीटल में काट डाला। वह कहीं इकट्ठा हो, ऐसा नहीं था। उस लड़की को लाये थे वहाँ जयपुर। यह कब जड़ की क्या पर्याय हो, यह कहीं ध्यान रखने से रहे, ऐसा है? आहाहा!

क्यों दामोदरभाई! यह नवीन लो तुम्हारा। कहाँ वाँचन को गया था। इन्दौर। छोटे लड़कों को पढ़ाने गया था। उसे ऐसा शरीर धुजे-धुजे। शरीर की क्रिया है, बापू! वह

कहीं आत्मा के आधीन है ? छोड़ दे आत्मा की क्रिया शरीर की है, ऐसा छोड़ दे। शरीर की क्रिया जिस काल में जिस प्रकार की होनेवाली है, वह जड़ के कारण है। आहाहा! और उस काल में भी जिस प्रकार का राग आवे कल्पना, वह तेरा कर्तव्य नहीं। तू स्वाभाविक चैतन्यमूर्ति है, स्वाभाविक चैतन्यमूर्ति का राग कर्तव्य कैसे होगा, बापू! आहाहा! निर्मलानन्द का नाथ, उस मलिन का कर्ता कैसे हो सकता है ? वह भी एक क्षण की वृत्ति और यह निर्मल तो त्रिकाल। आहाहा!

वह भी अन्य को स्वयं ग्राह्य (समझ में आवे, वैसा) नहीं,... मेरा स्वरूप ही स्वसंवेदन है। विकल्प से कह सकूँ, वह मेरा स्वरूप नहीं और विकल्प में आरूढ़ हुए को समझाऊँ, वह भी मैं नहीं। आहाहा! बहुत उतावला कठोर नहीं हो जाना कि दूसरे को समझा दूँ, दूसरे समझ जायें। ऐसा न कर भाई! तेरे घर में से तुझे नुकसान होगा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आया, उसके कारण से आया। आया इसे क्या हुआ ? आया। किया नहीं। आहाहा!

परन्तु अनन्त-अनन्त संख्या से गुण जिसके। आहाहा! यह क्या बात है! जिसके काल की आदि नहीं, उससे अनन्तगुणे आत्मायें, उससे अनन्तगुणे आत्मा की संख्या से भी आकाश के प्रदेश अनन्तगुणे, उससे अनन्तगुणे एक जीव के गुण... भाई! उसका अस्तित्व, एक समय में इतने गुण। जो अनन्त पर्याय का पिण्ड गुण, ऐसे अनन्त गुण, उनका क्षेत्र भले असंख्य में भाग का हो, ऐसा कहते हैं। ऐसे अनन्त गुण के निर्मल प्रभु वह विकार की क्रिया का कर्ता कैसे होगा ? अनन्त गुण जिसके निर्मल। उन गुण की संख्या का पार नहीं। आहाहा! उसे यह क्षणिक विकल्प राग... आहाहा! उसे कैसे उसका कर्तृत्व सौंपा जाये ? समझ में आया ? निर्मल के स्वभाववाला तत्त्व, उसे मलिन पर्याय का कार्य कैसे सौंपा जाये ? समझ में आया ? समझ में आया या नहीं ? नानुभाई! यह सब समझना पड़ेगा, हों! तुम्हारी विद्या की अपेक्षा... वह सब कुविद्या है। आहाहा!

सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वरदेव तीर्थंकर का उपदेश आया, परन्तु किया नहीं इसने।

मुमुक्षु : भगवान का उपदेश है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा बोला जाता है, भगवान का, परन्तु भाषा सब। भाषा ही ऐसी सब है न? यह गाँव मेरा। गाँव मेरा है इसे? रहने का घर भी न हो इसे। किस गाँव के? राजकोट के। तो राजकोट इसका गाँव होगा? किस गाँव के? नयेगाँव के। नया गाँव वह तेरा किसका तेरा रसिक! कुण्डल। हो गया गाँव तेरा? वह तो कहनेमात्र की बातें हैं। इसी प्रकार यहाँ उपदेश दिया, वह तो कहनेमात्र के कथन हैं। आहाहा!

यह तो समाधि का अधिकार है, शान्ति का। इस आत्मा का स्वभाव शान्त, उस शान्त की पर्याय द्वारा ज्ञात हो और वेदन में आये, ऐसा है। विकल्प द्वारा ज्ञात हो और जानने में आये, ऐसा नहीं है। व्यवहार से कहे। नाम से, ऐसा आता है न नियमसार में? चार। ४७ नय में आता है न, ४७ नय नहीं आते? यह तो उसके सामने एक बात। नामवाले की भाँति। नामवाले की भाँति शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला। आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म से कहा जाता है। यहाँ इनकार करते हैं। आहाहा! वह तो ज्ञान कराते हैं। बोला जाता है, वह निमित्त है, वहाँ आत्मा, इतना ज्ञान कराते हैं। आहाहा!

शब्दब्रह्म अर्थात् कहा जाता है। जैसे नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है। चन्दुभाई! ज्ञान को बतलाने की बात के समय ऐसा कथन होता है, परन्तु जहाँ दर्शन और उसके स्वभाव की जहाँ कथनशैली चले। नहीं, कहा ही नहीं जा सकता। कौन करे? आहाहा! स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्व पुद्गलों को अवलम्बन करनेवाला है। देखी भाषा! यह ज्ञान का विषय नय से बतलाया है। स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है। लो, ठीक! यहाँ कहे विकल्प करना नहीं। किस अपेक्षा से है, यह जानना चाहिए न? आहाहा!

कहते हैं **जो मैं अर्थात् फिर मैं जो चिदानन्दमय स्वसंवेद्य आत्मस्वरूप हूँ, वह भी अन्य को स्वयं ग्राह्य (समझ में आवे, वैसा) नहीं,...** आहाहा! राग से मैं समझा नहीं सकता, भाषा से नहीं और राग से आरूढ़ हुए को मैं समझा नहीं सकता। जो राग की एकता में पड़ा है, उसे किस प्रकार यह ज्ञान ज्ञात हो। आहाहा! यह विकल्प उठता है, वह असमाधि है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। समाधि नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उसके ज्ञान में नहीं होता और विकल्प से मुझे लाभ हो तो (स्व) घर लुट जाये वहाँ। आहाहा! समझ में आया?

(क्योंकि) वह स्वसंवेदन से अनुभव में आता है—ऐसा अर्थ है। भगवान आत्मा तो ज्ञान की प्रत्यक्ष पर्याय से वेदन में आये और ज्ञात हो, ऐसा है। उसका परोक्षपना रहे, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? अन्दर ज्ञान जो है, ज्ञान की पर्याय ही ऐसी है, उसके द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा है। प्रत्यक्ष ज्ञान की पर्याय से ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! अलिंगग्रहण में आता है न! आत्मा स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। आहाहा! छठवाँ बोल। मार्ग, बापू! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव, ऐसे अरिहन्त-अरिहन्त करे, णमो अरिहंताणं। परन्तु अरिहन्त को कहना क्या है, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा!

भगवान तो ऐसा कहते हैं कि हमारी वाणी, वह हमारी नहीं और वाणी से हम दूसरे को समझा सकते हैं, यह भी नहीं। यह तो भाई में आया नहीं, अमृतचन्द्राचार्य (में) अन्तिम कलश में। हे जीवो! हम तुम्हें समझाते हैं, ऐसा मोह (में) न नाचो। और वाणी द्वारा तुझे ज्ञान होता है, ऐसा न मान। आहाहा! तेरा ज्ञान तुझसे होता है, वाणी द्वारा नहीं। आहाहा! हम तुझे समझाते हैं, ऐसा न मान। क्योंकि हम तो विकल्प और शरीर से भिन्न हैं। हमारे स्वरूप के अस्तित्व में हैं, हम राग और शरीर के अस्तित्व में नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग। इसे हित करना होगा तो यह इसे जाने बिना छुटकारा नहीं है। ऐसा हुए बिना छुटकारा नहीं है। समझ में आया?

ऐसा अर्थ है। अतः दूसरों को मैं क्या बोध करूँ? अर्थात् इसलिए मैं दूसरे को किसलिए आत्मस्वरूप का बोध करूँ? आहाहा! तब तुम कहते हो न यह? ऐसा न देख। वस्तु की स्थिति जो बतलायी जाती है, उसे जान। समझ में आया? सम्प्रदाय में प्रश्न उठा था। मौन से क्या लाभ होता है? ... अध्ययन है न ७३वाँ? ७३-७३ कलश। मौन से क्या लाभ होता है? मौन से लाभ न हो तो तुम क्यों बोलते हो यह? ऐसा नहीं कहा जाता। तर्क ऐसा नहीं होता। उसकी स्थिति का वर्णन जो है, उस प्रकार से होता है, उसे तू जान। समझ में आया? आहाहा!

कहनेवाले के समय भी वाणी मुझसे वाणी हुई है और मैंने उसे समझाया है, ऐसा कहाँ है उसमें? आहाहा! और राग उठा इससे, वह समझाया जाता है, उसमें मैं कहाँ हूँ? आहाहा! जहाँ मैं हूँ, वहाँ राग नहीं और राग है, वहाँ मैं नहीं। आहाहा! ऐसी

चीज़! सब हो... हो... हो... हाँ... अभी। दूसरे को समझाऊँ। महावीर का सन्देश विलायत में दूँ, लन्दन में दूँ। लो! अरे... भगवान! क्या करता है, बापू? किसे दे? अभी तुझे तेरी खबर नहीं। तू कहाँ कितना कैसे है? और दूसरे को तू कहना चाहता है। आहाहा!

भावार्थ - मूढ़ात्मा को आत्मस्वरूप का बोध देना व्यर्थ है,... कुछ भान न हो और कहे कि वह तो पागल जैसा है, उसे क्या कहना? आहाहा! इसका **इसका कारण बताते हुए ज्ञानी कहते हैं कि—मैं अन्य को शब्दों द्वारा आत्मस्वरूप समझाना चाहूँ तो विकल्प-राग उत्पन्न होता है...** आहाहा! **अन्य को शब्दों द्वारा आत्मस्वरूप समझाना चाहूँ तो विकल्प-राग उत्पन्न होता है और राग, आत्मा का शुद्धस्वरूप नहीं है;...** वस्तु के अस्तित्व में राग है ही नहीं। स्वभाव में विभाव कैसा? आहाहा! चैतन्यमूर्ति स्वभाव अनन्त गुण का स्वाभाविकरूप, सहजस्वरूप, उसमें विभाव कैसा? वह परवस्तु है। पर अपना माने तो कर्ता हो। पर मेरा नहीं, वहाँ माना, ऐसा कर्ता कहाँ से हो? आहाहा! सूक्ष्म बात है।

अब तो यहाँ सवा चालीस वर्ष तो यहाँ हुए। सवा चालीस।

मुमुक्षु : उसमें कितना समय विहार में गया, वह तो कम करना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : जितने वर्ष बाहर गये, उतना कम करो, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

शब्दों द्वारा आत्मस्वरूप... शब्द तो जड़ है। भगवान तो चैतन्य अरूपी है, ज्ञानस्वरूप है। उसे शब्दों द्वारा कैसे समझाया जा सकता है? आहाहा! और जो आत्मा का वास्तविक शुद्धस्वरूप है, वह दूसरों को शब्दों द्वारा समझ में आये, ऐसा नहीं है। आहाहा! शब्दों द्वारा तो उसे जरा ज्ञान हो कि ऐसा कहना चाहते हैं, इतना। वह अपना स्वरूप है, वह उसे समझ में नहीं आता। आहाहा!

श्रीमद् में आता है न 'लक्ष्य होने को उसका कहे शास्त्र सुखदायी।' अन्तिम में आता है। एक लक्ष्य उसे कराना है कि मात्र यह तू है (और) यह नहीं। इतना वाणी में आता है, बस। बाकी वह जानने जाये तो स्वसंवेदन से ही ज्ञात होता है। यह बात लक्ष्य से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अरे! सत् की शरण बिना चौरासी के अवतार मर-मरकर अवतार किये इसने।

मुमुक्षु : भूल गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भूल गया। भूल गया अर्थात्? यह तो कहा नहीं था? जन्मने के बाद छह महीने की खबर है? यह जन्मा न जब शरीर, वह छह महीने क्या हुआ? माता ने दूध पिलाया, नहलाया, कुछ नवुं हो तो थप्पड़ मारे। बहुत रो-रो करे फिर। खबर है? खबर नहीं, इसलिए नहीं था? खबर नहीं, इसलिए नहीं था? तो फिर यह सब कहाँ से हुआ यह सब बड़ा? छह महीने के समय नहीं था यह? कहो, समझ में आया या नहीं, रसिकभाई! छह महीने जन्मा तब कुछ खबर है? जन्मने के बाद क्या हुआ? ... माँ ने क्या कहा था?

मुमुक्षु : समझदार होने के बाद खबर पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बाद में समझदार हुआ। उस समय की खबर है?

मुमुक्षु : नहीं समझ में आया था, फिर खबर पड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर नहीं इसलिए नहीं था, ऐसा कैसे कहा जाये? तब तो छह महीने के समय नहीं था यह? इसी प्रकार अनन्त काल के परिभ्रमण की खबर नहीं होती इसे। आहाहा!

वह सिंह का एक दृष्टान्त नहीं दिया था? रेल ऐसे जाती थी। एक सिंह अजगर को मारने गया। अजगर को। वह अजगर बड़ा हो न जंगल में? सिंह। उसमें अजगर ने सिंह को लपेट लिया। लम्बा अजगर हो। सिंह... सिंह। पैर ऐसे रह गये। पेट के ऊपर ऐसे लपेट लिया ऐसे। पैर ऐसे रह गये ऐसे। इसलिए कुछ जोर करने का रहा नहीं अब। जमीन के साथ जोर करने का रहा नहीं। दो दिन तक। ४८ घण्टे तक। पैर ऐसा ऐसा किया। परन्तु जोर नहीं होता, इसलिए खड्डा पड़ गया। रेल के लोग निकले देखे कि अजगर ने सिंह को पकड़ा है। पेट से पकड़ा है यह। इसलिए पैर ऐसे रह गये और मुँह ऐसा रह गया। मुँह से मार सके नहीं, पैर से दबाव करके छूट सके नहीं। वह यहाँ खड्डा पड़ा। अन्त में अजगर ने ऐसा दबाव किया (कि) मर गया। मर गया। सिंह अजगर से मर गया। ऐसी स्थिति है। अजगर को तो इतना मुँह नहीं। परन्तु ऐसा योग बन गया कि लम्बा अजगर और सिंह मारने गया तो मारे। पेट से ऐसे पकड़ा उसे ऐसे। पैर

रखे ऐसे। ऊपर पैर और नीचे पैर, चार। दो ऊपर और दो नीचे। हो गया। आहाहा!

अलमारी होती है न, अलमारी? दीवार और अलमारी के बीच दो अंगुल की दूरी होती है। उसमें जो चूहा आया हो ऊपर और अन्दर घुस गया हो तो हो गया। वह वहीं का वहीं सूख जायेगा। क्योंकि पैर ऐसे-ऐसे हुआ करे। वह कहीं किसी को... और ऐसे निकल सके नहीं। अपने होता है, हों, अलमारी में।

मुमुक्षु : मार्ग हो न, दरवाजे में जरा मार्ग हो उसमें...

पूज्य गुरुदेवश्री : घुस जाय, हो गया। आहाहा! नहीं, यह तो अलमारी में तो यहाँ अपने बहुत बार देखा है। दीवार और अलमारी को दो अंगुल दूरी हो अलमारी। और उसमें वह गिर जाये तो आंतरुं। वह पैसे ऐसे-ऐसे लटके। दब जाये। न निकल सके ऐसे और हो गया, सूख जाये। आहाहा! ऐसे मरण अनन्त बार किये हैं। आहाहा! इसे खबर नहीं कि यह क्या किया और क्या हुआ?

इसलिए यहाँ कहते हैं... आहाहा! **केवल स्वसंवेदन से ही अनुभव में आवे, वैसा है; इसलिए अन्य को उसका बोध कराना व्यर्थ है।** 'आत्मस्वरूप स्वसंवेदनगोचर है।' जो सर्वज्ञ ने कहा और देखा?

जो स्वरूप श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वाणी वह क्या कहे?
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब।
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?

मुमुक्षु : कह सके नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वाणी किस प्रकार कहे? वाणी जड़ में से आती है। वाणी में आया नहीं। वाणी में क्या? यह चैतन्यस्वरूप, वह वाणी जड़। दुश्मन द्वारा सज्जन के गुणगान कराना। वाणी को खबर नहीं। उससे आत्मा के स्वरूप की बातें कराना। आहाहा! कितना कहते हैं यह? वाणी में ताकत है स्व-पर कथन की, हों! स्व-पर

कथन की और आत्मा में स्व-पर जानने की। आहाहा! शब्दों में कथन-शक्ति है उसकी स्वयं की स्वतः। आत्मा यहाँ उघाड़वाला है, इसलिए निमित्त हुआ, इसलिए वाणी में ऐसा आवे, ऐसा भी नहीं है। उस-उस समय में शब्द की पर्याय में स्व-पर कथन करने की सामर्थ्य है। अपनी और पर की। उसकी मर्यादा प्रमाण। आहाहा!

आत्मस्वरूप, स्वसंवेदनगोचर है। वह शब्दों के द्वारा अथवा विकल्प के द्वारा अन्य को समझाया जा सके, वैसा नहीं है और दूसरे शब्दादि बाह्यसाधन से वह कभी समझ भी नहीं सकते। समझा सकता नहीं और वह समझ भी नहीं सकता। आहाहा! अब वह अकेली यह दया पालो, व्रत पालो, यह करो। मर गये। आत्मा क्या है, उसकी खबर नहीं होती। परजीव की दया पालो, तुमको धर्म होगा। यहाँ कहते हैं कि परजीव की दया पाल नहीं सकता। परजीव की दया पाल सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्या भ्रम पाखण्ड है और परजीव को दया पालने का भाव, वह राग और हिंसा है। आहाहा!

यहाँ तो उपदेश देना का विकल्प भी राग और हिंसा है। आहाहा! अर्थात् असमाधि है। समाधि के सामने यह कहा न? आहाहा! स्वावलम्बी तत्त्व में रम, बापू! वह तेरा कर्तव्य है। आहाहा! भवसिन्धु चौरासी का समुद्र... आहाहा! एक-एक योनि के अनन्त अवतार महा भवसिन्धु सागर पड़ा है। उसमें से निकलने का मार्ग तो यह है। स्वसंवेद्य है। दूसरी कोई पद्धति है नहीं। भगवान स्वरूप, यह भगवान अर्थात् आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा, उसकी अस्तिवाली मौजूदगी, उसकी मौजूदगी को स्वीकार सत् में, पर्याय में। तब उसका जन्म-मरणरहित का वह स्वभाव है और जन्म-मरण के कारण के भाव का भी रहित स्वभाव है। वह तो रहित है। ऐसे स्वभाव के वेदन से ही भव का अभाव होता है, ऐसा है। बाकी कोई दूसरा उपाय है नहीं। दान किये, यह किये और मन्दिर बनाये। यह परमागममन्दिर बनाया, लो! उसमें कुछ भव का अभाव होनेवाला होगा या नहीं कारण? नहीं? आहाहा! उसके काल में होनेवाला है, वह होता है। आहाहा! इस कारण से उसे बहुत तो शुभविकल्प होता है परद्रव्य के अनुसार, वह भी दुःख है। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग!

इसलिए अन्य को आत्मस्वरूप का बोध देने का विकल्प छोड़कर, (स्व) स्वरूप में सावधान रहना ही योग्य है। आहाहा! है न? यह ५९ हुई।

श्लोक - ६०

बोधितेऽपि चान्तस्तत्त्वे बहिरात्मनो न तत्रानुरागः सम्भवति। मोहोदयात्तस्य बहिरर्थ एवानुरागादिति दर्शयन्नाह -

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः॥ ६०॥

बहिः शरीराद्यर्थे तुष्यसि प्रीतिं करोति। कोऽसौ? मूढात्मा। कथम्भूतः? पिहितज्योतिर्मोहाभिभूतज्ञानः। क्व? अन्तरे अन्तस्तत्त्वविषये। प्रबुद्धात्मा मोहाभिभूतज्ञानः अन्तस्तुष्यति स्वस्वरूपे प्रीतिं करोति। किंविशिष्टः सन्? बहिर्व्यावृत्तकौतुकः शरीरादौ निवृत्तानुरागः॥६०॥

आत्मस्वरूप का बोध देने पर भी बहिरात्मा को, उसमें अनुराग सम्भवता (होता) नहीं; मोह के उदय से उसको बाह्यपदार्थ में ही अनुराग होता है — ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं —

आवृत अन्तर ज्योति हो, बाह्य विषय में तुष्ट।
जागृत जग-कौतुक तजे, अन्दर से सन्तुष्ट॥ ६०॥

अन्वयार्थ - (अन्तरे पिहितज्योतिः) अन्तरङ्ग में जिसकी ज्ञानज्योति मोह से आच्छादित हो गयी है, जिसे स्वरूप का विवेक नहीं — ऐसा (मूढात्मा) बहिरात्मा, (बहिः) बाह्य शरीरादि परपदार्थों में ही (तुष्यति) सन्तुष्ट रहता है — अनुराग करता है किन्तु (प्रबुद्धात्मा) जिसे स्वरूप-विवेक जागृत हुआ है — ऐसा अन्तरात्मा, (बहिर्व्यावृत्त-कौतुकः) बाह्य शरीरादि पदार्थों में कौतुक-अनुरागरहित होकर, (अन्तः) अन्तरङ्ग आत्मस्वरूप में ही (तुष्यति) सन्तोष करता है-मग्न रहता है।

टीका - बाह्य में अर्थात् शरीरादि पदार्थ में ही वह संतोष करता है-प्रीति करता है। वह कौन? मूढ़ात्मा (बहिरात्मा)। वह कैसा है? जिसकी ज्योति ढ़ँक गयी है अर्थात् मोह से जिसका ज्ञान, पराभव को प्राप्त हुआ है। कहाँ? अन्तरङ्ग में अर्थात् अन्तरतत्त्व के विषय में। प्रबुद्धात्मा अर्थात् जिसका ज्ञान, मोह से अभिभूत नहीं हुआ (पराभव को प्राप्त नहीं हुआ) वैसा (आत्मस्वरूप में जागृत) आत्मा; अन्तरङ्ग मैं

सन्तोष करता है-स्वस्वरूप में प्रीति करता है। कैसा होकर? बाह्य में कौतूकरहित होकर — शरीरादि में अनुरागरहित होकर (आत्मस्वरूप में प्रीति करता है)।

भावार्थ - ज्ञानी को प्रश्न पूछा कि — 'तुम बहिरात्मा को आत्मस्वरूप का बोध क्यों नहीं करते?' उसके प्रत्युत्तर में ऐसा कहा कि —

१. बहिरात्माएँ, वस्तुस्वरूप से अत्यन्त अज्ञात (अजान) हैं; वे इतने मूढ़ हैं कि उनको बोध करो या न करो, उनके लिए वह सब समान है। (श्लोक ५८)

२. आत्मस्वरूप, स्वसंवेदनगम्य है, वह शब्दों द्वारा अन्य को समझाया नहीं जा सकता और वे समझते भी नहीं; इसलिए उनको बोध करना, व्यर्थ है। (श्लोक ५९)

३. इस श्लोक में कहा है कि —

अनादि मिथ्यात्व के कारण बहिरात्मा को स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है। उसको आत्मस्वरूप का भान नहीं है; इसलिए वह शरीरादि बाह्यपदार्थों में ही आनन्द मानता है, उनमें ही अनुराग करता है परन्तु आत्मस्वभाव की महिमा लाकर, उसमें प्रीति नहीं करता। उसका कारण — उसका ज्ञान, अविद्या के गाढ़ संस्कार से मूर्छित हो गया है-आच्छादित हो गया है; वह है।

अन्तरात्मा को विवेकज्योति प्रगट हुई है; इसलिए उसको शरीरादि बाह्यपदार्थों में प्रीति नहीं है, उनमें उसे कहीं सुख भासित नहीं होता, वह उस ओर से बहुत उदासीन रहता है। वह वहाँ से हटकर स्वसन्मुख होकर, आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिए सदा प्रयत्नशील है। जहाँ उसको ऐसी ज्ञानदशा वर्तती हो, वहाँ उसे अन्य को बोध देना रुचिकर कैसे लगा सकता है? रुचिकर नहीं लगता है॥६०॥

श्लोक - ६० पर प्रवचन

आत्मस्वरूप का बोध देने पर भी बहिरात्मा को, उसमें अनुराग सम्भवता (होता) नहीं;... क्योंकि उसका अनुराग का झुकाव उसका राग में और पर में... पर में... पर में... आहाहा! उसका वीर्य ही परसन्मुख उल्लसित वीर्य ही उसे प्रसन्नता देता है। आहाहा! या बहुत समझे, या बहुत पुस्तकें बनें, या बहुत मन्दिर बने या बहुत लोग

सुननेवाले बनें। उसकी ओर उल्लसित वीर्य वहाँ उसका काम करता है। आहाहा! उसे अन्तर की बातें कैसे बैठे, बापू! समझ में आया?

जिसकी बाह्य चीज़ों की अनुकूलता में शरीर सुन्दर, वाणी सुन्दर, मकान सुन्दर, पुस्तक सुन्दर, कैसी वह वाणी की सुन्दरता कण्ठ की। सुनने में वह कण्ठ की सुन्दरता। उसकी ओर का जहाँ अनुराग है, उसमें जिसका वीर्य प्रसन्नता से काम करता है। आहाहा! वह अन्तर में कैसे जा सकता है? समझ में आया? सुजानमलजी!

मुमुक्षु : कहीं खड़े रहने की जगह तो रखो आप।

पूज्य गुरुदेवश्री : खड़े रहने की है न अन्दर! आहाहा! कहा नहीं? स्वरूप में सावधान रहना, वह योग्य है। यह खड़ा रहना वहाँ। आहाहा! उसमें से हटा, उतना संसार है। मुनि को कहा नहीं? आहाहा! छठवें गुणस्थान में तीन कषाय का अभाव, परन्तु प्रमाद का एक अंश राग का उत्पन्न होता है, व्रत-तप पालने का विकल्प होता है। कर्तृत्वबुद्धि से नहीं परन्तु परिणमन है, वह भी संसार है। आहाहा!

अब यहाँ (अज्ञानी) कहते हैं कि व्रत पालने से संवर होता है, यहाँ कहते हैं कि व्रत पालो विकल्प-संसार है। अब यह कहाँ मिलान? मार्ग, बापू! अरे... तिरने का उपाय अलौकिक है। जगत से माने हुए से अलग है। यह कहते हैं, देखो! **उसको बाह्यपदार्थ में ही अनुराग होता है- 'बहिस्तुष्यति'** उसे बाहर में जरा ऐसा ठीक लगता है, सन्तोष लगता है। आहाहा!

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः॥ ६०॥
आवृत अन्तर ज्योति हो, बाह्य विषय में तुष्ट।
जागृत जग-कौतुक तजे, अन्दर से सन्तुष्ट॥ ६०॥

आहाहा! कैसी शैली प्रयोग की है!

टीका - बाह्य में अर्थात् शरीरादि पदार्थ में ही वह... कौतुक अर्थात् ऐसा कुछ लगता है। ऐसा। शरीर अच्छा, वाणी अच्छी। संयोगों में भी बाहर की अनुकूलता

दिखाई दे और सन्तुष्ट हो। आहाहा! '**बहिस्तुष्यति**' बाहर की रागादि की चीज़ में या बाहर चीज़ में हम कुछ अच्छा करते हैं। दूसरे की अपेक्षा अच्छा करते हैं। ऐसा उसे सन्तोष होता है। आहाहा! वह वहाँ रुक गया है। समझ में आया?

बाह्य में अर्थात् शरीरादि पदार्थ में ही वह संतोष करता है-प्रीति करता है। वह कौन? मूढ़ात्मा (बहिरात्मा)। आहाहा! राग में प्रीति करता है बाह्यपदार्थ की। पुस्तकें अच्छी बनीं, मकान अच्छा बना।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इससे सन्तोष क्या? हो, उसमें हो। उसने कहा था न, भाई! ३५ तोला सोना दूँगा। सोने का कवर बनाओ समयसार का। सोने का कवर समयसार का। बस हो गया अब। क्या हुआ अब? किया नहीं। इसलिए बाह्य की कोई चीज़ से अनुराग में वहाँ जुड़कर सन्तोष माने, वह मूढ़ात्मा है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ६, रविवार, दिनांक २९-६-१९७५, श्लोक-६०, प्रवचन-७५

समाधितन्त्र। श्लोक-६०

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः॥ ६०॥

बाह्य में अर्थात् शरीरादि पदार्थ में ही वह संतोष करता है... अज्ञानी आत्मा अन्दर सहजानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा है। चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व की प्रीति, प्रेम छोड़कर अनादि से जो पदार्थ अपने नहीं, (यह) उसे अनुराग और प्रेम करता है। मूढ़ जीव है।

मुमुक्षु : शरीर में एकता करे वह।

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर में, वाणी में, मन में विषय पाँच इन्द्रिय के विषय मुझे देखकर सन्तोष मानता है, वह सब मूढ़ात्मा है।

मुमुक्षु : दुनिया मूढ़ हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया मूढ़।

सहजानन्दस्वरूप आत्मा... सवेरे आया था, नहीं? चिदानन्द, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व। भगवान आत्मा तो ज्ञान और आनन्दस्वरूपी है। उसके प्रेम को छोड़कर अनादि से अज्ञानी अपना जो स्वरूप नहीं—राग, शरीर, वाणी वह तो जड़ परवस्तु है। उस जड़ में यह प्रीति करके सन्तुष्ट होता है। मुझे शरीर की निरोगता है, मुझे यह है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....शरीर अच्छा रहे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। शरीर अच्छा रहे, वह तो जड़ है, मिट्टी है। शरीर जड़ है। यह निरोगता हो तो वह जड़ की है। उसमें आत्मा को क्या? तुम्हारे तो सब विरुद्ध है, यह सब वैद्य से तो (विरुद्ध)। मिट्टी के प्रयोग है न सब? आत्मा के प्रयोग नहीं। आहाहा! यह आत्मा अन्दर वस्तु है न, भगवान आत्मा अन्दर? अस्ति है या नहीं? तो वह है क्या उसका स्वरूप? उसका स्वभाव ज्ञानानन्द, ज्ञान और आनन्द अतीन्द्रिय, वह उसका तत्त्व और स्वरूप है। आहाहा! यह अनादि की वह चीज़ है।

परन्तु उसे मोह से ढँक दिया है। मोह अर्थात्? परपदार्थ की सावधानी में और परपदार्थ की प्रीति की सन्तोषता में चैतन्य ढँक गया। आहाहा! यह कहते हैं, अनादि भटकने का कारण यह है। चौरासी के अवतार कर-करके मर गया। समझ में आया?

बाह्य शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, वह सब चीज़ें तो बाह्य की पर है। उसमें प्रेम करके सन्तुष्ट होता है। हमको मजा आता है। पाँच-पच्चीस लाख पैसे मिलें, शरीर सुन्दर, स्त्री ठीक, आज्ञाकारी पुत्र, मूढ़ है। आहाहा! ऐई! पापी है आत्मा के भान बिना के प्राणी, ऐसे मूढ़ात्मायें। आहाहा! भगवान चिदानन्दस्वरूप अन्दर स्थित है। सच्चिदानन्दस्वभाव जीव का है। उसके प्रेम को छोड़कर बाह्य पदार्थ के प्रेम में सन्तुष्ट होता है। प्रीति में लवलीन हो जाता है। आहाहा!

जैसे जोंक। जोंक नहीं वह जोंक? जोंक। गन्दा रक्त पीकर पुष्टि पाती है। आहाहा! इसी प्रकार जोंक की भाँति अज्ञानी परपदार्थ के प्रेम में सन्तुष्ट होकर मर जाता है। चैतन्य के भावप्राण को मार डालता है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! यह तो समझ में आये ऐसा है न? सवेरे जरा सूक्ष्म था। भाई! यह तो आवे तब अधिकार आवे न? अन्दर इस देह में, यह मिट्टी है जड़, अन्दर इसका जाननेवाला। सवेरे वर्णन आता है कि सब भले आकाश का, अमुक, परन्तु उसका जाननेवाला कौन? कि उसमें ऐसी शक्ति है और इसमें ऐसी शक्ति है, यह एक प्रदेशी है न। आहाहा! यह जाननेवाला भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से भरपूर वह पदार्थ है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। सत् शाश्वत् चिद्-ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द। अतीन्द्रिय आनन्द, हों! आहाहा! ऐसा जो आत्मा, उसे भूलकर, मोह से उसे ढँककर और है, उस विद्यमान को अविद्यमान कर दिया और जो अविद्यमान वस्तु है राग, शरीर, वाणी, मन, उसे विद्यमान बनाकर सन्तुष्ट हो गया है। आहाहा! समझ में आया? है?

वह कौन? मूढ़ात्मा (बहिरात्मा)। अर्थात्? जो अन्दर स्वरूप आनन्द और ज्ञान है, उससे बाह्य की चीज़ जो है, वह उसकी नहीं, उसमें नहीं और बाह्य चीज़ में स्वयं नहीं। बराबर है? बाह्य चीज़ में स्वयं नहीं, बाह्य चीज़ आत्मा में नहीं। उसे अपनी मानकर सन्तोष मानता है, वह तो बहिरात्मा है। आहाहा! पाँच-पच्चीस लाख मिले, शरीर ठीक हो, स्त्री ठीक हो, पुत्र ठीक से व्यापार चलाते हों। पाँच-पचास हजार

आमदनी के। हिम्मतभाई! मूढ़ है, कहते हैं। आहाहा! तेरी चीज़ को तूने ढाँक दिया। तेरी चीज़ की महिमा जो चाहिए, उसे छोड़ दिया और पर की महिमा में पड़ा है। आहाहा! समझ में आया?

वह कैसा है? जिसकी ज्योति ढ़ँक गयी है... आहाहा! भगवान चैतन्यज्योत 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम।' ऐसी आत्मा चीज़ है। उसे पर की प्रीति के प्रेम में ढाँक दिया, मोह से ढाँक दिया। आहाहा! कहा न? **मोह से जिसका ज्ञान, पराभव को प्राप्त हुआ है।** जिसके ज्ञान में आनन्दस्वरूपी शुद्ध चैतन्य आना चाहिए, ऐसा विषय न बनाकर, जिसने राग और शरीर, वाणी, मन को विषय बनाकर यह मेरी चीज़ है, मुझे अभी ठीक है। कहते हैं न, यह पाँच-पचास लाख पैदा हों तो कहे, अभी बादशाही है। धूल भी नहीं, सुन न मूर्ख! बाहर में बादशाही कैसी? ऐई! यहाँ तो ऐसी बात है। प्रवीणभाई!

लड़के अच्छे जगें, बहू अच्छी आवे अच्छे परिवार की। और उसमें पाँच-पचास हजार क्या कहलाता है वह? दहेज लेकर आवे। आहाहा! परन्तु क्या है तुझे यह? यह क्या लगा है तुझे यह दाह? आहाहा! अनादि का, अनादि का अज्ञानी। जिस चीज़ में स्वयं नहीं, स्वयं में वह चीज़ नहीं, उसके प्रेम में फँसकर मूढ़ आत्मा अपने स्वरूप को ढँक देता है। विद्यमान चीज़ अन्दर पड़ी है। आहाहा! जिसका अस्तित्व आनन्द और ज्ञानवाला अस्तित्व है। ऐसे अस्तित्व का आदर न करके जिसमें वह ज्ञान और आनन्द नहीं और आत्मा उसमें नहीं। आहाहा! उसमें सन्तुष्ट हो जाता है, हर्षित हो जाता है, प्रेम का प्याला चढ़ जाता है उसे अन्दर... आहाहा! वह मूढ़ात्मा है। आहाहा! बहिरात्मा है। अर्थात् कि जो चीज़ उसमें नहीं, ऐसा बहिर्, उसे अपना माननेवाला बहिरात्मा मूर्ख है। आहाहा! समझ में आया?

कान्तिभाई! क्या होगा यह सब? इसे तो स्त्री-पुत्र नहीं। इन्हें १५०० वेतन था, छोड़ दिया। बालब्रह्मचारी है। लाखोंपति है। १५०० वेतन था प्लेन में। प्लेन। भाई है न? १५०० वेतन प्लेन में था। छोड़ दिया। नौकरी छोड़ दी। महीने के १५००, हों! क्या धूल में था अब वहाँ १५०० और लाख। कहाँ जाना है? कहाँ हूँ? एक क्षण में यह सब

छोड़ जाना है और कहाँ आवास होनेवाला है, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा! आत्मा तो अनादि है। अविनाशी है। वह कहीं नाश हो ऐसा है? आहाहा! यह सब सिरपच्ची मिली हो एक क्षण में जाओ... भटकने। जिसे प्रीति करके पालन किया, जिसे मेरा मानकर रखा। ऐसा यहाँ तो है। यह इंजेक्शन अलग प्रकार का है। आहाहा! कहो, यह समझ में आता है या नहीं? रसिकभाई! ऐई! लड़कों! यह ध्यान रखना, हों! न समझ में आये ऐसा नहीं समझना। किसी समय सूक्ष्म आ जाये। सवेरे सूक्ष्म था। यह क्या हो? यह सूक्ष्म, उसे भी जाननेवाला कौन? यह यहाँ लेना है। आहाहा! यह आयेगा बाद में। १८ गाथा पूरी हो जाये न, २६ और १८। ४४, ४५वीं आयेगी जीव की। उसे जाननेवाला। आहाहा!

छहों द्रव्य की जीव-अजीव की भिन्नता, लोक-अलोक की भिन्नता। सक्रियक, भाववती और क्रियावतीशक्ति की भिन्नता... आहाहा! गुण की भिन्नता। उसे क्षेत्र में कोई स्थिर रहना, कितनों का अस्थिर होना, ऐसे की भिन्नता। आहाहा! और कितनों के प्रदेश अधिक और किसी के प्रदेश नहीं, ऐसी भिन्नता। यह सब जाननेवाला तो प्रभु है। आत्मा, हों! प्रभु अर्थात्। और दूसरा भगवान नहीं। आहाहा! उस भिन्न चीज़ को जाननेवाला तत्त्व पर से भिन्न है, तथापि अज्ञानी उसमें से अपने को मानकर... आहाहा! ज्ञान पराभव को प्राप्त हुआ है।

भगवान ज्ञानस्वरूपी आत्मा, उसका पराभव कर दिया है। अपने माहात्म्य को न जानकर, अपनी चीज़ का स्वरूप का स्वरूप क्या है? उसे न जानकर, जीव में नहीं ऐसे वह मानकर ज्ञान का पराभव किया। आत्मा का अनादर किया है। आहाहा! यह अनादि से भटकने का यह कारण है। चौरासी के अवतार कर-करके मर गया। अनन्त अवतार किये, चींटी, मकोड़ा, कौवा। आत्मा अनादि है। जो है वस्तु, वह तो नित्य है। तो रहा कहाँ? उसके भान बिना परिभ्रमण के... करके चौरासी के अवतार में रहा। आहाहा!

कहते हैं कि **कहाँ? अन्तरङ्ग में अर्थात् अन्तरतत्त्व के विषय में।** पराभव पाया है। क्या कहाँ? कि अन्तरतत्त्व के विषय में। आत्मा आनन्द और स्वरूप ज्ञानानन्द, सच्चिदानन्द प्रभु के स्वरूप में वह पराभव पाया है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सवेरे बहुत अच्छा आया था टीका में। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व में प्रखररूप से,

प्रबलरूप से एकाग्र लक्षण हो तो उसे आनन्द का उत्पन्न होना हो, अतीन्द्रिय आनन्द की दशा हो। वह आत्मा का स्वरूप है। जिसमें—भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। आहाहा! उस अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि करने से, उसमें एकाग्र होने से उसे अतीन्द्रिय आनन्द का, पर्याय में-दशा में वर्तमान में स्वाद आता है, उसने आत्मा को जाना और उसने धर्म किया—ऐसा कहा जाता है। आहाहा! दूसरे के काम करके परोपकार करते हैं। परोपकार करते हैं। धूल भी नहीं परोपकार, सुन न! ऐई! यह डॉक्टर-बॉक्टर सब ओनरेरी (नि:शुल्क) काम करते हैं न? परन्तु इसका हेतु ऐसा होता है कि बाहर प्रसिद्ध हों, फिर उसमें बाहर प्रसिद्ध दवाखाना ठीक से चले। दो-चार महीने ओनरेरी करे। हेतु तो वह होता है। धूल भी नहीं ओनरेरी में। परोपकार वहाँ कहाँ था? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि चैतन्य के स्वभाव को पराभव प्राप्त कराकर... आहाहा! जो ज्ञानानन्द प्रभु, उसे पराभव प्राप्त कराकर अन्तर के सत्त्व के विषय में मूढ़ हो गया। आहाहा! बाहर में होशियार का पुत्र। देव का पुत्र उतरा बातें करता हो तो, इसका ऐसा है और इसका ऐसा होता है, इसका ऐसा है। परन्तु तू है कौन, यह खबर है? यह खबर नहीं। यह सब। रतिभाई! आहाहा! कहते हैं, **अन्तरतत्त्व के विषय में।** मूढ़ हो गया। आहाहा! यह अज्ञानी की बात की।

अब **प्रबुद्धात्मा...** जिसे भगवान चिदानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द, वह मेरी चीज़ है। आहाहा! ऐसा जिसने प्रबुद्ध। प्र—विशेष, बुद्ध अर्थात् ज्ञान हुआ है। आहाहा! जिसे आत्मज्ञान कहते हैं। आत्मा ज्ञानानन्द, सहजानन्द प्रभु का जिसे ज्ञान हुआ है। प्रबुद्ध आत्मा। उसे यहाँ प्रबुद्ध आत्मा कहते हैं। प्र—विशेष, बुद्ध—यथार्थ ज्ञान हुआ उसे। आहा! यह सब वकालत के और डॉक्टर के यह सब व्यापारी यह लोहे के... ऐई... हसमुखभाई! यह सब कुज्ञान है। यह मील का। परषोत्तमभाई मील में काम करते हैं न? परन्तु मील का काम तो करते हैं न वहाँ? यह करना और यह करना। उसका भी ज्ञान हो न उसे? कि आज ऐसा करना, इसका ऐसा करना, यह मशीन ऐसे हो तो ऐसा करना। ऐई... दामोदरभाई! इनके रंग का होता है। आहाहा! अरे... वह तो कुज्ञान है, कहते हैं। चार गति में भटकने का ज्ञान है।

भगवान आत्मा प्रबुद्ध आत्मा। प्रबुद्ध अर्थात् स्वयं जो चीज़ है, राग और शरीर तथा वाणीरहित चीज़ है वह। ऐसा जिसे अन्तर ज्ञान हुआ, उसे यहाँ प्रबुद्ध आत्मा, उसे धर्मी का आत्मा, वह धर्म को प्राप्त हुआ, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! किस प्रकार? कि **जिसका ज्ञान, मोह से अभिभूत नहीं हुआ...** है न? पर में अपना मानकर जो ज्ञान का पराभव, वह उसे नहीं है। आहाहा! **जिसका ज्ञान, मोह से...** घात नहीं हुआ। अभिभूत अर्थात् घात होना। आहाहा! मैं तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु जगत की ज्योति हूँ। जगत है, वह ज्ञेय है; मैं एक जाननेवाला चैतन्य ज्योति हूँ। वह ज्ञेय मेरी चीज़ नहीं, तथा मैं ज्ञान उस ज्ञेय का नहीं। आहाहा! ऐसा ज्ञान हो, उसके ज्ञान का पराभव मोह से नहीं होता। चन्दुभाई! यह सब तुम्हारे चतुर बहुत गिनते हैं न? रंग में, व्यापार में सब उसमें। सम्हालने में।

(पराभव को प्राप्त नहीं हुआ) वैसा (आत्मस्वरूप में जागृत) आत्मा;... है। आहाहा! जहाँ मैं हूँ, वहाँ तो ज्ञान और आनन्द है। मैं यह आत्मा हूँ। आहाहा! राग है, विकल्प होता है, वह मैं नहीं और पुण्य के फलरूप से सामग्री बाहर की मिली हो, वह भी मैं नहीं। उसमें मैं नहीं। उसमें से मुझे सन्तोष नहीं। सन्तोष तो... आया था न सवेरे? आह्लाद। आहाहा! सहजानन्द प्रभु चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होने से आह्लाद, प्रसन्नता, सन्तोषता जो जागे, वह सुख का, अमृत का सागर है। समझ में आया? राग में एकमेक हो जाना, वह दुःखी प्राणी है और राग से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसा जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ, वह जगत में सुखी है। वह सुखी अपने सुख से सुखी है। पर से सुख है, ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं। समझ में आया?

वैसा (आत्मस्वरूप में जागृत) आत्मा; है। आहाहा! **अन्तरङ्ग मैं सन्तोष करता है...** धर्मी जीव को तो अपने आनन्द और ज्ञान का सन्तोष है। बाहर की चीज़ की सुविधा की अनुकूलता का सन्तोष धर्मी को होता नहीं। आहाहा! अभी मान मिला, हमको लोग अभिनन्दन दे, बड़ा ठहरावे, उसमें इसे सन्तोष-प्रेम होता है। मूढ़ है, कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। शशीभाई! यह तो धर्म की बात है, बापू!

वह **स्वस्वरूप में प्रीति करता है।** धर्मात्मा, प्रबुद्ध आत्मा स्वस्वरूप अपना, स्व

अर्थात् अपना ज्ञान और आनन्द का स्वरूप अपना भगवान आत्मा का, उसमें वह सन्तोष करता है। आहाहा! समझ में आया? उसमें प्रीति करता है। आता है न उसमें? २०० गाथा (समयसार) नहीं? निर्जरा (अधिकार)। उसमें रुचि, प्रीति, सन्तोष कर, बापू! भाई! अन्दर तेरी तत्त्व-चीज़ है न! तत्त्व है या नहीं तू? अस्ति है या नहीं? मौजूदगी चीज़ है या नहीं? और उस मौजूदगी चीज़ का स्वभाव क्या? जो स्व-भाव अपना भाव वह तो ज्ञान और आनन्द इसका अपना स्वभाव है। आहाहा! यह ज्ञान और आनन्द को करनेवाला स्वयं से सन्तोष पाता है। समझ में आया?

जिसके आनन्द के स्वाद के समक्ष धर्मी को इन्द्र के इन्द्रासन... नहीं आया? 'चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सरीखा भोग, कागवीट सम मानत है समकित दृष्टि लोक।' आहाहा! कौवे की विष्टा। मनुष्य की विष्टा तो अभी खाद में काम आवे और सूकर भी खाये। परन्तु कौवे की विष्टा तो खाद में काम नहीं आती। क्योंकि वह सूखकर निकले, खाद को बिगाड़े। आहाहा! इसी प्रकार धर्मी जीव को अपना आत्मा ज्ञान और आनन्द का स्वरूप का भान हुआ। एक बार भी उसे अनुभव हुआ। आहाहा! वह तो आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का सागर है। ऐसे आनन्द में पर के... अज्ञानी प्राणी मैला पीता है न? तो ज्ञानी कहते हैं कि मलिन पानी में मजा माननेवाला, वैसे राग और पर में मजा माननेवाला मलिन पानी पीनेवाला है। आहाहा! भारी फेरफार करना पड़े। उलट-पुलट है, भाई! यह सब राज मिले, धूल मिले न, पाँच-पचास लाख।

वह बाई नहीं अभी, देखो न। उसके पास दो अरब चालीस करोड़ रुपये हैं। दो अरब चालीस करोड़। सात महीने से असाध्य है। गोवा-गोवा। गोवा है न यह? दिव-दमण को। उसके बहुत वर्ष से। अभी भाई ने नहीं कहा सवा वर्ष से। सवा वर्ष से अहमदाबाद में असाध्य। यह तो साधारण। वह तो पैसेवाले। जिसके घर में चालीस लाख का बँगला, जिसके घर में दो अरब चालीस करोड़। उसकी बहिन की लड़कियाँ अपने यहाँ बालब्रह्मचारी हैं। यहाँ दो है। ६२ में। ६२ हुई। ६४? ६२-६२। ६२ न? ६४। ६२ थी और २ अभी हुई। राजकोट में हुई न भाई? राजकोट में दो ब्रह्मचारी, छोटी उम्र में। दो बालब्रह्मचारी अभी राजकोट में हुई हैं। पीछे रहती हैं। ६४। उनमें उनकी दो लड़कियाँ हैं। बहिन की लड़कियाँ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मोहन डोसा। मोहन डोसा लींबड़ीवाला। दो लड़कियाँ हैं। एक मोहनभाई डोसाभाई की और एक वह दूसरा अपने बारम्बार आते थे। पारस। पारस नहीं? आता था व्याख्यान में हमेशा आता था। अभी वह हो गया है। शरीर वह हो गया है। ... दो लड़कियाँ बालब्रह्मचारी। ६२ और दो अभी। बहिन के नीचे ६४ हुई। पूर्ण हुआ ६४। ऐई! यह बहिन के नीचे है सब। बहिन के प्रताप से सब हुआ।

यहाँ कहते हैं, ऐसी-ऐसी चीज़ें होने पर भी... अरेरे! असाध्य है। यह क्या सामग्री? असाध्य है। आहाहा! असाध्य तो जीव पर को अपना माननेवाले, वे असाध्य हैं। अपना साध्य जिसे नहीं... ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु आत्मा है। उसका जिसे साध्य नहीं, वे सब असाध्य हैं। आहाहा! वे बाह्य से असाध्य दिखते हैं। यह अभ्यन्तर में असाध्य हैं, ऐसा कहा न? ज्ञान का पराभव करनेवाले हैं। आहाहा! पाँच-पच्चीस इंच वर्षा आवे, फसल अच्छी हो, वर्ष अच्छा पके। किसान हो न उसे मानो पाक हो बड़े इतने-इतने डुंडा हो। अन्दर देखने जाये वहाँ तो ऐसे मानो... आहाहा! मानो क्या हुआ पककर!

अपने है न खुरई में? खुरई में वे ऋषभकुमार हैं। बड़ा करोड़पति है। उसे कृषि पण्डित की उपमा है। सरकार की ओर से। अभी गये थे न? परसों गये थे, उनके घर में गये थे। बड़ा पैसेदार बहुत। परन्तु पुत्र-पुत्री नहीं। सात पीढ़ी से ऐसा का ऐसा चला आता है। पुत्र बिना और पुत्र बिना। यह भी गोद लिया था इसके भाई का। उसकी बहू अपने आ गयी है। महीने-महीने रह जाती है। अपने को कुछ खबर नहीं। महीने-महीने। बहुत पैसेवाले। सात-सात लाख के तो घर में मन्दिर घर के, मकान घर के, कितने लाखों के तो चना पकते होंगे, कितने लाखों के गेहूँ पकते होंगे। मील-मील में पूरी जमीन घर की उसकी सब। अभी परसों गये थे। कृषि।

मुमुक्षु : बहुत सुखी।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी सुखी नहीं। सरकार की ओर से कृषि पण्डित। और उसे भाई कृषि का सब आता है। खेती के काम में ऐसा करना, ऐसा करना। मीलों में घर की जमीन। बड़ा राजा। ऐसे नरम व्यक्ति, हों! तीनों दिन हमारे पास ही रहा। घर में पूरे

दिन। उसे ऐसा निर्णय करने का नहीं। उसकी बहू को खबर है। वह महीने-महीने रह गयी है। अपने को कहाँ महिलाओं की खबर नहीं होती। महीने, पन्द्रह दिन दो बार रह गयी। ऐई... ऋषभकुमार की। बड़ा बादशाह भी हों राजाओं। वह दुनिया ऐसा मानती है कि यह सुखी है। धूल भी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आपने दुःखीरूप से दृष्टान्त दिया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दुःख की बातें हैं, इस दुःख की यह। आहाहा! यहाँ तो जगत से भिन्न जाति है भाई यह तो। वह दुखिया बेचारा। 'सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुखिया।' एक आत्मा के आनन्द की लहर में रहनेवाले सुखी हैं। बाकी सब दुखिया-पूरी दुनिया दुःखी है। आहाहा!

कहते हैं '(आत्मस्वरूप में जागृत) आत्मा अन्तरंग में सन्तोष करता है—स्व-स्वरूप में प्रीति करता है। कैसा होकर? बाह्य में कौतुकरहित होकर...' भाषा देखो! कौतुक शब्द पड़ा है न अन्तिम। कौतुक का अर्थ ऐसा है कुछ ऐसा दूसरी चीज़ को देखकर अन्दर में विस्मयता आ जाये, ठीक। यह सब कौतुक है। कौतुक अर्थात् पर में सुखबुद्धि है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! कौतुहलता हुई पर में, विस्मयता लगे, पैसा, इज्जत, कीर्ति, शरीर आदि, यह कौतुक शब्द प्रयोग किया है। आचार्य ने गजब किया है। कौतुक अर्थात् ऐसी कौतुहलता अर्थात् आहाहा! इसमें ठीक है। कौतुहल से देखना चाहता है वह। आहाहा! परपदार्थ को कौतुहल से देखना चाहता है, वह मूढ़ जीव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : आत्मा को देखने का कौतुहल नहीं करता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं करता, इसलिए तो उसमें कहा है न? एक बार कौतुहल तो कर। भाई! छह महीने। आहाहा! कौन है परन्तु यह? जिसके इतने गुणगान चलते हैं, वह यह है कौन? उसे देखने के लिये कौतुहल तो कर। आहाहा! इसका कौतुहल छोड़ दे न बाहर का, कौतुहल शब्द आचार्य ने प्रयोग किया है। कौतुहल का अर्थ—ऐसे बाहर में हर्षित हो जाता है, ऐसा कहते हैं। बाहर की कुछ अनुकूलता देखकर, शरीर की, वाणी की, पैसे की, इज्जत की-कीर्ति की, स्त्री की, पुत्र की, दुकान की, धन्धे की। उसमें कौतूहलता, उसमें हर्षित हो जाता है। आहाहा! मूढ़ है। ऐई! आहाहा!

जैसे सन्निपातिया वात, पित्त और कफ के तीनों रोग बढ़ गये हों तो सन्निपात होता है। उसमें दाँत निकालता है (खिलखिलाकर हँसता है)। वह सुखी है? सुखी के दाँत हैं? आहाहा! इसी प्रकार आत्मा में कौतुहलता छोड़कर परपदार्थ में कौतुहलता से जो सुख मानता है, देखना चाहता है, वह सन्निपातिया दुःखी है। आहाहा! दुकान में अच्छा धन्धा चलता है, पेढियाँ ठीक-ठीक चलती हैं। ऐसी बनिया बातें करते हैं। नहीं? जोरदार पेढ़ी। दस-दस पेढी। दो-पाँच करोड़ रुपये ऐसे डाले। किसी जगह २० हजार, लाख देकर एक प्रतिशत का ब्याज और महीने-महीने में देखने जाना दुकान में। यह क्या? ... न जाये। सर्वत्र ऐसे चारों ओर आसन बिछाया है। परन्तु है क्या अब?

मुमुक्षु : बाहर में मजा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूढ़ हो... आहाहा! तेरी मूर्खाई के दर्शन हैं, कहते हैं। ऐई! आहाहा! आचार्य महाराज कौतुक शब्द प्रयोग करके और उसकी कुछ विशेषता दिखती है, ऐसा। अपने अतिरिक्त परपदार्थ में कुछ ऐसी सुखबुद्धि, कौतुहलता, विस्मयता, आश्चर्यता, वीर्य में उसे ऐसा कुछ न कुछ ठीकबुद्धि हो जाती है, उसे यहाँ कौतुक कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो आत्मतत्त्व का भान नहीं, उसकी बातें हैं, बापू! और भान हो, वह जीव पर में कुतुहल नहीं करता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! यह सब जगत के चतुराई... सब... पकती है, वह फिर सब हरे चने थे। वह हमको कुछ दिये थे, किसी को नहीं साथ में रसोईया को। अपने बचुभाई तब आया था न। अधमण या मण बड़े हरे चने। सब्जी बनाने के लिये। बहुत पाक। गजब का। बड़ा खेत। कितने लाखों की आमदनी। है बनिया। कहा, धूल में भी नहीं इसमें कहीं। आहाहा! सुनता है। व्यक्ति बहुत ऐसे दस-दस हजार लोग। वहाँ एक आश्रम है, भाई! वह किसका? गुरुकुल है। चवरे थे वहाँ। वहाँ थे और गाँव से एक मील दूर है। वहाँ मानस्तम्भ का महोत्सव। परन्तु लोग दस-दस हजार, हों! बहुत लोग। भाई आये थे जगमोहनलालजी। पण्डित जगमोहनलालजी वहाँ आये थे। लोग बेचारे सुनते थे। परन्तु इस बात का कहाँ प्रेम-रस लगना अन्दर। बाहर की बातों के रसिक को इस आत्मा की बात का रसिकपना भारी कठिन है। आहाहा!

कैसा होकर ? बाह्य में कौतूकरहित होकर... अब यह। आहाहा! धर्मी जीव को, प्रबुद्ध आत्मा को बाह्य पदार्थ में कुतुहलता, विशेषता कुछ भासित नहीं होती। कहो, सुजानमलजी! परन्तु यह लड़का १२०० वेतन लावे और रोटिया घड़ना पड़े।

मुमुक्षु : अभी आप ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची। आहाहा! यह सब सुविधा जहर की सुविधा। उसमें जिसे प्रेम होता है, कुतुहलता होती है, वह मूढ़ात्मा है। आहाहा! अरे! यहाँ त्यागी होकर भी इज्जत बढ़े, शिष्य बढ़े तो प्रसन्न हो, वह मूढ़ है।

मुमुक्षु : धर्म का फैलाव होता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म का फैलाव आत्मा में होता होगा या बाहर होता होगा? आहाहा! समझ में आया?

कौतूकरहित होकर—शरीरादि में अनुरागरहित होकर... उसे अनुसरकर ठीक है, ऐसा भाव छूट जाता है। धर्मात्मा को बाह्य को अनुसरकर राग होता है, वह अनुराग छूट जाता है। आहाहा! निर्बलता का राग हो, वह अलग वस्तु है। परन्तु उसके अनुसरकर होता है, कुतुहलता का प्रेम और विशेषता देखकर, वह तो मिथ्यात्व का राग है। आहाहा! समझ में आया? यह तो समझ में आता है, ऐई... रसिक! सवेरे तो सूक्ष्म था परन्तु अब सुनना पड़ेगा और करना पड़ेगा। यह मर जाये चौरासी के अवतार में, देखो न! आहाहा! अभी तो कितने ही हार्टफेल का सुनते हैं। अमुक को हार्टफेल हो गया, अमुक को ऐसा हुआ। आहाहा!

भावार्थ - ज्ञानी को प्रश्न पूछा कि — 'तुम बहिरात्मा को आत्मस्वरूप का बोध क्यों नहीं करते ?' मूढ़ जीवों को तुम क्यों नहीं समझाते? **उसके प्रत्युत्तर में ऐसा कहा कि—१. बहिरात्माएँ, वस्तुस्वरूप से अत्यन्त अज्ञात (अजान) हैं;...** उसे आत्मा और पर क्या चीज़ है भिन्न, दोनों की वस्तुस्थिति से अज्ञात है। आहाहा! **वे इतने मूढ़ हैं कि उनको बोध करो या न करो,...** पत्थर पर पानी जैसा है। ऐसे पर में पकड़ा गये हैं। उन्हें बोध करे तो भी समझेंगे नहीं। आहाहा!

उनके लिए वह सब समान है। यह आ गया श्लोक-९८ में। मूढ़ है। कुछ भान

ही नहीं होता। आहाहा! पागल होकर गाफिल होकर घूमते हैं। पागल-पागल।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल ही पूरी दुनिया है। जिसे भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु की खबर नहीं होती और यह बाहर की खबर। सब पागल है। आहाहा!

जिसे जन्म-मरण के फेरे में भटकना है, ऐसे पागल आत्मा के भान को करते नहीं। आहाहा! अपनी कीमत को आंकते नहीं और बाह्य चीज़ की कीमत में घुस गये हैं, दौड़ गये हैं। ऐई! आहाहा! कहो, समाधि का अधिकार है न?

दूसरा। **आत्मस्वरूप, स्वसंवेदनगम्य है,...** भगवान आत्मा तो अन्तर के स्व अर्थात् अपने ज्ञान से सम अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसी चीज़ है। वह कहीं शब्दों से सुनने से ज्ञात हो जाये, आहाहा! ऐसी चीज़ नहीं है। **आत्मस्वरूप, स्वसंवेदनगम्य है,...** स्व अर्थात् अपने, सं अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के वेदन से गम्य है। आहाहा! वह राग से और वाणी से और सुनने से भी गम्य नहीं। यह तो कहा था, नहीं? विकल्प जो उठता है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, शुभ विकल्प राग है। उस राग की ताकत नहीं कि आत्मा को जान सके। क्योंकि राग स्वयं ही अज्ञान है, अचेतन है। राग की स्थिति स्वयं क्या है, यह राग नहीं जानता और राग किस भूमिका में अस्थिरता का उसे होता है, इसकी खबर नहीं। आहाहा!

इसलिए राग की ताकत नहीं कि चैतन्य के स्वभाव को जान सके। वह तो अपने स्वभाव की ज्ञान पर्याय निर्मल, वह उसे जाने, स्वसंवेदन से ज्ञात हो, ऐसा आत्मा है। आहाहा! यह सब लौकिक पढ़ाई संसार की। मेट्रिक और एल.एल.बी. और एम.ए. की डिग्रीयाँ। ... डॉक्टर—एम.ए. होता है। वकील एल.एल.बी. होते हैं। सब डिग्रीयाँ हैं अज्ञान की। आहाहा! मूढ़ात्मा आत्मा के चमत्कार को न जानकर बाहर की चीज़ में उसे चमत्कार से विस्मयता लगती है। आहाहा!

वह कोई कहता था नहीं कल? पारसी नहीं इन्दिरा के पास? एक बड़ा पारसी है। वकील पालखीवाला। वह अलग हो गया। उसका दिमाग, तीन लाख माँगता है अभी।

मुमुक्षु : वह तो मर जाने के बाद।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी बात नहीं, यह तो लोगों को बाहर की कितनी कीमत है। भेजावाला वह सब सीखा मानो। आपने रामजीभाई काठियावाड़ में भेजावाले गिना जाते थे। वह और... भेजावाला गिना जाता होगा। ऐसा कहते हैं कोई सुने अपने कहाँ। चेतनजी कहते थे कि उसका तीन लाख का भेजा (दिमाग) माँगते हैं। तीन लाख मर जाने के बाद, हों! अब उसकी कीमत। आहाहा! भगवान अन्दर तीन लोक का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु की कीमत की उसे खबर नहीं होती। आहाहा!

और वे समझते भी नहीं; इसलिए उनको बोध करना, व्यर्थ है। आहाहा! दो श्लोक का हुआ न ५८-५९ में।

इस श्लोक में ६० में कहा है कि—अनादि मिथ्यात्व के कारण... भ्रमणा। चैतन्य के भान बिना के प्राणी अन्तर आत्मा सच्चिदानन्द हीरा शुद्ध चैतन्यघन वस्तु... आहाहा! उसके अज्ञान के कारण, मिथ्यात्व के कारण। आहाहा! **बहिरात्मा को स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है।** शरीर वह पर है। मेरी चीज़ आनन्द की स्व है। उसे भिन्नता का ज्ञान नहीं।

उसको आत्मस्वरूप का भान नहीं है;... स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है। उसको आत्मस्वरूप का भान नहीं है; इसलिए वह शरीरादि बाह्यपदार्थों में ही आनन्द मानता है,... बस। आहाहा! अच्छी रसोई हुई ऐसे मैसूर और अरबी के भुजिया घी में तले हुए। अरबी के पत्ते नहीं होते अरबी? चने के गोल बीड़ा करके, टुकड़े करके। आहाहा! मूर्खाई के कहीं गाँव अलग होते हैं? कहते हैं। उसमें आनन्द माने उस जड़ में। भगवान आनन्द का नाथ अन्दर विराजता है। जिसका स्वरूप ही अतीन्द्रिय आनन्द ही जिसका स्वरूप है। आहाहा! वह विषय में आनन्द मानता है, महामूर्ख है, बहिरात्मा है। आहाहा! पाँच-पाँच हजार रुपये (एक दिन का) मेहनताना लेता हो बड़ा वकील, तो भी कहते हैं, महामूर्ख है।

मुमुक्षु : आप मूर्ख कहते हो, दुनिया तो चतुर।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया तो चतुर (कहे)। पागल तो पागल को अच्छा कहे न!

पागल का अस्पताल हो, उसमें बड़ा पागल हो, उसे अच्छा कहा जाता है। आहाहा!

यह परमात्मप्रकाश में आया था न, भाई! परमात्मप्रकाश में आया था। धर्मी जीव को जगत पागल कहता है। ऐसी बातें। आत्मा ऐसा... आत्मा ऐसा... धर्मी, वह जगत को पागल मानता है।

मुमुक्षु : वह तो आमने-सामने दो लड़के झगड़ते हों, ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : झगड़े की बात नहीं है। यह तो उसे कीमत नहीं, उसे आत्मा की (कीमत नहीं) उसे बाहर की कीमतवालों को उड़ाना चाहे जब आत्मा, तब ऐसा कहता है, यह मेरे। अभी नहीं दिखता इसमें आनन्द, दिखता है उसमें, बातें कठिन, भाई! पागल जैसी बातें करते हैं, ऐसा अज्ञानी को लगता है परन्तु न दिखाई दे ऐसा, ऐसा निर्णय करनेवाला कौन? न दिखाई दे, ऐसा निर्णय करनेवाला दिखता है। आहाहा! न दिखाई दे, ऐसा निर्णय उसके अस्तित्व में ज्ञात होता है। आहाहा! मैं ज्ञात नहीं होता, यही कहते हैं कि मैं कुछ हूँ। आहाहा! वह ज्ञात नहीं होता, ऐसा भी हूँ, यह जाननेवाला, वह मैं हूँ। यह नहीं ज्ञात होता, ऐसा जो उसका जाननेवाला, वह मैं हूँ। उसमें यह अस्तित्व उसकी मौजूदगी सिद्ध करता है। परन्तु उस पर नजर नहीं है, उसे खबर नहीं है। आहाहा! दुनिया की चतुराई के कारण अपनी चतुराई भूल गया। ज्ञानी अपनी चतुराई के कारण दुनिया की चतुराई की कीमत उसे उड़ गयी है। आहाहा! पाँच-पाँच हजार का वेतन लाता हो, दस हजार का वेतन लाता हो। एक दिन के बड़े वकील दो-दो हजार लें। वे थे न भुलाभाई, नहीं बड़े? भुलाभाई दो हजार लेते थे। एक दिन के दो हजार। उसमें क्या हुआ धूल? आहाहा! सब पागल जैसे हैं। पागल जैसे या पागल?

मुमुक्षु : पागल ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसा कहे तो क्या कहने का? आहाहा!

यहाँ यही कहते हैं, जो शरीरादि बाह्य पदार्थों में आनन्द नहीं और आनन्द मानता है, आनन्द तो आत्मा में है। आहाहा! हिरण की नाभि में कस्तूरी, हिरण की नाभि में कस्तूरी, परन्तु उसकी गन्ध हवा के कारण बाहर बहुत फैल गयी ऐसे। इसलिए वह गन्ध मानो बाहर से आती है, ऐसे खोजने जाता है। जंगल में हवा चले और यहाँ से गन्ध

फैले ऐसे। इसलिए मानो यहाँ होगी ? यहाँ होगी गन्ध ? परन्तु यहाँ है, उसकी उसे खबर नहीं। इसी प्रकार आनन्द का नाथ भगवान की नाभि अन्दर में, अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। मृग जैसे जीव वह आनन्द और बाहर की चीज़ में खोजते हैं। आहाहा! मूढ़ात्मा है। मूढ़ हो गये हैं। नुन्नर हो गये नुन्नर। नुन्नर अर्थात् नन्नुर। नन्नुर अर्थात् तेजरहित। ऐसे तो अपने नुन्नर शब्द कहते हैं। परन्तु वास्तविक शब्द तो इसका नन्नुर है। ननूर—तेज नहीं। तेजरहित। आहाहा!

तेजी घोड़ी हो उसे चाबुक नहीं मारना पड़ता। ऐसा जरा करे वहाँ वेग करे। गधे को सोटा (डण्डा) मारना पड़ते हैं, तब चलता है। वह तेजवाली जो है, उसे आँख में वह चाबुक ऐसा करे, वहाँ उसकी नजर जाये तो एकदम गति करे। आहाहा! इसी प्रकार पात्र जीव सत् को सुनते हुए उसकी तेजवाले हैं, उनकी गति अन्दर में जाती है। गधे को सोटा (डण्डा) मारे। ऐई! आहाहा! करुणा से है यह।

भाई! अपने रमेश ने रचा है। वींछियावाला। घाटकोपर है न रमेश ? व्याख्यान में आया था, सब उसने रचा है। भक्ति के गायनों में। 'तेजी घोड़ीने चाबखा न होय, गधेडाने डफणा होय' यह उसने रचा है। रमेश नहीं रमेश ? वींछियावाला। प्रेमचन्दभाई के पुत्र का पुत्र। प्रेमचन्द लक्ष्मीचन्द। होशियार है। गायन, भक्ति बोलता है। ओहोहो!

कहते हैं, **आनन्द मानता है, उनमें ही अनुराग करता है...** आहाहा! अर्थात् कि आत्मा को अनुसरणा भूलकर परपदार्थ को अनुसरकर झुकाववाले हैं। आहाहा! अनुराग करते हैं। **परन्तु आत्मस्वभाव की महिमा लाकर, उसमें प्रीति नहीं करता। उसका कारण—उसका ज्ञान, अविद्या के गाढ़ संस्कार से मूर्छित हो गया है...** आहाहा! भ्रान्ति के ज्ञान से संस्कार से उसका ज्ञान मूर्च्छित हो गया, मूर्च्छित हो गया। मूर्च्छा आ गयी। आहाहा! लक्ष्मण जैसे भी उस रावण की शक्ति लगकर मूर्च्छा आ गयी थी न ? लक्ष्मण को-लक्ष्मण को। रामचन्द्र जैसे महापुरुष उस भव में मोक्ष जानेवाले। उनके भाई लक्ष्मण को रावण की शक्ति लगी। बेहोश। सवेरे यदि नहीं जगे तो देह छूट जायेगी। ऐसा लोगों को लगा। ये तो जानते हैं कि यह (वासुदेव) है। (वासुदेव) को देह नहीं छूटती। परन्तु ऐसी शंका लोगों में जगी। शक्ति से मूर्च्छित हो गये। आहाहा! इसी प्रकार

अनादि का अज्ञानी अज्ञान और मिथ्यात्व की शक्ति से मूर्च्छित हो गये हैं। वह रावण की शक्ति से मूर्च्छित है। आहाहा! **आच्छादित हो गया है; वह है।**

अन्तरात्मा को विवेकज्योति प्रगट हुई है;... आहाहा! अरे! मैं तो आत्मा ज्ञानस्वरूपी आनन्द। मैं शरीर भी नहीं, वाणी नहीं, राग नहीं, आहाहा! यह दया, दान के परिणाम हों विकल्प, वह मैं नहीं। वह तो विकार, दुःखरूप दशा है। समझ में आया? जगत से बात बहुत अलग है, भाई! और अभी की प्रणालिका। हा...हो... हा...हो... अभी देखो न, यह खलबलाहट हो गयी है। उसको पकड़ा है न कुछ। छह सौ, साढ़े छह सौ को। खलबलाहट। कोई तो और कल कहता था, उसका जो विश्वास व्यक्ति जगजीवन, इन्दिरा का विश्वासपात्र, लो। जगजीवन था। उसे पकड़ा है। खलबलाहट हो गयी। उसके विरुद्ध हुआ होगा तो उसे पकड़ा। उसका विश्वासपात्र व्यक्ति। देखो न, इस जगत में। लड़के बातें करे। आहाहा! ऐसी खलबलाहट जगत में अभी चलती है। आहाहा! अन्तर चीज़ को देखने को इसे समय नहीं मिलता। ऐसी बातें सुने उसे ऐसा लगे कि आहाहा! अनादि से चला जाता है, यह कोई नया नहीं है, बापू! आहाहा!

इसलिए उसको शरीरादि बाह्यपदार्थों में प्रीति नहीं है,... धर्मात्मा को। **उनमें उसे कहीं सुख भासित नहीं होता,...** आत्मा में आनन्द भासित हो, उसे कहीं सुख भासित नहीं होता। आहाहा! **वह उस ओर से बहुत उदासीन रहता है। वह वहाँ से हटकर स्वसन्मुख होकर, आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिए सदा प्रयत्नशील है।** आहाहा! **जहाँ उसको ऐसी ज्ञानदशा वर्तती हो, वहाँ उसे अन्य को बोध देना रुचिकर कैसे लगा सकता है?** ऐसा कहते हैं। यह तो विकल्प। आहाहा! और दूसरे समझे, न समझे वह कहीं इससे... जो विकल्प उठे, उसे थोथा बना दिया। आहाहा! निरर्थक है, कहते हैं, दूसरे को समझाना। मैं मुझमें रहूँ नहीं अब? आहाहा!

अन्य को बोध देना रुचिकर कैसे लगा सकता है? रुचिकर नहीं लगता है। आहाहा! क्योंकि अन्तर में स्वरूप सन्मुख की झुकावदशा में जिसे तैयारी विशेष है, उसे बाहर के विकल्प में उसकी तैयारी नहीं होती। इतना कहकर विशेष समझावे अन्तर में... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ६१

कुतोऽसौ शरीरादिविषये निवृत्तभूषणमण्डनादिकौतुक इत्याह -

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते॥ ६१॥

सुखदुःखानि न जानन्ति। कानि शरीराणि जडत्वात्। अबुद्धयो बहिरात्मानः। तथापि यद्यपि जानन्ति तथापि। अत्रैव शरीरादावेव कुर्वते। कां? निग्रहानुग्रहधियं द्वेषवशादुपवासादिना शरीरादेः कदर्थनाभिप्रायो निग्रहबुद्धिं रागवशात्कटकटिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुग्रहबुद्धिम्॥६१॥

वह (अन्तरात्मा) किस कारण से शरीरादि के विषय में भूषणमण्डनादि में अनुरागरहित (उदासीन) होता है, वह कहते हैं —

काया को होती नहीं, सुख-दुःख की अनुभूति।
पोषण-शोषण यत्न से, करते व्यर्थ कुबुद्धि॥ ६१॥

अन्वयार्थ - अन्तरात्मा विचारता है कि—(शरीराणि) ये शरीर (सुख-दुःखानि न जानन्ति) जड़ होने से सुखों तथा दुःखों को नहीं जानते हैं, (तथापि) तो भी (ये) जो जीव (अत्रैव) इन शरीरों में ही (निग्रहानुग्रहधियं) उपवासादि द्वारा दण्डरूप निग्रह की और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करनेरूप अनुग्रह की बुद्धि (कुर्वते) धारण करते हैं, (ते) वे जीव, (अबुद्धयः) मूढ़बुद्धि हैं-बहिरात्मा हैं।

टीका - सुख-दुःख जानता नहीं। कौन (नहीं जानता)? शरीर, जड़पने के कारण (नहीं जानता); बुद्धिरहित बहिरात्माएँ, ऐसा होने पर भी अर्थात् (शरीर) जानता नहीं, तथापि उनमें ही—शरीरादि में ही करते हैं। क्या (करते हैं)? निग्रह-अनुग्रह की बुद्धि (करते हैं) अर्थात् द्वेष के आधीन होकर, उपवासादि द्वारा शरीर को कृश करने का अभिप्राय, वह निग्रहबुद्धि और राग के आधीन होकर, कंकण, कटिसूत्रादि द्वारा (शरीरादि को) भूषित करने का (शृंगारित करने का) अभिप्राय, वह अनुग्रहबुद्धि करते हैं।

भावार्थ - शरीर, अचेतन-जड़ हैं; न तो उनमें सुख-दुख है और न ज्ञान है तथापि बुद्धिरहित बहिरात्मा, द्वेषवश उपवासादि द्वारा उनको (शरीरों को) निग्रह करने की अर्थात् कृश करने की बुद्धि करते हैं और रागवश उनको कंकण, कटिसूत्र (करधनी) आदि द्वारा विभूषित कर अनुग्रह (कृपा) करने की बुद्धि करते हैं।

बहिरात्मा को देहाध्यास है अर्थात् उसको देह में आत्मबुद्धि है; इसलिए उसको शरीरादि के विषय में निग्रह-अनुग्रहबुद्धि रहती है परन्तु अन्तरात्मा को भेदज्ञान वर्तता है। वह आत्मा को शरीरादि से अत्यन्त भिन्न मानता है। उसको उनके साथ एकताबुद्धि नहीं है, इससे उसको शरीरादि के प्रति श्रद्धा में अनुग्रह-निग्रहबुद्धि का अभाव होता है। अस्थिरता के कारण शरीरादि के शृंगार का भाव आवे, परन्तु अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है। वह उस भाव को दोष मानता है; इसलिए वह शरीरादि परपदार्थों के प्रति उदासीन होता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

अज्ञानी मानते हैं कि शरीराश्रित उपवास, व्रत, नियमादि से शरीर को कृश करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है, उनकी विषयों में प्रवृत्ति रुक जाती है और इस कारण राग-द्वेषादि नहीं होते हैं परन्तु यह मान्यता भूलयुक्त है क्योंकि शरीराश्रित उपवास करना, पंचाग्नि तप करना, मौन रखना, अनेक योग आसन करना-इत्यादि पौद्गलिक जड़क्रियाएँ हैं; उनका सम्बन्ध शरीर के साथ है; आत्मा के साथ नहीं। शरीर, जड़ है; उसको सुख-दुःख नहीं होता। अज्ञानी को शरीर के साथ एकताबुद्धि है; इसलिए वह शरीर की जो अवस्था होती है, उसे अपनी (आत्मा) की हुई मानता है। यह उसका भ्रम है।

अज्ञानी, मोहवशात् वस्त्र-आभूषणादि द्वारा शरीर पर अनुग्रह (उपकार) करने की बुद्धि करता है क्योंकि उसको देहाध्यास है अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि है; इसलिए उसके प्रति के राग के कारण वैसा अनुग्रह करना चाहता है परन्तु यह भी उसका भ्रम है।

इसलिए शरीर में निग्रह-अनुग्रहबुद्धि करना अज्ञानता है॥६१॥

ज्येष्ठ कृष्ण ७, सोमवार, दिनांक ३०-६-१९७५, श्लोक-६१-६२, प्रवचन-७६

उवज्जायाणां, ऐसा आता है न? कुछ अन्तर नहीं करता था वह कोटा में? एक संगीत में णमोकार उतारा। बोलते हैं। णमो अरिहंताणं। नहीं बुलाता था? कोटा में। उसके ऊपर पूरा गायन। णमो अरिहंताणं, णमो उवज्झायाणं। ऐसा कुछ था। है? यह शब्द कुछ अधिक है इसमें। लम्बाता था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। उवज्झायाणं। आईरियाणं, उवज्झायाणं। वह कुछ कहता था फिर। व्याख्यान पूरा हो और फिर सब सभा को थोड़ा... बोलता था।

६१ गाथा। **वह (अन्तरात्मा) किस कारण से शरीरादि के विषय में भूषण-मण्डनादि में अनुरागरहित (उदासीन) होता है, वह कहते हैं —** ६१,

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते॥ ६१॥

टीका - **सुख-दुःख जानता नहीं। कौन (नहीं जानता)? शरीर,...** शरीर तो जड़ है, उसे सुख-दुःख कहाँ है? **जड़पने के कारण (नहीं जानता); बुद्धिरहित बहिरात्माएँ, ऐसा होने पर भी...** शरीर जानते नहीं, तथापि उसमें ही अर्थात् शरीर में ही करता है। **शरीरादि में ही करते हैं। क्या (करते हैं)? निग्रह-अनुग्रह की बुद्धि (करते हैं)...** शरीर को कृश करना, पतला करना, उपवास करना, ऐसे अज्ञानी शरीर को कृश करने की बुद्धि रखते हैं। जरा समाधि का अधिकार है न?

कहते हैं, इस शरीर में ही **निग्रह-अनुग्रह की बुद्धि (करते हैं) अर्थात् द्वेष के आधीन होकर, उपवासादि द्वारा शरीर को कृश करने का अभिप्राय, वह निग्रहबुद्धि...** शरीर को कृश करूँ तो इन्द्रियदमन हो। शरीर को अपवास करूँ तो इन्द्रियाँ काबू में रहे, ऐसा मिथ्यादृष्टि का अभिप्राय है, कहते हैं। आहाहा! कहो, सुजानमलजी!

मुमुक्षु : ....वर्षीतप किये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्षीतप, वे सब वर्षीतप के करनेवाले। आहाहा!

यह यहाँ डालते हैं, देखो न! शरीर जानता नहीं, शरीर को खबर नहीं कि यह कृश होता है, इसलिए मुझे लाभ होता है। आहाहा! यह श्वेताम्बर में दशवैकालिक के आठवें अध्ययन में यह गाथा आती है। 'देहे दुःखम् महाफलं' 'देहे दुःखम् महाफलं' परन्तु देह को दुःख कहाँ था? आहाहा! ऐसा कि शरीर कृश करे, दुःख हो तो जीव को लाभ हो। अज्ञानी... द्वेष है, वह उसे शरीर के ऊपर द्वेष है। आहाहा! ज्ञानी को जो होता है, वह तो आनन्द के (स्वादसहित) इच्छा निरोध से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, इसलिए उसे इच्छा उत्पन्न नहीं होती, इसलिए उसे आहार का योग नहीं होता, उसे उपवास कहने में आता है।

यह तो इसे अपना अभिप्राय शरीर को पतला कृश करूँ तो इन्द्रियदमन हो, तो इन्द्रिय वश हो, वह अभिप्राय मिथ्या है, कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! समझ में आया? निग्रह शरीरादि को जानते नहीं। **द्वेष के आधीन होकर, उपवासादि द्वारा...** उपवास, उनोदरी, रसत्याग आदि (से) **शरीर को कृश करने का अभिप्राय,...** शरीर पतला पड़े तो इन्द्रिदमन हो। जड़ को क्या है पतला करे या नहीं? और पतला करना, वह आत्मा के अधिकार की बात है? वह तो उसे पतला-कृश होने का काल हो तो कृश होता है। अज्ञानी को बाहर में दिखाव करना है न? आहाहा!

इच्छानिरोध आता है हों तप। मूल पाठ में उसमें आता है। प्रवचनसार, १४३ गाथा। आता है न १४३। पाठ में आता है। १४३ है। '**अत्र यदाप्यतीतान्तकाले दुर्लभायाः सर्वप्रकारोपादेयभूतायाः सिद्धगतेः कालभब्धिरूपेणे बहिरङसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानाज्ञानानुष्ठान समस्त पर द्रव्येच्छा निरोध लक्षणतप।**' इसमें निकलेगा शब्द। सर्व परद्रव्य इच्छानिरोध लक्षण तप। आनन्द के भान में रहने से इच्छा उत्पन्न नहीं होती, इसलिए उसे आहार का योग नहीं। आहार उसे आने का नहीं था। आहाहा! ऐसा है। यह आहार को छोड़ूँ, ग्रहण करूँ, यह मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! है न? त्यागोपादान। त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। यह गुण है उसका कि पर का त्याग और पर का ग्रहण उसमें है ही नहीं। समझ में आया? परन्तु यह छोड़ूँ... यह छोड़ूँ... तो वह जड़ का स्वामी होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

पानी नहीं लूँ। वह भी ले कब सकता है ? और छोड़ कब सकता है ? आहाहा! समझ में आया ? यह तो आनन्द, ज्ञानस्वरूप प्रभु, वह तो न आनेवाले हों, उसे जाने और आनेवाले हों, उसे जाने; वह लावे और करे, यह कुछ उसमें है नहीं। त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति, भगवान आत्मा में रजकणमात्र का त्याग और रजकण का ग्रहण, उससे उसका शून्य स्वभाव है। चन्दुभाई! आहाहा! यह वर्षीतपवाले, वे तो सब कुछ यह तो सब मिथ्यात्व के पोषक हैं सब।

मुमुक्षु : खड़े-खड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : खड़े-खड़े। .... यह तो ऐसा कि लाखोंपति की बहू ऐसे अपवास करे, उसे यह कहते हैं कि लंघण है। ९० के वर्ष में कहा था! राजकोट।

यहाँ तो परद्रव्य इच्छानिरोध लक्षण। परद्रव्य का त्याग, ऐसा नहीं। परद्रव्य के प्रति जो वृत्ति का झुकाव था, उसे उत्पन्न न होने दे, क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के प्रेम में यह इच्छा उत्पन्न नहीं होती, उसे उपवास कहा जाता है। आहाहा! जेठाभाई! क्या यह बराबर ? अभी तक किया था न सब ?

मुमुक्षु : यह तो अनादि से चलता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दृष्टान्त सामने बैठे। गर्म पानी पीते थे। आहाहा!

यहाँ तो '**इच्छा निरोध लक्षणतपश्चरणरुपा या तु निश्चय चतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं**' यह आत्मा को आदरणीय है। आहाहा! '**नच कालस्तेन कारणेन स हे**' काल निमित्त है परन्तु हेय है। उसमें निकला इस पाठ में। संस्कृत पाठ है। कहते हैं, धर्मी जीव को तपस्या कैसी होती है उसे ? कि अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में उग्ररूप से आया, इसलिए उसे इच्छा उत्पन्न नहीं होती और अतीन्द्रिय आनन्द की तपस्या अन्दर हुई। तपन्ते। जैसे सोना गेरु से ओपता और तपता है, उसी प्रकार आनन्द का स्वभाव अन्दर सुन्दररूप से शोभता है, इसका नाम उपवास है।

यहाँ कहते हैं अज्ञानी... मोक्षमार्ग(प्रकाशक) में भी ऐसा आता है। जहाँ आत्मा का भान, स्वरूप का जहाँ भान नहीं, उसे इस द्वेष से सब त्याग है, यह कहते हैं। **द्वेष**

के आधीन होकर, उपवासादि... विनय करे बहुत ऐसी। आहाहा! एक बार वह बौद्ध-बौद्ध का क्या कहलाता है वह? 'गया' गये न? 'गया' में गये थे? 'गया' नहीं? वहाँ गये थे। बौधगया। वहाँ गये थे। उसे देखने गये थे, नहीं? एक बौद्ध था, वह ऐसे और ऐसे पैर छूता था। ऐसे बिना अक्ल के। ऐसी की ऐसी मजदूरी करते। बौद्ध की मूर्ति थी उसके सामने। और वहाँ वह गोरा खड़ा था। यहाँ नहीं आया था?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह। वह गोरा वहाँ खड़ा था। यहाँ कहे कि मैं जैन हूँ। वहाँ गया तो बौद्ध की मूर्ति के सामने। 'गया' में।

यहाँ कहते हैं कि निग्रहबुद्धि करने का भाव शरीर को वश करना, कृश करना, इसके लिये उपवास, वह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! द्वेषभाव है। तब उसमें तो ऐसा कहा है मोक्षमार्गप्रकाशक में। तू अपवास आदि को... आता है न?

मुमुक्षु : उपवास करके शुभभाव करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, तो तुझे द्वेष है। तप के ऊपर द्वेष है, वहाँ ऐसा कहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। वह दूसरी बात है। उसे तो राग का त्याग होना, उसका प्रेम नहीं, इसलिए उसे द्वेष है कि यह अपवास आदि करता है। यह द्वेष है, वह तो शरीर की बुद्धि में अपनेरूप से माना है और उसे निग्रह करूँ, वश करूँ तो मुझे लाभ होगा, तो यह तो द्वेष है। द्वेष से काम लिया है। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। नाम धराते हैं और तप का तुझे प्रेम नहीं। इच्छा निरोध से द्वेष है तुझे तप पर।

यहाँ कहते हैं कि शरीर को कृश करने, पतला करने से लाभ होगा, इन्द्रिय निग्रह होगा, इन्द्रियों के वश होगा, वश-आधीन होगा। उसे आधीन नहीं होना इन्द्रियवश। ऐसी बुद्धि से... आहाहा! **उपवासादि द्वारा शरीर को कृश करने का अभिप्राय, वह निग्रहबुद्धि...** है। आहाहा! भारी कठिन काम। **और राग के आधीन होकर, कंकण, कटिसूत्रादि द्वारा...** कन्दोरा और कंकण, **(शरीरादि को) भूषित करने का (शृंगारित करने का)...** अच्छे कपड़े, लटकते कुण्डल, मोती हार, हीरा का हार, मोती का हार आते हैं सब। वह नीलम का हार नहीं था भाई को-सेठिया को। सर हुकमीचन्द।

१७ हजार का था। १७ लाख का न? १७ लाख का था? ओहोहो! यह ... वह तो कहे ७० लाख का बाद में हुआ था। यह तो देखा था। लाये थे यहाँ गले में। ७० लाख का। मिला तब १७ लाख का। फिर भाई को पूछा था नानालालभाई को। कहा, यह अभी कितना मिलेगा? कहे, अभी ७० लाख का हार। पत्थर थे नीले। आहाहा! जरी के वस्त्र, जरी की छतरी, जरी के जूते, जरी के कपड़े।

शरीर के राग के कारण... आहाहा! **कंकण, कटिसूत्रादि द्वारा...** यह कमर में कन्दोरा। अभी कितनी ही महिलायें यों ही कन्दोरा डालती हैं। ऐसे लटकता हुआ अच्छा लगे ऐसे। चाँदी का हो, सोने का हो।

मुमुक्षु : सोने का कंदौरा।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोने का पहनते हैं।

मुमुक्षु : वैभव बढ़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख बढ़ा है। आहाहा!

(शरीरादि को) भूषित करने का (शृंगारित करने का) अभिप्राय, वह अनुग्रहबुद्धि करते हैं। ठीक! वह निग्रह करता है, यह अनुग्रह करता है। शरीरादि को कृश करने का अपवास आदि से निग्रह करता है और यह अनुग्रह करता है। आहाहा! प्रीति से ऐसा शरीर को शोभित करूँ। सवेरे स्नान करने के देखो न, यह साबुन की बड़ी बट्टी। ऐसा करता हो तब भूल जाता है परन्तु क्या है? किसे करता हूँ यह? वापस दर्पण में देखे तब ऐसे। बन्दर देखो वह तो तुम्हारे। यह उसे बराबर देखकर फिर यहाँ तिलक करना हो और दर्पण में देखे यहाँ। यहाँ आडा-टेढ़ा हो जाये। दर्पण में देखे तो ऐसे बीच में हो।

यहाँ पानी गिरता है न, देखो न अभी पानी नहीं उसमें? सवेरे बहुत चोपड़ने आते हैं। पानी हो न भगवान का। ... आँख में लगावे। क्या होता होगा उसमें? यह वह है न, वहाँ वह स्तम्भ है न? स्तम्भ नहीं? वहाँ पानी रखते हैं।

मुमुक्षु : गन्धोदक।

पूज्य गुरुदेवश्री : गन्धोदक। उससे शरीर अच्छा रहे, ठीक रहे। आहाहा! सब भ्रमणाबुद्धि है। फिर ऐसे पेट में लगावे कपड़ा रखकर। आज सवेरे देखा था सबको। क्या कहा?

मुमुक्षु : हमारा भी नम्बर है....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह तो व्यक्ति की बात नहीं, यह तो तत्त्व की बात है। ऐसी जिसे खबर नहीं कि क्या करता हूँ और किसका यह फल है? आहाहा!

मुमुक्षु : दृष्टि....

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि की बात है। उसको कहा न उस महिला का नहीं? क्या कहलाता है? मैनासुन्दरी। वह तो कोई पुण्य के उदय के कारण होता है। इससे यह होता है (यह) मान्यता भ्रम है। आहाहा! कठिन काम, बापू! आहाहा!

पोपटभाई कहते न, पोपटभाई? वढवाणवाले नहीं? 'दूर कां प्रभु दोड़ तूं, मारे रमत रमवी नथी।' यह राग की क्रीड़ा अब मुझे नहीं करना। 'हूं सुधानो स्वादियो चाल्यो सुधाने शोधवा।' यह क्या है बीच में? आहाहा! राग और द्वेष के विकल्पों के जहर के प्याले, यह क्या है यह? आहाहा! ऐसे ज्ञानी को विकल्प उठे, वह जहर का प्याला लगता है। समझ में आया? गिरधरभाई! पोपटभाई। क्या कहलाते वे? सन्त। सन्त। हाँ वे। आहाहा! **अभिप्राय, वह अनुग्रहबुद्धि करते हैं।**

भावार्थ - शरीर, अचेतन-जड़ हैं; न तो उनमें सुख-दुख है... उसे क्या सुख? वह तो जड़-मिट्टी है। दशवैकालिक के आठवें अध्ययन में यह गाथा रखी, कहो। देह दुःखं महाफलं। इसका क्या अर्थ? वह तो ऐसा कि अपवास आदि करे तो जीव को दुःख हो, इसलिए ऐसी प्रतिकूलता हो तो उसे दुलार करे। सहन करने की। सहन करे। ऐसे सब लेख। देहे दुःखं महाफलं। कहो अब। देह को दुःख होता होगा? इस जड़-मिट्टी को? आहाहा! अन्दर में द्वेष करता है, उसे दुःख है। द्वेष का दुःख है। ऐसी बहुत सूक्ष्म बातें भाई!

न तो उनमें सुख-दुख है... जड़ को। **और न ज्ञान है...** शरीर में कहाँ यह ज्ञान है कि यह कृश हुआ है और यह पतला पड़ा है। **तथापि बुद्धिरहित बहिरात्मा, द्वेषवश**

उपवासादि द्वारा उनको (शरीरों को) निग्रह करने की अर्थात् कृश करने की बुद्धि करते हैं... है ? पाठ में है न यह ? **'निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते।'** शरीर में निग्रह करूँ, ऐसा करूँ। अब उसका शरीर जड़ है। उसका एक रजकण आवे, न जाये, वह कहीं तेरे अधिकार की बात है ? आहाहा! समझ में आया ? **(शरीरों को) निग्रह करने की अर्थात् कृश करने की बुद्धि करते हैं...** द्वेषवश। इस शरीर में मेद बढ़ती है, लो। मेद बढ़ने के लिये ऐसी चीज़ न खाये तो मेद घटे।

मुमुक्षु : मौसम्बी का रस पीवे....

पूज्य गुरुदेवश्री : मौसम्बी का रस ले तो भी मेदरूप परिणमे। वहाँ कहाँ? आहाहा! मैसूर खाये तो ही उसे मेद हो, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! मौसम्बी के पानी भी पड़े और सीधे निकले लो। हमारे राजपालजी को हुआ था। राजपालजी यहाँ गुजर गये न ? जीवराजजी के छोटे। अन्त में। अन्त में मौसम्बी दी तो पीछे से (गुदा द्वार से) पानी निकल गया। यहाँ से डाला, वह निकल गया। मौसम्बी का पानी जठर ने संग्रह नहीं किया। उसकी पर्याय का धर्म है, उसे कौन संग्रह करे ? आहाहा! और यहाँ पचे माँस के टुकड़े पचे सीधे सियालिया, खरगोश के या ऐसे। आहाहा! वह तो जड़ की अवस्था उसे आत्मा कैसे रोके ?

रागवश उनको कंकण, कटिसूत्र (करधनी) आदि द्वारा विभूषित कर अनुग्रह (कृपा) करने की बुद्धि करते हैं। इसे अच्छा रखूँ, अच्छा रखूँ। इस दिखाव को रखूँ। साफ-सुथरा। आहाहा! 'बहिरात्मा को देहाध्यास है...' देह का ही अभ्यास है। उसके ऊपर ही उसकी बुद्धि है, इसलिए घट-बढ़ पर ही उसका सब आधार है। **अर्थात् उसको देह में आत्मबुद्धि है; इसलिए उसको शरीरादि के विषय में निग्रह-अनुग्रहबुद्धि रहती है...** परपदार्थ पर निग्रह अर्थात् द्वेष करना और अनुग्रह अर्थात् राग करके शोभित करना, ऐसी बुद्धि रहती है। आहाहा!

परन्तु अन्तरात्मा को भेदज्ञान वर्तता है। देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति... आहाहा! वह तो चैतन्यस्वरूपी वस्तु है। **वह आत्मा को शरीरादि से अत्यन्त भिन्न मानता है।** शरीर, वाणी, मन से तो भगवान भिन्न है। उसकी सत्ता का अस्तित्व तो उनसे भिन्न है। पर की

सत्ता से अपनी सत्ता है, ऐसा नहीं है। **शरीरादि के प्रति श्रद्धा में अनुग्रह-निग्रहबुद्धि का अभाव होता है।** शरीरादि में राग-द्वेष या अनुग्रह-निग्रहबुद्धि का श्रद्धा में अभाव होता है।

अस्थिरता के कारण... अस्थिरता का राग आवे, **शरीरादि के शृंगार का भाव आवे,...** समकिती, चक्रवर्ती, चौंसठ सिंरो का हार पहने बड़ा, लो। पूरा शरीर ढँक जाये, ऐसा हार हो चौंसठ सिंरो का। हीरा का हार। परन्तु वह तो अस्थिरता में राग का विकल्प है। इसलिए इसे पहनूँ तो ठीक है, ऐसा नहीं है। अभिप्राय में ऐसा नहीं है। आहाहा! उसमें आया है बनारसी विलास में कि समकिती को कोई गाली दे तो उसकी शोभा है। ऐसा आया था। क्योंकि बापू! मार्ग ऐसा ही है। तू कहता है और इसलिए उसे ऐसा होता है। आहाहा!

आनन्द का नाथ सहजानन्द प्रभु, जिसमें राग का करना और पर का छेदना, यह वस्तु में कहाँ है? आहाहा! राग का भोगना, वह भी जहाँ मुख्य में नहीं, मुख्यरूप से। मुख्यरूप से तो शान्ति और आनन्द का भोगना है। राग का भोगना है, परन्तु दृष्टि और स्वभाव की अपेक्षा से गौणपने है। ज्ञान की अपेक्षा से उस काल में दुःख और सुख दोनों हैं, ऐसा जानता है। आहाहा! आता है न अन्त में, नहीं? 'क्वचित कषाय मेचकं।' पीछे। आहाहा! ऐसे देखे तो राग की परिणति दिखती है, ऐसे देखे तो शुद्धता चैतन्यमूर्ति मुक्त दिखता है। आहाहा! ऐसे देखे तो भव का अपहृय राग है, परिभ्रमण का कारण है, वह दिखता है। ऐसे देखे तो मुक्तस्वरूप भगवान है, ऐसा दिखता है। आहाहा!

ज्ञान ऐसी विविधता को जानने पर भी उलझन में नहीं आता कि यह क्या? होता है। कमजोरी के कारण राग होता है और वह मेरा अपना वेदन है। समझ में आया? आहाहा! परन्तु वह वेदन दुःखरूप है। और आत्मा स्वभाव का जो जागृति होकर उस आनन्द का वेदन सुखरूप है। एक समय में दोनों होने पर भी ज्ञानी को उलझन नहीं होती। आहाहा! ऐसा आता है न पीछे ... बहुत आता है। क्वचित् और कषाय ऐकम्, कषाय मुक्ति... आहाहा! आचार्य ने कितना स्पष्ट कर दिया है! उसके बदले ऐसा माने कि दुःख, वह ज्ञानी को होता नहीं। ज्ञान की अपेक्षा से दुःख नहीं, दृष्टि की अपेक्षा से दुःख नहीं, स्वभाव अपेक्षा से दुःख नहीं, ऐसा नहीं। निर्बलता के कारण... है?

अस्थिरता के कारण... (उग्र) चारित्र प्रगट नहीं। वीतरागता प्रगट चाहिए, वह नहीं। वीतरागस्वभाव की दृष्टि है, इतनी तो वीतरागता दृष्टि की अपेक्षा से है, अस्थिरता की अपेक्षा से ज्ञानी को राग आता है। आहाहा! **शरीरादि के शृंगार का भाव आवे,...** नहाये, शृंगार करे। निहालभाई में तो ऐसा आता है। अन्त में नहाये थे। निहालभाई में आता है। पुस्तक में आया था। मरने की तैयारी थी न, अन्त में स्नान किया। होता है ऐसा। विकल्प आया, इसलिए कहीं... आता है?

मुमुक्षु : प्रस्तावना में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, प्रस्तावना में। है न? ऐसा विकल्प होता है। आहाहा! परन्तु उसे वह दोष जानता है। लाभ के लिये ऐसा करता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! करता हूँ तो नहीं परन्तु होता है, वह लाभ के लिये नहीं। आहाहा!

अस्थिरता के कारण... शरीर, वाणी, आहार और पानी को अनुकूल करने का **भाव आवे, परन्तु अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है।** आहाहा! आज मैसूर बनाओ। लो, भजिया बनाओ। ऐसा विकल्प आवे। बना सकता है, ऐसा नहीं मानता और विकल्प का कर्तृत्व भी वह स्वीकार नहीं करता। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ जहाँ अनन्त गुण का समाज प्रभु आत्मा दृष्टि में आया, उसे इस विकल्प की एक गुण की या अमुक पर्याय की क्या कीमत? उसे कीमत बिना का करके निकाल देता है।

वह उस भाव को दोष मानता है;... है? रागादिभाव आवे। देवता मकान बनावे, चक्रवर्ती को, लो न। और ऐसा कहे, ठीक हुआ है। यह समवसरण बनाते हैं, लो न! इन्द्र भगवान का समवसरण बनाते हैं। परन्तु यह मैंने बनाया है, ऐसा वहाँ नहीं है। क्योंकि मैंने जो बनाया, उसके प्रमाण में यह तो इसकी-समवसरण की विशेषता परिणमी है। यह क्या? यह तो उस काल में भगवान के पुण्य के कारण बना है। आता है न? समवसरण में आता है। (स्तुति में) ऐसा आता है। इन्द्र बनावे और विस्मय प्राप्त करते हैं कि यह क्या बन गया यह? क्योंकि उस काल में वही रजकण उसी प्रकार से बनने के थे। उसमें उसे कौन बनावे? आहाहा! यह समवसरण की रचना का राग और रचना का स्वामी समकिती नहीं है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

शरीरादि परपदार्थों के प्रति उदासीन होता है। उसमें एकत्वबुद्धि नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहते हैं न। परन्तु वापस वह बड़ी गड़बड़ है न? निहालभाई को निश्चयाभास कहो। वह तो बाहर की अब उसमें बन गया है, कौन करे? यों ही किसी ने विचारा था? रामजीभाई ने विचारा था दस लाख का होगा पहले? तीन लाख और पाँच लाख और दस लाख का। वह कहता था, हों! तुम्हारा रमणीकभाई और वह चन्द्रकीर्ति। चन्द्रानन्द। क्या कहा? चन्द्रकान्त। वे आये थे मेरे पास। यह अभी शुरु होता था। २५ लाख का करना है, कहे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अन्दर बोला हुआ। बोलना नहीं कहा आप। दोनों बोले थे, हों! रमणीक और वह। दोनों मित्र थे न! मुझे पच्चीस लाख का बनाना है। खर्च होंगे। पैसा हो जायेगा। बोलना नहीं अभी। दस लाख का रखो। बाहर प्रसिद्ध नहीं करो इतना सब। उसके बदले २६ लाख का हो गया। होने के काल में हुआ हो उसे कौन करे और कौन छोड़े? आहाहा! २६ हजार लोग और २६ लाख का खर्च। कौन करे, बापू? आहाहा! उसके परावर्तन के परमाणु शरीर के और इसके होने के उस काल में वे होते हैं, यह आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह बनाने का विचार तो किसी को आया होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प आवे तो क्या? कहा था वहाँ। मुम्बईवाले को आया था पहले कि अपने कुछ करना है। ऐसा सुना था कुछ नहीं? ऐसा था? कि भाई यह कुछ नया करना। तब पाँच लाख का, तीन लाख का करो। ऐसा कुछ सुना था। उसमें तीन लाख को कोई पाँच लाख उपज गये। पाँच लाख के करोड़ों हो गये। ऐसा सुना है। अपने को बहुत खबर नहीं। ऐसा कोई कहता था। तब तो पाँच लाख का करो, फिर कहे दस लाख का करो, फिर तो हो गया है। ऐसा करने का नहीं। उसके काल में उसकी पर्याय... आहाहा!

वे-वे परमाणु उस-उस क्षेत्र में, उस-उस काल की पर्याय उसका जन्मक्षण है, इसलिए उत्पन्न होती है, भाई! वस्तु तो ऐसी है। आहाहा! धर्मी को विकल्प आवे, परन्तु उस विकल्प से यह बना है, ऐसा नहीं मानता। विकल्प को अस्थिरता का दोष मानता है। आहाहा! भारी सूक्ष्म बात, भाई!

विशेष - अज्ञानी मानते हैं कि शरीराश्रित उपवास, व्रत, नियमादि से शरीर को कृश करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है,... शरीराश्रित उपवास आदि के लिये, है न मोक्षमार्गप्रकाशक? गुजराती आवृत्ति पृष्ठ-२२९ और ३४४। **जो देहाश्रित व्रत-संयम को भी अपना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।** आता है। चिट्ठी में नहीं? चिट्ठी में आता है। देहाश्रित... आहाहा! **उपवास, व्रत, नियमादि से शरीर को कृश करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है, उनकी विषयों में प्रवृत्ति रुक जाती है और इस कारण राग-द्वेषादि नहीं होते हैं...** ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! **परन्तु यह मान्यता भूलयुक्त है क्योंकि शरीराश्रित...** ऐकड़ा है, देखो!

उपवास करना, पंचाग्नि तप करना, मौन रखना,... आहाहा! यह तो भाषा की पर्याय नहीं थी, वह मौन है। उसमें इसने क्या मौन रहा? आहाहा! मैं मौन हूँ। बोलूँ नहीं, ऐसा। वाणी का काल नहीं था, वह होने का, इसलिए मौन है। आहाहा! **त्राटक करना...** ऐसी कोई भी चीज़ पर लक्ष्य करना। भगवान की मूर्ति पर लक्ष्य। वह भाई थे न झवेरी? मूलशंकर झवेरी थे। मोरबी। उनके पुत्र का पुत्र है और अपने इसमें है। इसमें-बोर्डिंग में। तब तो बहुत... लड़के... तो उसका पिता था। उसका पिता उसका बाप मूलशंकर। वह ऐसे माला सामने रखता। भगत कहलाता था भगत। माला के एक-एक मणके पर त्राटक रखे ऐसे। हाथ में नहीं। सामने रखे। णमो अरिहंताणं... णमो सिद्धाणं... णमो आईरियाणं... दूसरे पर, तीसरे पर... १०८। ये... वढवाण-वढवाण।

अरे... इस चीज़ की खबर नहीं। यह चीज़ थी नहीं इसलिए। उसमें से ऐसा कि ध्यान त्राटक ऐसे रखे न ऐसे। बराबर एकाग्र हो। माला के एक-एक मणके के ऊपर ध्यान रखकर णमो अरिहंताणं बोले, णमो अरिहंताणं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके साथ क्या सम्बन्ध?

क्योंकि शरीराश्रित उपवास करना, पंचाग्नि तप करना, मौन रखना, अनेक योग आसन करना... आसन लगाना ऊँचा बैठकर। **इत्यादि पौद्गलिक जड़क्रियाएँ हैं;...** आहाहा! **उनका सम्बन्ध शरीर के साथ है;...** शरीर को ऐसे पालथी लगाना, अमुक करना, अमुक करना, वह तो सब जड़ की क्रिया है। 'ताव कायं ठाणेणं माणेणं जाणेणं' आता है या नहीं? शरीर को ऐसा रखना। ताव कायं। वहाँ तक काया को... 'ठाणेणं माणेणं जाणेणं...' देह को स्थिर रखना, मौन रखना, मन को ध्यान में रखना। 'अप्पाणं वोसरे' फिर कहे। कुछ खबर नहीं होती, बापू! आहाहा!

तस्सउत्तरी किया था या नहीं? तुमने किया था या नहीं? यह वे भाई नहीं नटुभाई? वकील-वकील। वे उसमें आये न फिर बड़ी उम्र होकर। छोटी उम्र से इसमें आये हुए इसलिए। वकील नहीं आये थे परसों? पालीताणा नटुभाई। वे कहे, नहीं किया... पहले से आवे। यहाँ तो दस वर्ष की उम्र से कुछ। इच्छामी पडिक्कमियु तस्सउत्तरी। पाठशाला में, जैनशाला में। सोमचन्द भगत पढ़ाते थे।

शरीर के साथ है; आत्मा के साथ नहीं। आहाहा! यह सम्बन्ध शरीर के साथ है; आत्मा के साथ नहीं। किसका? यह उपवास करना, पंचाग्नि तप करना, मौन रखना, त्राटक करना, अरे! शरीर के आसन लगाना, यह सब पुद्गल के साथ सम्बन्ध है। आत्मा के साथ नहीं। **शरीर, जड़ है; उसको सुख-दुःख नहीं होता।** उसे सुख-दुःख होता है? दुःख तो आनन्दस्वरूप से विपरीत पर्याय में जीव को होता है। आहाहा! देह को बहुत कष्ट दें न तो अपने को निर्जरा होगी। आहाहा!

एक अठ्ठम किया हो, उसमें एक पोरसी चढ़ावे पच्चीस अपवास का पुण्य। है तो पाप। ऐई! आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान है, उसमें, उसे यह और यह और यह ऐसा विकल्प भी जिसमें नहीं। उसका नहीं, उसमें नहीं। उसे इस शरीर का यह करूँ और इससे यह करूँ। अभिप्राय, अभिप्राय मिथ्या है। आहाहा!

उसको सुख-दुःख नहीं होता। अज्ञानी को शरीर के साथ एकताबुद्धि है; इसलिए वह शरीर की जो अवस्था होती है, उसे अपनी (आत्मा) की हुई मानता है।

आहाहा! निरोग हुआ, रोग हुआ। यह डॉक्टर और वैद्य शरीर में निरोगता कर देते होंगे या नहीं? दवा-बवा न करे? ऐसे खाय तो ऐसा होता है और ऐसा कुछ... नहीं आया था एक व्यक्ति? नहीं आया था भावनगर से एक? शरीर को ऐसा करे तो ऐसा होता है। आया था एक। भावनगर में एक। वह यहाँ आया था। अमुक पैर का दबाये यहाँ तो अमुक यहाँ ठीक रजकण ऐसे। यहाँ से अटक जाये पैर खींचे वहाँ। ऐसा आया था। आया था, खबर है न! नस ऐसा करके दबावे...

मुमुक्षु : .... मिटावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी मिटावे नहीं। आहाहा! जड़ की पर्याय का सम्बन्ध तो जड़ के साथ है। वह आत्मा मिटा दे उसे?

मुमुक्षु : दवा से रोग नहीं मिटता?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी मिटता नहीं रोग। वह तो उसकी पर्याय में उस प्रकार का हो, तब दवा को निमित्त कहा जाता है। निमित्त यहाँ स्पर्श कहाँ करता है? गजब मार्ग, भाई! आहाहा! यह तो दुनिया से निराला मार्ग है।

शरीर की जो अवस्था होती है, उसे अपनी (आत्मा) की हुई मानता है। यह उसका भ्रम है। आहाहा! शरीर पतला पड़े तो ऐसा माने कि मैंने पतला किया और पतला हुआ। कृश हुआ कृश। कौन करे? भाई! अज्ञानी का भ्रम है। **अज्ञानी, मोहवशात् वस्त्र-आभूषणादि द्वारा शरीर पर अनुग्रह (उपकार) करने की बुद्धि करता है...** शरीर अच्छा रहे। तेल चोपड़ते हैं या नहीं यह सब? क्या कहलाता है? मालिश कराते हैं। मगदलिया उठावे ऐसा। यहाँ नहीं आया? मुश्किल-मुश्किल से ऐसा करे। ... रखे। तब खून घूमता हो। यह दौड़ते हैं सवेरे, नहीं? तो शरीर अच्छा रहे। यह सब भ्रमणा है। दामोदरभाई! बहुत कठिन काम। सवेरे सर्दी हो न, बहुत काम नहीं होता इतना। दौड़े और फिर सर्दी कम हो। रक्त घूमता हो जाये।

मुमुक्षु : दौड़े तब रक्त घूमता तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : घूमे तो उसके कारण से घूमता है। मर जाता है वहाँ। एक

व्यक्ति मर गया, ऐसे करता था जामनगर। उठाकर ऐसे-ऐसे करता था तो एकदम श्वास ऐसा बढ़ गया तो मर गया। कसरत करते हुए मर गया। जामनगर में था।

मुमुक्षु : घूमने गया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : घूमने गया, बगीचे में मर गया, नहीं?

मुमुक्षु : ठाकरसीभाई का पुत्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। ठाकुर का पुत्र। घूमने गया था, जहाँ बैठा था वहाँ मर गया, नहीं? देह की स्थिति पूरी होने का उसका काल हो, उसमें करे क्या? आहाहा! उसे खबर नहीं पड़ती कि यह शरीर से अभी छूटेगा। वहाँ तो देह छूट जाती है। आहाहा! क्या हुआ जरा (ऐसा) उपयोग उसका काल भी न रहे उसे। आहाहा! रजकण को छूटने का एक समय जो है, कौन रखे? यह श्वास मैं लूँ और दूँ, वह क्रिया जड़ की है, यह शरीर के साथ सम्बन्ध है।

मुमुक्षु : धीरे-धीरे चले तो लम्बा जीवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, एक व्यक्ति कहता था। ७१ में देखा था। लाठी में थे एक। त्रिभुवन वृद्ध थे। त्रिभुवन विठ्ठल। विठ्ठल सेठ थे लाठी में। उनका लड़का यहाँ गुजर गया न टीबी में। बहुत वर्ष पहले की बात है। वे बहुत धीरे-धीरे चलते थे तो मैंने पूछा। शरीर निरोगी, अच्छा शरीर। परन्तु धीरे चले। मैंने किसी को पूछा, ऐसे क्यों चलते हैं वृद्ध? लाठी के हैं ऐई... कानजीभाई! वह वृद्ध नहीं विठ्ठल सेठ। त्रिभुवन विठ्ठल न?

मुमुक्षु : त्रिभुवनभाई के पिता।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। त्रिभुवनभाई के पिता लम्बे थे। मैंने कहा, ऐसे क्यों चलते हैं ये? कहें, यह श्वास बहुत न चले और शरीर में ऐसी घिसावट न हो तो आयुष्य अधिक लम्बाये। धीरे-धीरे चलने से आयुष्य बढ़े। परन्तु धूल भी बढ़ता नहीं। आहाहा! शरीर के रागी-प्रेमी ऐसे फँस गये हैं। आहाहा!

वस्त्र-आभूषणादि द्वारा शरीर पर अनुग्रह (उपकार) करने की बुद्धि करता है क्योंकि उसको देहाध्यास है अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि है; इसलिए उसके प्रति के

राग के कारण वैसा अनुग्रह करना चाहता है परन्तु यह भी उसका भ्रम है। आहाहा! **इसलिए शरीर में निग्रह-अनुग्रहबुद्धि करना अज्ञानता है।** आहाहा! अभी भी आया नहीं कोई वह? दान की पुस्तक नहीं? देह को मैंने ऐसा किया। तुझे बहुत सम्हाला, ध्यान रखा। समाचार-पत्र में आया था पुस्तक प्रकाशित कर दी। अपने इसमें आत्मधर्म में आया था और फिर पुस्तक प्रकाशित नहीं की छोटी?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह संवाद। चेतन और काया का संवाद। वह कहता था आत्मधर्म में आया था। अपने को कुछ खबर नहीं। उसमें से यह पुस्तक प्रकाशित की नहीं है बाहर? है न यहाँ पुस्तक बहुत है। चेतन कहे, मैंने तेरी बहुत सम्हाल रखी। तेल चोपड़ा, यह दिया, यह दिया अब तू साथ में चल... चल...। (देह कहती है) हमारी जो अनादि की स्थिति, उसे छोड़ूँगी नहीं। हम तो हमारे में रहेंगे। तू ही चला जा न यहाँ से! आहाहा! बहुत सम्हाल रखी। रात्रि में इतनी नींद लेना, ऐसे पैर मोड़ना, ऐसा बहुत करना, ऐसी कसरत करना। आहाहा! अरे... तेरे लिये इतनी मेहनत की, वह सब मेहनत मेरी मुफ्त में जाती है। यह पक्षघात का असर हो, तब बहुत मेहनत करते हैं शरीर को ऐसा रखने की। चन्दुभाई! आहाहा!

श्लोक - ६२

यावच्च शरीरादावात्मबुद्धया प्रवृत्तिस्तावत्संसारः तदभावान्मुक्तिरितिदर्शयन्नाह -

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसार तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥ ६२॥

स्वबुद्धया आत्मबुद्धया यावद् गृण्हीयात्। किं? त्रयम्। केषाम्? काय-वाक्चेतसां सम्बन्धमिति पाठः। तत्र कायवाक्चेतसां त्रयं कर्तृ। आत्मनि यावत्सम्बन्धं गृण्हीयात्स्वीकुर्यादित्यर्थः। तावत्संसारः। एतेषां कायवाक्चेतसां भेदाभ्यासे तु आत्मनः सकाशात् कायवाक्चेतांसि भिन्नानीति भेदाभ्यासे भेदभावनायां तु पुनर्निर्वृत्तिः मुक्तिः॥६२॥

जब तक शरीरादि में आत्मबुद्धि से प्रवृत्ति है, तब तक संसार है; उसके अभाव से मुक्ति है — यह दर्शाते हुए कहते हैं —

'हैं मेरे मन-वचन-तन' - यही बुद्धि संसार।
इनके भेद-अभ्यास से, होते भविजन पार॥ ६२॥

अन्वयार्थ - (यावत्) जब तक (कायवाक्चेतसां त्रयम्) शरीर, वचन और मन — इन तीनों को (स्वबुद्धया) आत्मबुद्धि से (गृह्णीयात्) ग्रहण किया जाता है, (तावत्) तब तक (संसारः) संसार है (तु) और जब (एतेषां) इन मन, वचन, काय का (भेदाभ्यासे) आत्मा से भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है, तब (निवृत्तिः) मुक्ति की प्राप्ति होती है।

टीका - स्वबुद्धि से अर्थात् आत्मबुद्धि से जहाँ तक ग्रहण करता है। क्या ग्रहण करता है? त्रय को (तीन को); किसके (त्रय को)? काय, वाणी और मन के त्रय को अर्थात् जहाँ तक आत्मा में काय-वाणी-मन का सम्बन्ध ग्रहण करता है-स्वीकार करता है, ऐसा अर्थ है। वहाँ तक संसार है परन्तु इन काया-वाणी-मन के भेद का अभ्यास होने पर अर्थात् आत्मा से काय-वाणी-मन भिन्न है — ऐसे भेद का अभ्यास होने पर-भेदभावना होने पर, निवृत्ति अर्थात् मुक्ति होती है।

भावार्थ - जब तक जीव को मन-वचन-काय में आत्मबुद्धि रहती है, उसको आत्मा के अङ्ग समझता है अर्थात् उनके साथ अभेदबुद्धि-एकताबुद्धि करता है, वहाँ तक वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है परन्तु जब उसको मन-वचन-काय में आत्मबुद्धि का भ्रम मिट जाता है अर्थात् तीनों 'आत्मा से भिन्न हैं' — ऐसे निश्चयपूर्वक अनुभव का अभ्यास होता है, तब वह संसार-बन्धन से मुक्ति पाता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जहाँ शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि है, वहाँ एकताबुद्धि है। जहाँ एकताबुद्धि होती है, वहाँ कर्ता-भोक्ताबुद्धि अवश्य होती है और जहाँ कर्ताबुद्धि है, वहाँ संसार के कारणभूत रागादि भाव अनिवार्यरूप से होते हैं। इस प्रकार शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि ही संसार का कारण है और आत्मा तथा शरीरादि का भेदविज्ञानपूर्वक दृढ़ अभ्यास ही, मुक्ति का कारण है।

मन-वचन-काय की प्रवृत्ति, संसार का कारण नहीं है क्योंकि वह जड़ की क्रिया है परन्तु उसमें आत्मबुद्धि-एकताबुद्धि करना, वह संसार का कारण है। प्रस्तुत श्लोक में 'स्वबुद्धया' शब्द से यह बात सूचित होती है।

'कर्मबन्ध करनेवाला कारण, न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है; न, चलनस्वरूप कर्म (अर्थात्, मन-वचन-काय की क्रियारूप योग) है; न, अनेक प्रकार के करण हैं और न, चेतन-अचेतन का घात है किन्तु 'उपयोग भू' अर्थात् आत्मा, रागादि के साथ जो एक्य को प्राप्त होता है, वही एकमात्र (मात्र रागादि के साथ एकत्व प्राप्त करना, वही) वास्तव में पुरुषों के बन्ध का कारण है।[१]

इसलिए शरीरादि की क्रिया में आत्मबुद्धि अर्थात् उन क्रियाओं को मैं करता हूँ —ऐसी मान्यता, संसार का कारण है और उन क्रियाओं में आत्मबुद्धि का अभाव, मोक्ष का कारण है।

---

१. श्री समयसार, कलश १६४ व गाथा २३७ से २४१

श्लोक - ६२ पर प्रवचन

जब तक शरीरादि में आत्मबुद्धि से प्रवृत्ति है, तब तक संसार है;... आहाहा! भगवान आत्मा निराली चीज़ वह परपदार्थ को अपनेपने की बुद्धि से प्रवर्तता है, वहाँ संसार है, भटकने का है। **उसके अभाव से मुक्ति है—यह दर्शाते हुए कहते हैं—** लो! ६२।

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसार तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥ ६२॥

आहाहा! **टीका - स्वबुद्धि से अर्थात् आत्मबुद्धि से...** नीचे लेख आ गया है। 'शरीराश्रित उपवासादि के लिये मोक्षमार्गप्रकाशक (गुजराती आवृत्ति) पृष्ठ २२९ और ३४४।' **जो देहाश्रित व्रत-संयम को भी अपना माने (अर्थात् अपने को उसका कर्ता माने) तो वह मिथ्यादृष्टि है।** है नीचे? नीचे है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी है। देहाश्रित की क्रिया को अपनी माने। यह क्रिया की बात है, हों! अशुद्ध परिणाम हो, वह स्वयं जानता है। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। देहादि की क्रिया जड़ की, उसे अपनी माने वापस। आहार छूटा, अपवास नहीं किया, पानी नहीं पीया और यह किया। उसमें शुभभाव हो, वह अपना है, उसे जानता है। श्रद्धा में मानता है कि यह हेय है। आहाहा!

स्वबुद्धि से अर्थात् आत्मबुद्धि से जहाँ तक ग्रहण करता है। क्या ग्रहण करता है? त्रय को (तीन को); किसके (त्रय को)? काय, वाणी और मन के त्रय को... लो! देह को, वाणी को और मन को... आहाहा! मन के परमाणु अन्दर भिन्न हैं, वाणी भिन्न चीज़ है, काया भिन्न चीज़ है। **अर्थात् जहाँ तक आत्मा में काय-वाणी-मन का सम्बन्ध ग्रहण करता है...** स्वबुद्धि से, आत्मबुद्धि से उसे ग्रहण करे, किसे? काय, वाणी, मन को। और **आत्मा में काय-वाणी-मन का सम्बन्ध ग्रहण करता है...** उसके साथ ऐसे सम्बन्ध करे और मेरे विषय में ऐसा सम्बन्ध है। मुझमें है। **स्वीकार करता है, ऐसा अर्थ है। वहाँ तक संसार है...** आहाहा!

आत्मबुद्धि से काया, वाणी और मन को ग्रहण करे (कि) मेरे हैं, ऐसा। वहाँ

तक संसार है। यहाँ तो मुनि को छठवें गुणस्थान में व्रत का जो शुभराग आवे, वह संसार है। आहाहा! क्योंकि वह उदयभाव है, वह संसार है। स्वभाव में वह संसार नहीं; इसलिए उस उदयभाव को अपना माने, वह संसार है, मिथ्यात्व है। आहाहा!

स्वबुद्धि से अर्थात् आत्मबुद्धि से जहाँ तक ग्रहण करता है। क्या? कि मन, वचन और काया को। **जहाँ तक आत्मा में काय-वाणी-मन का सम्बन्ध ग्रहण करता है-स्वीकार करता है, ऐसा अर्थ है। वहाँ तक संसार है परन्तु इन काया-वाणी-मन के भेद का अभ्यास होने पर...** आहाहा! राग से भिन्न चैतन्य का अभ्यास। काया, वाणी और मन का तो भिन्नपना, परन्तु अन्दर में यह राग और यह स्वभाव चैतन्य की सत्ता शुद्ध और राग अशुद्ध, दो का भेदज्ञान का अभ्यास होने से, भेदज्ञान से। आहाहा!

आत्मा से काय-वाणी-मन भिन्न है—ऐसे भेद का अभ्यास होने पर (अर्थात्) भेदभावना होने पर, निवृत्ति अर्थात् मुक्ति होती है। वाणी, मन एक ... एकताबुद्धि संसार है। निवृत्तबुद्धि मोक्ष है। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ८, मंगलवार, दिनांक ०१-०७-१९७५, श्लोक-६२-६३, प्रवचन-७७

६२ गाथा। समाधितन्त्र। भावार्थ।

जब तक जीव को... बहुत नजदीक में अपना माने, वहाँ ले गये हैं। बाहर की चीज़ें तो कहीं भिन्न रह गयी, परन्तु नजदीक में यहाँ मन, वचन और काया, वह परचीज़ है। उसमें '**स्वबुद्धया**' ऐसा है न पाठ में? आत्मबुद्धि। जो नजदीक के मानो अवयव और मैं एक अंगी, उसके यह अंग हों, ऐसा अज्ञानी अनादि से मानता है। **उसको आत्मा के अङ्ग समझता है...** है न? अपना अस्तित्व जो होनापना है, वह तो ज्ञान और आनन्द के अति अनन्त गम्भीर शक्तियों का स्वभाव वह आत्मा है।

जिसकी शक्तियाँ संख्या से अनन्त, उनका अन्त नहीं-संख्या का अन्त नहीं। आहाहा! ऐसी जिसकी शक्ति की अस्ति है और जिसका एक-एक शक्ति का अस्तित्व, अमाप, अपरिमित है, उसे दृष्टि का, स्व का अवलम्बन छोड़कर मन-वचन-काया के साथ परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमन है, उसे वह अपना मानता है। यह संसार है। यह मिथ्यात्व है, वह संसार है। आहाहा! मन, वचन और काया '**चेतसौं**' शब्द पड़ा है। वहाँ अर्थ किया है न उन्होंने? '**चेतसौं**' अर्थात् मन, ऐसा अर्थ किया है। चित्त... चित्त। चेतन, ऐसा नहीं। यहाँ चित्त अर्थात् मन।

साथ में, चैतन्य के स्वभाव के क्षेत्र में साथ में रहे हुए मन, वाणी और देह, वे सभी चेष्टायें और उसका जो वाणी का अस्तित्व है, वह मेरा है—ऐसी जो बुद्धि। आहाहा! स्वबुद्धि। और जिसे स्वबुद्धि होती है, उसका वह कर्ता और भोक्ता हुए बिना रहता नहीं। इससे संसार है, कहते हैं। आहाहा! यह तो सूक्ष्म धीरज की बातें हैं। आहाहा! चैतन्य का अस्तित्व जो मौजूदगी, वह तो अनन्त गुण गंभीर, स्वभाव से भरपूर तत्त्व है, उसमें स्वबुद्धि न करके, उसमें नहीं और साथ में रहे हुए अवयव—जड़ के अवयव। अवयवी भगवान आत्मा, उसका अवयव उसकी पर्याय और गुण उसके अवयव कहलाते हैं। राग भी नहीं। उसके बदले शरीर और मन, वाणी को अपना अंग गिने, अपने अवयव गिने। क्योंकि जानने में इन्द्रिय से ज्ञात होता है, कान से सुनायी देता है, इसलिए मानो कि मेरे अंग और अवयव हो, ऐसा वह मानता है। आहाहा!

उसको आत्मा के अङ्ग समझता है अर्थात् उनके साथ अभेदबुद्धि-एकताबुद्धि करता है,... कहो, **वहाँ तक वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है...** इसलिए वहाँ तक संसार चाहे, भटकता, परिभ्रमण में। आहाहा! यहाँ तो नजदीक की बात ली है। बाहर की चीज़ स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, धन्धा, व्यापार, वह तो कहीं बाहर रह गये। परन्तु इसके एक क्षेत्र में परचीज़ का जो सम्बन्ध, पर्याय को वस्तु का स्वभाव है, उसके साथ सम्बन्ध चाहिए। क्योंकि वह पर्याय जो है निर्मल, उसका सम्बन्ध आत्मा के साथ है। द्रव्य के साथ भी है। उस सम्बन्ध को न मानकर, उसे राग और मन, वाणी और देह से ही मुझे सम्बन्ध है, (ऐसा मानना)। वह मिथ्याबुद्धि है। आहाहा!

पर्याय मन, वाणी, देह की क्रिया को या उसके अस्तित्व को अपनी बुद्धि से यह मैं हूँ, ऐसा वह अस्तित्व जो ज्ञायक चैतन्य अस्तित्व, जिसकी मौजूदगी-अस्ति अनन्त गुण गम्भीर, ऐसा तत्त्व प्रतीति में, ज्ञान में, ज्ञेयरूप से आया नहीं, इसलिए उसे शरीर, मन, वाणी, देह, नजदीक के अंग, वह मानो मैं एक अंगी अर्थात् पूरा अवयवी और वे मेरे अंग हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पूरी दुनिया....

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया तो संसारी है। जेठाभाई! यह ऐसी बात है।

बहुत नजदीक की बात लेते हैं। मन, वचन और काया तीनों चीज़ पर है। परन्तु उसके सम्बन्ध में इसे ऐसा लगता है कि इस सम्बन्ध से मुझे ज्ञान होता है। मन है तो ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ हैं तो ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ न हो तो ज्ञान कहाँ से हो? आहाहा! इसलिए नजदीक के तीन लिये। दूर के स्त्री, पुत्र, परिवार, राजपाट, वह तो कहीं रह गये। अपना अस्तित्व मन, वचन और काया की बुद्धि से ग्रहण करके 'यह मैं हूँ'—ऐसा मानता है, वही संसार है और उस संसार के परिभ्रमण के चौरासी के अवतार का यह कारण है।

परन्तु जब उसको मन-वचन-काय में आत्मबुद्धि का भ्रम मिट जाता है... भेद अभ्यास कहा है न? मैं तो एक जाननेवाला ज्ञायक चैतन्य की अस्तिवाला महातत्त्व, जिसके स्वभाव की अचिन्त्यता, गम्भीरता अनहद ऐसा वह तत्त्व मैं, ऐसे राग से भिन्न

पड़कर अभ्यास करने से मन, वचन और काया वह मेरे, यह बुद्धि छूट जाती है। आहाहा! और दूसरे यह सब स्त्री, पुत्र, व्यापार, धन्धा इसका नहीं? यह कारखाना करता है। यह बैठा हो तो कारखाना चले, नहीं तो नहीं चले।

इसका कारखाना वहाँ विनोद मिल में गये थे, नहीं विनोद मिल? उज्जैन-उज्जैन। तो एक-दो लोग खड़े हों बस। यहाँ से यहाँ डाले सूत, कपड़ा होकर निकल जाये। बस कहीं कोई काम नहीं। कभी डोरा टूटे तो उसे खड़ा रहकर साँधना पड़े इतना। इतना ... वह कोई व्यक्ति बिना होगा? आहाहा! यहाँ डाले कपास, कपड़ा होकर निकले बाहर, ऐसी सब शैली है। बड़ा था न इन भाई को। लालचन्दभाई को? कैसे वे? लालचन्द सेठ। एक बार ले गये थे देखने। पाँच सौ रुपये दिये थे ज्ञानखाते में।

अरे रे! मशीन। इसी प्रकार यह मन, वचन और काया तीन की मशीन इसके (स्वयं के) कारण से चलती है। आत्मा का निमित्त है, इसलिए चलती हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! जिसे ऐसी आत्मबुद्धि मन, वचन, काया में से हट जाती है, बस उसे संसार नहीं है। क्योंकि आत्मा में वह है नहीं, आत्मा तो संसार और संसार के फल चार गति, इस भाव बिना की चीज़ है। आहाहा! उस चिदानन्दस्वभाव का अनुभव होने से पर की बुद्धि छूट जाती है। अपना अस्तित्व मन, वचन और काया से भिन्न है, यह वस्तु की स्थिति ऐसी है।

इस प्रकार भिन्न का अनुभव होने पर **निश्चयपूर्वक अनुभव का अभ्यास होता है,...** निश्चयपूर्वक अनुभव का, ऐसा। धारणा में आ जाये, ऐसा भी नहीं। अनुभव। यह ज्ञायकस्वरूप चैतन्य ध्रुव, मन, वचन और काया के संयोगीभाव, अरे... विकारभाव, वह पुण्य और पाप, वह संयोगीभाव है। संयोग लक्षणं। उससे मैं भिन्न हूँ, ऐसा भान होने पर उसे संसार नहीं रहता। कहो, जेठाभाई! यह मुक्ति है। यह तो क्रिया मैं यह करता हूँ, मैंने अपवास किया, मैंने शरीर जीर्ण किया, मैंने अमुक किया। पर का ग्रहण-त्याग, ऐसा माने, (वह) मिथ्यात्व है। पर का ग्रहण-त्याग इसके स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! बुद्धि से ऐसा माने कि मैं यह छोड़ता हूँ परचीज़ और इतनी ग्रहण करता हूँ। लो! सातवें व्रत में नहीं आता? अमुक पदार्थ को पृथक् करके दूसरे को छोड़े, नहीं

आता ? आता है न ? वह तो विकल्प की बात है। यह छोड़ूँ-ग्रहण करूँ, ऐसा स्वरूप में है नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू!

कहते हैं, यह **निश्चयपूर्वक अनुभव का अभ्यास होता है,...** शरीर, वाणी, मन से मेरी अस्ति भिन्न है। ऐसे अन्तर के स्वसन्मुख के अभ्यास से पर से भिन्न पड़कर अनुभव हो, तब उस संसार के बन्धन से मुक्ति पाता है, अर्थात् फिर उसे बन्धन है नहीं। अबन्धस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा दृष्टि में, ज्ञान में, परिणाम से परिणामी का स्वीकार किया। समझ में आया ? वर्तमान परिणाम ने जो परिणामी त्रिकाल ध्रुवस्वरूप है, उसका स्वीकार अर्थात् सन्मुख हुआ, स्वीकार किया, उसे मुक्ति है। आहाहा! उसे मुक्ति का मार्ग है। ऐसी बात है।

यहाँ तो पर से (भिन्न का) भान नहीं होता और फिर यह कुछ छोड़ा, रखा, यह लिया, यह इसका त्याग किया। आहाहा! वह तो जिसे अपना माना था तो वह त्याग किया। किया था, ऐसा माना था। बुद्धि झूठी है। उसकी मान्यता में इतना अन्तर था। यह वस्तु मेरी है और यह मैं नहीं, इतना अन्तर बुद्धि में था। उस बुद्धि को बदलकर अन्दर... मैं हूँ, वह चैतन्य ज्ञायकस्वभाववाला तत्त्व, वह मैं हूँ, ऐसा अनुभव होने पर उसे संसार नहीं रहता। अर्थात् कि उसे संसार का बन्धन नहीं होता, इसलिए संसार नहीं रहता।

विशेष। टीका, भावार्थ और विशेष। तीन-तीन अर्थ दिये हैं। **जहाँ शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि है, वहाँ एकताबुद्धि है।** क्योंकि यह मैं हूँ, इसका अर्थ एकताबुद्धि है। आहाहा! **जहाँ एकताबुद्धि होती है, वहाँ कर्ता-भोक्ताबुद्धि अवश्य होती है...** जहाँ पर को अपना माना, ऐसी एकताबुद्धि है तो उसका कर्ता मैं हूँ। क्योंकि जो मेरी चीज़ है, उस मेरी चीज़ का कर्ता मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी ने माना है। आहाहा! सवेरे भावना में बहुत आया था। बहुत द्रव्यलिंग धारण किये परन्तु भाव—जिनभावना प्रगट नहीं की। जिनभावना अर्थात् सम्यग्दर्शन। आहाहा! क्योंकि आत्मा (में) अनन्त गुण वीतरागस्वभाव से भरपूर गुण हैं। उसकी श्रद्धा, उसका अनुभव हुए बिना बाहर के त्याग में रुक जाता है, वह संसार है। समझ में आया ?

वहाँ कर्ता-भोक्ताबुद्धि... क्योंकि जिसे अपना माने, उसका कर्ता होता है।

शरीर, वाणी, मन। ज्ञान में ऐसा आता है कि यह अँगुली इस पुस्तक के पृष्ठ ऐसे फिराती है। देखो, ऐसा काम चलता है या नहीं काम? ज्ञान में ऐसा आवे कि यह पृष्ठ ऐसे होना चाहिए, वैसे सीधे ऐसा होता है। जेठाभाई! किससे हुआ? वह तो उससे हुआ है। एक जगह लिखा है। एक जगह आता है। यदि इच्छानुसार काम इन्द्रियाँ उस प्रमाण वहाँ जाती है, इसलिए इतना तो सचेतपना आत्मा को सम्बन्ध है या नहीं शरीर को इसे? ऐसा है, एक जगह कहीं लेख। बिल्कुल नहीं। इसकी इच्छा और ज्ञान में आया कि यह पृष्ठ बदले या रोटी का टुकड़ा हो, वह क्रिया मेरी है, मेरे ध्यान में आया; इसलिए क्रिया ऐसी हुई। (ऐसी) बुद्धि अज्ञान है। आहाहा! ऐसा कठिन, भाई!

मुमुक्षु : इसका निर्णय किये बिना भेदज्ञान नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए कहते हैं निर्णय करना चाहिए, तब भेदज्ञान होगा। यह पर की क्रिया तो मेरी है ही नहीं। मैं उसका कर्ता-भोक्ता नहीं। एकता माने तो कर्ता-भोक्ता होता है। एकता न माने तो कर्ता-भोक्ता नहीं होता। आहाहा!

७५ में यह कहा था। यह कुछ कहना था दूसरा हों! रात्रि में, परन्तु फिर बात चली गयी। ७५वीं गाथा। कुछ कहना था दूसरा कुछ। आया था वापस चला गया। परन्तु वहाँ इतना तो एक आया है न? कि राग का ज्ञान, वह मेरा कर्म है। ज्ञानी का कर्म अर्थात् कर्तव्य शरीर, वाणी, मन और राग जिस प्रकार में जितने प्रकार के जैसे वर्तते हैं, उसका उसके कारण से नहीं, परन्तु मुझमें हुआ ज्ञान उस सम्बन्धी का मेरा ज्ञान जो हुआ, वह मेरा कार्य है। चन्दुभाई! आहाहा! भाषा तो ऐसी आती है कि राग का ज्ञान वह ज्ञानी का कर्म है। वह राग का ज्ञान नहीं। राग का, जैसा राग था, वैसा ही ज्ञान स्व-परप्रकाशकपने की शक्ति के कारण से अपने सामर्थ्य से वह जानने का हुआ। परन्तु लोगों को समझाया जगत को। तो वह राग, उसका ज्ञान, शरीर ऐसे चलता है, ऐसा ही यहाँ ज्ञान। वह ज्ञान जो है, वह आत्मा का कर्म है, कार्य है, यह नहीं। समझ में आया?

जहाँ आत्मबुद्धि है अर्थात् अपनेपने की मान्यता है, वहाँ एकताबुद्धि है। **एकताबुद्धि होती है, वहाँ कर्ता-भोक्ताबुद्धि अवश्य होती है...** आहाहा! **और जहाँ कर्ताबुद्धि है, वहाँ संसार के कारणभूत रागादि भाव अनिवार्यरूप से होते हैं।** विकारभाव हुए बिना

रहता ही नहीं वहाँ। मिथ्यात्व का विकार हों! आहाहा! अर्थात् भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... व्यवहार तो कर सकता है न? ऐसा कितने ही कहते हैं। निश्चय से नहीं। ऐसा कि निर्धार है।

मुमुक्षु : नहीं, परन्तु कहने में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है। यह तो बोलने में आता है। हमारा राजकोट। राजकोट (तेरा) हो गया? वह तो आया है न वहाँ? सर्वविशुद्ध में आया है न? व्यवहार से हो गयी भाषा? व्यवहार से बोले, ऐसा मान ले, (वह) मूढ़ है। हमारा राजकोट। राजकोट में इसका मकान भी न हो।

मुमुक्षु : होवे तो इसका....

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे तो इसका कहाँ है वह? आहाहा! पत्थर का और ईंटों का है। जादवजीभाई! मकान-मकान ईंटों का, किसका है? पत्थर का है। कम सुनते हैं।

मुमुक्षु : सेठिया का नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल। सेठिया किसका? धूल के सेठिया? आहाहा!

आत्मा आनन्द का नाथ अनन्त स्वभाव से भरपूर जिसकी शक्ति की अचिन्त्यता। ओहोहो! जिसके काल की अस्ति जो तत्त्व भगवान, कब का... आहाहा! जिसके काल की अचिन्त्यता। उसका ऐसा है अनादि-अनादि है। आहाहा! क्या वस्तु है! और जिसके भाव की अचिन्त्यता कि जिसे क्षेत्र की (आकाश के प्रदेश की) अनन्तता से अनन्तगुणे भाव, उसकी संख्या का अन्त नहीं। क्षेत्र में इतने में आ गया ऐसा। साड़े तीन हाथ में कि यह। वह तो क्षेत्र अर्थात् ऐसी चौड़ाई में आया। परन्तु उसकी संख्या की हद न हो वहाँ। आहाहा!

एक प्याज का टुकड़ा लो तो इतना हाथ में आ जाये। इतने अनन्त जीव। परन्तु वह तो क्षेत्र की अपेक्षा की बात है। उसके भाव जो हैं... आहाहा! अनन्त-अनन्त अँगुल के असंख्य भाग में भी अनन्त निगोद के जीव, उस जीव की शक्तियों की संख्या की हद नहीं। ओहोहो! ऐसी जहाँ अन्तर विचारधारा चले, वह विचार वहाँ रुक जाये अन्दर।

समझ में आया? जिसमें गुण की संख्या का अन्त नहीं। यह क्या? और जिसकी एक-एक शक्ति की सामर्थ्यता की हद नहीं, माप नहीं। उसका माप जो ज्ञानपर्याय करे... आहाहा! समझ में आया? आहाहा! शशीभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

ऐसा जहाँ राग से और पर से भिन्न पड़कर अपने अस्तित्व का स्वीकार अन्तर अनुभव में हुआ... आहाहा! अर्थात्? कि वस्तु जो ध्रुव है, ध्रुव में अनन्त गुण सब ध्रुव हैं, उनका एकरूप, वह द्रव्य है। ऐसे द्रव्य पर दृष्टि पड़ने से, ऐसे द्रव्य पर ज्ञान की पर्याय झुकने से, उसमें एकाग्र होती है। उसे मन, वचन, काया की भिन्नता अन्दर से हो गयी। आहाहा! समझ में आया?

अन्दर में मुख करके देख। बाहर को देखने के लिये अन्धा हो जा, ऐसा कहा। आहाहा! क्योंकि बाहर को देखने में तो बाहर दिखता है, वह चीज़ तो तेरी नहीं। अन्तर चीज़ जो भगवान पूर्ण महागम्भीर। ओहोहो! क्षेत्र भले शरीर के कद प्रमाण हो। कहा न, प्याज इतने में हाथ में आ जाये, तो क्या कहे? इसमें आ जाये, इसलिए ज्ञान में, उसकी शक्तियाँ और उसके शक्ति का स्वभाव अचिन्त्य है। क्षेत्र बड़ा हो तो अचिन्त्य, ऐसा कुछ नहीं है। उसके कारण से। आहाहा!

एक परमाणु लो न, एक परमाणु। आहाहा! जो अनन्त परमाणु एक आकाश के प्रदेश में रहे, ऐसे एक परमाणु में भी जीव की संख्या जितने गुण की, उतने गुण की उसमें है। ओहो! ऐसे अनन्त गुण रंग, गन्ध, रस, स्पर्श से भरपूर। आहाहा! एक रंगगुण में ऐसे अनन्त गुण की जहाँ संख्या का माप नहीं। परमाणु में, हों! वह वस्तु ऐसा न देख कि इतने में है और रूपी है। एक स्वाभाविक तत्त्व मूर्ततत्त्व स्वभाव से भरपूर, ऐसे तत्त्व की भी जहाँ अचिन्त्यता और गम्भीरता, परन्तु उसे जाननेवाला कौन? यह तो वह... उसे-परमाणु को खबर नहीं। परमाणु में अनन्त गुण हैं, उसकी अनन्त गुण की पर्याय होती है। आहाहा! उसका अस्तित्व है, परन्तु उसके अस्तित्व की उसे खबर नहीं है। वह सब अस्तित्व की खबर तो भगवान आत्मा को है। आहाहा! कहेंगे प्रवचनसार में। यह ज्ञेय अधिकार है, परन्तु आत्मा स्वयं ज्ञेय भी है और आत्मा ज्ञान है। फिर आयेगा न? ४४ विशेष समाप्त होता है। ४५ में प्राण का लेते हैं। जीव के प्राण, वहाँ ऐसा लेते

हैं। ज्ञेय, आत्मा ज्ञेय भी है, अनन्त गुण और अनन्त की पर्याय, उसका वह ज्ञेय है और वह स्वयं ज्ञान है।

लो, यह तो आया था न? समयसार का। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय स्वयं ही है। छह द्रव्य ज्ञेय और आत्मा ज्ञान, ऐसा न करो, भ्रम न करो। आहाहा! जिसका एक समय में अचिन्त्य अनन्त गुण गम्भीर तत्त्व, वह अपने ज्ञान की अपनी पर्याय का स्वयं ज्ञेय। द्रव्य ज्ञेय, गुण ज्ञेय, पर्याय ज्ञेय और ज्ञान की पर्याय वह उसकी, उसका वह ज्ञेय और उसका ज्ञाता। उसमें ऐसा लिया। ज्ञेय की एक शक्ति, ज्ञान की एक शक्ति, ज्ञाता की अनन्त। कलशटीका में (लिया है)। यह कलश में लिया है। ज्ञेय की एक प्रमेय शक्ति, ज्ञान एक जानने की शक्ति और ज्ञाता की अनन्त शक्ति। परन्तु ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान यह वचनभेद से उसमें... आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो भगवान आत्मा... आहाहा! अनन्त गुण गम्भीर। सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा और कहा, ऐसी जिसकी अन्तर्दृष्टि हो, उसे संसार नहीं होता। आहाहा! उसका परिभ्रमण रह नहीं सकता।

कहते हैं, **शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि...** वहाँ कर्ताबुद्धि होती है। **वहाँ संसार के कारणभूत रागादि भाव अनिवार्यरूप से होते हैं। इस प्रकार शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि ही संसार का कारण है...** आहाहा! स्वयं भगवान अनन्त आनन्द का नाथ प्रभु, उसका अस्तित्व अपने को भूलकर, पर की सामग्री में मेरापन... मन, वचन और काया। आहाहा! **वही संसार का कारण है...** आहाहा! वह भटकने का कारण है।

आत्मा तथा शरीरादि का भेदविज्ञानपूर्वक दृढ़ अभ्यास ही... परन्तु भगवान आत्मा और राग तथा शरीर, मन, वाणी से भिन्न ऐसा जो भेद का अभ्यास होने पर भेद पड़े, वह मुक्ति का कारण है। समझ में आया? आहाहा! एकताबुद्धि से संसार है और भेदबुद्धि से मोक्ष है। संक्षिप्त में ऐसा कहा। शरीर, वाणी, मन, वह तो जड़-पर। वे मेरे अंग हैं और उनसे मैं काम लूँ, यह बुद्धि मिथ्यात्व और संसार है। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक कहा था न कि मैं किसे समझाऊँ? क्योंकि विकल्प उठता है, वह मैं नहीं; वाणी होती है, वह मैं नहीं। आहाहा! समझानेवाला ज्ञान है, वह बाहर-राग में आता नहीं, वाणी में आता होगा या नहीं? वाणी तो जड़ है। उसमें ज्ञानस्वरूप

भगवान चिदानन्दस्वरूप वाणी में कहाँ से आवे? तब सुननेवाले को ज्ञान होता है न वाणी से? भ्रम है। उसकी ज्ञान की पर्याय उसमें (आत्मा) से आती है, उसमें से होती है। आहाहा! वह वाणी से होती है, यह भी पर के साथ एकताबुद्धि है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! अनन्त काल से परिभ्रमण करता है। जगत को उसकी एकताबुद्धि का कितना संसार का दुःख है और भेदबुद्धि में कितना आनन्द का सुख है, इसकी खबर नहीं। वह संयोग के कारण दुःख नहीं। संयोगी चीज़ मेरी है, ऐसी मान्यता दुःख है। आहाहा!

भेदविज्ञानपूर्वक दृढ़ अभ्यास ही, मुक्ति का कारण है। आहाहा!

मन-वचन-काय की प्रवृत्ति, संसार का कारण नहीं है... जड़ की प्रवृत्ति है। यह वाणी, देह वह तो जड़ की प्रवृत्ति है। वह कहीं संसार का कारण नहीं है। **क्योंकि वह जड़ की क्रिया है...** आहाहा! **परन्तु उसमें आत्मबुद्धि...** वाणी, मन और जड़ शरीर में अपनी स्वबुद्धि, वह संसार का कारण है। **प्रस्तुत श्लोक में 'स्वबुद्धया' शब्द से यह बात सूचित होती है।** पाठ है न वहाँ? **'स्वबुद्धया'** पहला ही। पहला ही बोल है। स्वबुद्धि अर्थात् पर में अपनी मान्यता, यह संसार है। पर की क्रिया, वह संसार नहीं, वह दुःख नहीं। आहाहा!

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर ने जो आत्मा देखा, वह तो ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा है। उसमें जिसे स्वबुद्धि में स्वयं यह है, ऐसा न मानकर राग, शरीर और मन, वाणी, देह यह **'स्वबुद्धया'** अपनी बुद्धि से यह मेरे मानना, सब यह संसार। यह परिभ्रमण का मूल। ओहोहो!

मुमुक्षु : यह तो छोटी भूल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : छोटी भूल है? बड़ी भूल है। आहाहा!

कहा नहीं था दृष्टान्त एक बार? भावनगर दरबार थे तख्तसिंहजी। तख्तसिंहजी थे। वे तो अभी गुजर गये। कृष्णकुमार के पिता भावसिंहजी उनके पिता तख्तसिंहजी थे। हमारी छोटी उम्र थे। भावनगर दरबार थे। तख्तसिंहजी। वह उन्होंने एक स्त्री रखी हुई थी। मुसलमान या ऐसी थी। उसमें एक बनिया अन्दर आया सोने की घड़ी लेने।

सामने आरब बैठे हुए और वह पीवे क्या कहलाता है ? काढा। बूँद-बूँद। बूँद (काफी का दाना) का दाना पीवे तो नींद न आवे, ऐसा। उस दरबार को ऐसा था।

अब वह भले वहाँ दरवाजे पर बैठा। परन्तु वह बनिया ऐसा होशियार कि गढ़ जैसी एक बड़ी निसरणी लाया, निसरणी से गढ़ में चढ़ा और वह निसरणी वापस अन्दर उतारी, उसमें से उतरा। उतरकर उसके दरबार जहाँ सो रहे होंगे, वहाँ सोने की घड़ी को ले गया। और वापस फिर आया। वहाँ तो वे दरबार सो रहे थे इसलिए खबर न रही। वापस आया लेने। उसमें दरबार जाग गये। नग्न तलवार पड़ी थी। वह तो दरबार न ? वह उघाड़ी रखे, कोई आवे तो जोखिम बहुत उसे। उठाई। वह स्त्री कहती है, हाँ...हाँ। अरे... कि हम जहाँ सो रहे हैं, वहाँ चोर ? हम राजा के घर में... वह महागुनहगार है। परन्तु फिर स्त्री ने छोड़ दिया। इसी प्रकार यह घर की दुकान अन्दर माल, उसमें चोर यह, कहे।

चिदानन्द अनन्त आनन्द का नाथ ऐसे स्वभाव का घर, उसे भूलकर मन, वाणी, देह को मानना बड़ा चोर है। बड़ा गुनहगार है। आहाहा! समझ में आया ? अनादि काल से ऐसा का ऐसा कर आया है। साधु नाम धराया, साधु हुआ, तो भी बुद्धि में यह रहा कि यह मैं करता हूँ, इन्द्रियों से दया पालता हूँ, इन्द्रियों से यह काम करता हूँ। सब काम अच्छे किये। यह सब मिथ्याबुद्धि, अज्ञानबुद्धि संसार है। आहाहा!

कर्मबन्ध करनेवाला कारण,... अब बन्ध का दिया। बन्ध में आती हैं न वे गाथायें ? **कर्मबन्ध करनेवाला कारण, न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है;...** बन्ध अधिकार की गाथायें हैं न ? **बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है;...** बन्ध का कारण नहीं। **न, चलनस्वरूप कर्म (अर्थात्, मन-वचन-काय की क्रियारूप योग) है;...** यह बन्ध का कारण नहीं। आहाहा! यह बन्ध अधिकार की है। कलश १६४। गाथा २३७ से २४१।

जगत में कर्म से भरपूर कर्म होने के योग्य ऐसे पुद्गल भरे हैं। वे कहीं बन्ध का कारण नहीं है। यह काया, मन, वचन क्रिया हो, वह कोई बन्ध का कारण नहीं है। वह तो जड़ की अवस्था है।

अनेक प्रकार के करण हैं... इन्द्रियाँ भी बन्ध का कारण नहीं हैं। **चेतन-अचेतन का घात है...** आहाहा! यह भी बन्ध का कारण नहीं है। **उपयोगभू...** उपयोगभू। उपयोग की भूमिका, ऐसा जो भगवान आत्मा... आहाहा! उसके साथ **रागदि के साथ जो एक्य को प्राप्त होता है, वही एकमात्र...** बन्ध का कारण है। उपयोग ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे पुण्य और पाप के विकल्प से एकतापना माने, उपयोगभू, उपयोग आनन्द का उपयोगरूप भूमिका ऐसा आत्मा। उसमें राग और शरीर, वाणी, मन को अपना माने, यह मान्यता दु:खरूप है। वह बन्ध का कारण है। आहाहा! दरकार नहीं की, ऐसे अवतार अनन्त बार हुए। चले गये।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बुद्धि सरीखी चलती नहीं, ऐसा?

मुमुक्षु : अभी बुद्धि नहीं चलती। ज्ञान की बुद्धि अभी नहीं चलती। ...लग गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चलती नहीं, ऐसा निर्णय करनेवाला (कौन)? यह उसकी अस्ति में यह निर्णय करता है। जागता। आहाहा! यह निर्णय अपने स्वभाव सन्मुख होकर करे, भेदज्ञान है। उसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म है, इसका नाम मुक्ति का कारण है; बाकी सब व्यर्थ है। आहाहा! समझ में आया?

एकमात्र। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का विकल्प उठता है राग, उस राग के साथ आत्मा को जो उपयोग का घारक भूमि आत्मा आनन्द, उसे इस राग के साथ एकताबुद्धि, वह वह संसार, वह मिथ्यात्व और वह पाखण्ड, पाप है। आहाहा! भान बिना के भव ऐसे अनन्त किये। बाहर की त्याग की क्रियायें भी अनन्त बार कीं। उसके साथ क्या सम्बन्ध है? स्त्री, पुत्र छोड़े, दुकान छोड़ी, धन्धा छोड़ा, परन्तु वह मिथ्यात्व छोड़ा नहीं। राग के विकल्प के साथ एकताबुद्धि छोड़े बिना इसका संसार नहीं छूटता। आहाहा! अज्ञानी ऐसा कहे, इसने दीक्षा ली, संसार छोड़ा, परन्तु संसार कहना किसे, इसकी खबर नहीं। संसार कहाँ रहता होगा? आहाहा!

मैल यहाँ हो तल और काँच में दिखाई दे, वहाँ घिसे तो मैल जायेगा? इसी प्रकार यह चीज़ बाहर है, उसे छोड़े, वह तो छूटी हुई पड़ी ही है। उसे एकतारूप से जो

राग के साथ बुद्धि थी, उसे उसको छोड़ना चाहिए, वह छोड़ी नहीं। संसार—चार गति ऐसा का ऐसा खड़ा रहा। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

वास्तव में पुरुषों को बन्ध का कारण (यह एक ही) है। आहाहा! जो अपनी चीज़ नहीं, रागादि हों। विकल्प उठे दया, दान का, वह आत्मा की चीज़ नहीं। उसके साथ एकताबुद्धि, बस यह संसार है। यह नरक और निगोद का कारण है। परिभ्रमण का उपाय एक ही है। आहाहा! इसने दरकार कहाँ की है? मेरा क्या होगा? कहाँ जाऊँगा? यहाँ से देह छूटी तो जायेगा। कहीं जायेगा तो सही या नहीं? कहाँ जायेगा? जिसकी दृष्टि में राग की एकता, तो वहाँ जाकर वहाँ रहेगा। राग की एकताबुद्धि लेकर गया तो वहाँ राग में रहेगा। आहाहा! और राग की एकता तोड़कर यहाँ से गया तो ज्ञान में रहेगा। आहाहा! है तो अनादि का अनन्त (काल से) है। अनन्त काल रहेगा। किस प्रकार रहेगा? जैसी दृष्टि है, उस प्रकार से रहेगा। पर से एकताबुद्धि होगी तो मिथ्यात्व में रहेगा, पर से भिन्नता बुद्धि, तो आत्मा में रहेगा। चन्दुभाई! आहाहा!

इसलिए शरीरादि की क्रिया में आत्मबुद्धि अर्थात् वे क्रियाएँ मैं करता हूँ, ऐसी मान्यता, वह संसार का कारण है। आहाहा! शरीर से ऐसे दया पले और शरीर से ऐसे पूजा, भक्ति हो, स्वाहा। वे सब क्रियायें हैं। वाणी की क्रिया, भगवान को मैं पूजूँ। वह तो जड़ की क्रिया है। वह क्रिया मेरी है, मैं करता हूँ, यह मान्यता संसार है। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान की पूजा नहीं हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व की पूजा हुई। आहाहा!

इसलिए शरीरादि की क्रिया में आत्मबुद्धि अर्थात् उन क्रियाओं को मैं करता हूँ—ऐसी मान्यता, संसार का कारण है... मैं तो इस क्रिया का जाननेवाला, यह भी व्यवहार। कर्ता तो नहीं, परन्तु उसका जाननेवाला भी व्यवहार है। मैं तो मेरे ज्ञान की पर्याय को जाननेवाला हूँ। वह मेरे अस्तित्व में है, उसे मैं जाननेवाला। मेरे अस्तित्व में वह क्रिया नहीं, उसे जाननेवाला कहना, वह तो असद्भूत व्यवहार से कथन है। आहाहा! वीतरागमार्ग, इसका (-आत्मा का) मार्ग अलौकिक है। लो, ६२ हुई।

श्लोक - ६३

शरीरादावात्मनो भेदाभ्यासे च शरीरदृढतादौनात्मनो दृढतादिकं मन्यते इति दर्शयन् घनेत्यादि श्लोकचतुष्टयमाह -

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः॥ ६३॥

घने निविडावयवे वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं घनं दृढावयवं यथा बुधो न मन्यते। तथा स्वदेहेऽपि घने दृढे आत्मानं घनं दृढं बुधो न मन्यते॥६३॥

शरीरादि में आत्मा का भेदाभ्यास होने पर, वह (अन्तरात्मा) शरीर की दृढ़तादि होने पर, आत्मा की दृढ़तादि नहीं मानता-ऐसा बतलाकर 'घने' इत्यादि चार श्लोक कहते है —

मोटा कपड़ा पहनकर, मानें नहीं तन पुष्ट।
त्यों बुध तन की पुष्टि से, गिने न आत्मा पुष्ट॥ ६३॥

अन्वयार्थ - (यथा) जिस प्रकार (वस्त्र घने) गाढ़ा वस्त्र पहन लेने पर, (बुधः) बुद्धिमान पुरुष, (आत्मानं) अपने को-अपने शरीर को (घनं) गाढ़ा अथवा पुष्ट (न मन्यते) नहीं मानता है, (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहेऽपि घने) अपने शरीर के भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होने पर (बुधः) अन्तरात्मा, (आत्मानं) आत्मा को (घनं न मन्यते) मोटा-पुष्ट नहीं मानता है।

टीका - घन अर्थात् गाढ़ा (मोटा) वस्त्र पहिनने से, जैसे बुध (चतुर पुरुष) अपने शरीर को मोटा-पुष्ट नहीं मानता; इसी प्रकार अपना शरीर, मोटा-पुष्ट होने पर भी बुध (अन्तरात्मा), आत्मा को मोटा-पुष्ट नहीं मानता।

भावार्थ - जैसे - चतुर पुरुष, मोटा वस्त्र पहिनने से अपने को मोटा हुआ नहीं मानता; इसी तरह शरीर मोटा होने पर, आत्मा मोटा हुआ — ऐसा अन्तरात्मा कभी नहीं मानता।

जैसे - शरीर और वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी, देह में आत्मबुद्धि के कारण अज्ञानी जीव, शरीर

की पुष्टि से, आत्मा की पुष्टि मानता है; इस मान्यता से वह अच्छे खान-पानादि से शरीर को पुष्ट करने की बुद्धि करता है परन्तु ज्ञानी इस विषय में उदासीन रहता है क्योंकि वह शरीर की पुष्टि से आत्मा की पुष्टि कभी नहीं मानता। उसको शरीर और आत्मा—दोनों का भेदज्ञान वर्तता है; इसलिए वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही अपने आत्मा की पुष्टि मानता है।

श्लोक - ६३ पर प्रवचन

शरीरादि में आत्मा का भेदाभ्यास होने पर,... शरीर, वाणी, मन से भिन्न पड़ने पर, सम्यक् भान होने पर **(अन्तरात्मा) शरीर की दृढ़तादि होने पर, आत्मा की दृढ़तादि नहीं मानता...** शरीर पुष्ट, इसलिए मैं पुष्ट हूँ, ऐसा नहीं मानता। शरीर जीर्ण हो तो मैं जीर्ण हुआ, ऐसा धर्मी नहीं मानता। शरीर को रोग हुआ तो मुझे रोग हुआ, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। आहाहा! ६३। चार श्लोक है। परमात्मप्रकाश में भी है।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः॥ ६३॥

मोटा कपड़ा पहनकर, मानें नहीं तन पुष्ट।
त्यों बुध तन की पुष्टि से, गिने न आत्मा पुष्ट॥ ६३॥

टीका - घन अर्थात् गाढ़ा (मोटा) वस्त्र पहिनने से,... मोटा वस्त्र पहना मखमल का, इसलिए अपने को मोटा हुआ मानता है ? वह तो मोटा वस्त्र जड़ है। उससे मैं मोटा हुआ, ऐसा मानता है ? मानता नहीं। इसी प्रकार शरीर मोटा होने पर, वह तो रजकण-मिट्टी-धूल है। निरोगी और मोटा होने पर ऐसा अन्तरात्मा कभी नहीं मानता (कि) मेरा आत्मा मोटा हुआ, मेरा बल बढ़ा, शरीर की निरोगता से मेरा बल बढ़ा, ऐसा धर्मी नहीं मानता। ऐसी बात।

क्या कहा यह ? मोटा वस्त्र पहनने से मैं मोटा हुआ शरीर में, ऐसा नहीं मानता। इसी प्रकार शरीर मोटा हुआ तो मैं-आत्मा मोटा हो गया, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। वह तो जड़ की अवस्था मोटी हुई। आहाहा! नहीं कहते ? मेरी काठी पतली है। मेरा शरीर

अदोदरूं है। मेरे शरीर में क्या कहलाता है ? मेद बहुत है। परन्तु शरीर ही कहाँ तेरा है ? मैं मेदवाला हूँ, मैं तो सदा रोगी ही रहता हूँ। कुछ न कुछ रोग रहा ही करता है। परन्तु तू या शरीर ? आहाहा! यह कितनों को अभिमान ८० वर्ष तक के। ८०-८० वर्ष हुए, सोंठ चोपड़ी नहीं कभी, सिर दुःखा नहीं। वह क्या है परन्तु अब ? वह तो जड़ की दशा है। तत्प्रमाण रहने की थी। उसमें तुझे कहाँ निरोगता आ गयी ? आहाहा!

जैसे - शरीर और वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह (शरीर) मिट्टी है, भगवान चैतन्य है। यह मिट्टी है। मिट्टी नहीं कहते ? कील-कील लगे। कि भाई! मुझे पानी (छुआना) नहीं। मेरी मिट्टी पकाऊ है। ऐसा कहते हैं न ? बोले सही मेरी मिट्टी पकाऊ। परन्तु मिट्टी अर्थात् क्या ? पागल की भाँति सन्निपातिया है। शरीर में लगे न कील या नोंक लगे। फिर पानी छुआना नहीं बहुत इसकी जगह। मेरी मिट्टी पकाऊ है। मिट्टी यह मिट्टी। और कहता है कि मेरी। आहाहा!

कहते हैं, **शरीर और वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी, देह में आत्मबुद्धि के कारण अज्ञानी जीव, शरीर की पुष्टि से, आत्मा की पुष्टि मानता है;...** अभी शरीर बहुत मैं निरोगी हूँ। मेरा शरीर अर्थात् मैं पुष्ट हूँ। आहाहा! यह देखो न, क्या कहलाता है ? कसरत न। कसरत करते हैं न ? लोग दौड़ते हैं। शरीर निरोगी रखता हूँ। मेरा....

मुमुक्षु : वह रहता है सही ?

पूज्य गुरुदेवश्री : रहे तो रहे और मर जाता है उसमें से। जामनगर में एक कसरत करते-करते मर गया। देह छूट गयी। बड़ा मगदल उठाता था ऐसे। एकदम जोर आया, वहाँ श्वास बन्द हो गयी। उठाते हैं न यह लोहे के। दो-तीन मण, चार मण ऐसे ऊँचा करने गया न! वह तो देह की स्थिति है, उसमें आत्मा को क्या ? आहाहा!

यह तो भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप से भिन्न है। उसकी पुष्टि तो अन्तर आनन्द की रमणता से उसकी पुष्टि होती है। शरीर की पुष्टि से आत्मा की पुष्टि, भ्रम है भ्रम। आहाहा! यह प्रौषध नहीं करते प्रौषध ? प्रौषध में पुष्टि है। किसकी ? अतीन्द्रिय आनन्द का खजाना भगवान है। आहाहा! जिसकी खान में प्रभु में अनन्त आनन्द पड़ा है। जिसके खजाने में न्यूनता नहीं, सम्पदा पूर्ण पड़ी है। कैसे बैठे ? रंक होकर माना, उसे यह आत्मा

राजा अनन्त गुण का स्वामी है। कहते हैं कि आनन्द का खजाना भगवान है। आहाहा!

दृष्टान्त दे तब बात करे कि मृग की नाभि में कस्तूरी है। उस कस्तूरी को न माने और वह कस्तूरी नाभि में पड़ी हुई, जरा हवा आवे तो ऐसे पसरे, इसलिए मानो गन्ध बाहर से है, ऐसे मूर्ख खोजने जाता है। इसी प्रकार आनन्द का नाथ प्रभु अपना आनन्द बाहर में खोजने जाता है, स्त्री में, पुत्र में और पैसे में। (वह) मृग जैसे हैं, कहते हैं। राजा, महाराजा सब बेचारे दुःखी के सरदार हैं।

मुमुक्षु : बड़ा राज्य है तो भी?

पूज्य गुरुदेवश्री : राज धूल भी नहीं। यहाँ अभी देखो न, बाहर में दुःख कितना है? उसे बन्द किया, यह खलबलाहट हो गयी है। गुप्त है अभी कुछ गुप्त। लोग कुछ बातें करते हैं। छह सौ, साढ़े छह सौ को बन्द किया उन बड़ो-बड़ों को? खलबलाहट... खलबलाहट... बाहर से, हों!

मुमुक्षु : सामने हो तो बन्द न कर दे? अपने लड़के घर में सामने हों तो बन्द न कर दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे वहाँ कहाँ चैन था? राज में अन्दर चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता... किस प्रकार रहना ऐसे जीवन में? बड़े-बड़े को बन्द किया। उसे माननेवाले उसके विरोधी हो गये कि ऐसा काम किया? एक जगह अपन नहीं जाते थे। मकान के ऊपर लिखा हुआ था। इन्दिरा... है एक गाँव में नहीं? व्याख्या पढ़ने जाते थे। भोपाल। बड़े अक्षर से इन्दिरा (इन्दिरा गाँधी) का विरोध लिखा हुआ। इन्दिरा ऐसी है न, इन्दिरा ऐसी है। भोपाल व्याख्यान पढ़ने जाते थे बाहर। वहाँ है। भोपाल रहे न अभी आठ दिन। उसमें बहुत लिखा था। इन्दिरा, क्या कुछ भाषा है? बड़े अक्षरों में।

मुमुक्षु : हटाओ.... हटाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हटाओ, यह नहीं परन्तु दूसरा लिखा था। भूल गये। वहाँ से निकलते थे। भोपाल। ४०-४५ हजार लोग व्याख्यान में। आठ दिन रहे न, आठ दिन। वहाँ दूर था। जाते थे रास्ते में आता था। दुःखी... दुःखी... दुःखी... बेचारे। आत्मा में आनन्द है, ऐसा भूलकर पर में कुछ है, वह भ्रमणा में दुःखी है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ९, बुधवार, दिनांक ०२-०७-१९७५, श्लोक-६३ से ६५, प्रवचन-७८

६३ गाथा। भावार्थ। इसका दूसरा पेरेग्राफ। **जैसे - शरीर और वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी एक-दूसरे से भिन्न हैं।** जैसे वस्त्र मोटा हो, इससे शरीर मोटा है, ऐसा कोई माने? जैसे मोटा शरीर हो, उससे क्या आत्मा मोटा है, ऐसा माने? आहाहा! शरीर की स्थिति चैतन्य की स्थिति से भिन्न है। शरीर की स्थिति से वस्त्र की स्थिति भिन्न है। इसी प्रकार यह भिन्न है। आहाहा!

ऐसा होने पर भी, देह में आत्मबुद्धि के कारण अज्ञानी जीव, शरीर की पुष्टि से, आत्मा की पुष्टि मानता है;... वास्तव में तो जैसे शरीर से वस्त्र भिन्न है, वैसे भगवान आत्मा से शरीर भिन्न है। अन्तर में जाने पर तो राग से भी भिन्न। अन्तर में जाने पर तो वर्तमान पर्याय से भी भिन्न। आहाहा! शुद्धपर्याय हो तो भी शुद्धपर्याय से तो भिन्न है। वस्तु कूटस्थ है, पर्याय परिणमती अवस्था है। अवस्था का परिणमन, उससे ध्रुववस्तु भिन्न है। सत्यार्थ है, उसे भूतार्थ कहा न? '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' वही सत्यार्थ वस्तु है, ऐसा वहाँ तो कहा है। शरीर तो उसका नहीं, राग तो नहीं, पर्याय भी सत्यार्थ-त्रिकाल में नहीं आती। आहाहा!

पर्याय ऐसा जानती है कि यह सत्यार्थ, वह मैं हूँ। शरीर मैं हूँ, वह तो कहीं रहा। राग है, वह विभाव है। त्रिकाल शुद्ध चैतन्य के ध्रुव स्वभाव के समक्ष राग तो कहीं भिन्न है। परन्तु वह भिन्न है, ऐसी जाननेवाली पर्याय जो है। आहाहा! वह पर्याय भी जो ध्रुव त्रिकाल सत्यार्थ है, 'वह मैं हूँ'—ऐसा वह मानती है। आहाहा! पर्याय है एक समय की अवस्था, वह मैं हूँ, ऐसी वह (मान्यता) नहीं है। वह मैं हूँ, ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है। आहाहा! पर्याय जो निर्णय करती है कि सत्यार्थ तो यह है। आहाहा! ध्रुव अनन्त गुणरूप ध्रुवस्वरूप। गुण स्वयं ध्रुव, गुण अनन्त है। वस्तु एक है। ऐसी जो एक की दृष्टि में पर्याय से भी जहाँ भिन्न है तो शरीर की बातें क्या करना? आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : शरीर तो द्रव्य और पर्याय दोनों से भिन्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कहीं रह गया भिन्न। आहाहा! उसका तो द्रव्य-क्षेत्र-

काल-भाव भिन्न है शरीर का। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भिन्न है, उसमें आत्मा की नास्ति है। आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में शरीर की नास्ति है। है ही नहीं उसमें। वहाँ भले हो। आहाहा!

अज्ञानी जीव, शरीर की पुष्टि से, आत्मा की पुष्टि मानता है;... ज्ञानी पर्याय की पुष्टि से मैं पुष्ट हूँ, ऐसा नहीं मानता। मैं तो पूर्ण ध्रुव हूँ। पर्याय में केवलज्ञान की पुष्टि आवे तो भी वह ध्रुव में पुष्ट हुआ है, ऐसा नहीं है। क्षयोपशम की दशा ज्ञान की थोड़ी हो तो भी वह पर्याय कहती है कि मैं तो पर्याय नहीं। मैं तो यह हूँ। अल्प पर्याय भी त्रिकाली द्रव्य का स्वीकार करके सन्मुख होती है। वह सन्मुख जिसे होती है, वह मैं हूँ, ऐसा मानती है। आहाहा! गम्भीर... गम्भीर... एक समय में। यह वह कोई बात है! आहाहा! यह तत्त्व है (वह), है। यह तत्त्व है, वह तो पलटता भी नहीं। पलटती है, वह पर्याय है, वह तत्त्व नहीं, वस्तु नहीं। आहाहा! ऐसी दृष्टि अन्दर ले जाना, उसने तत्त्व को वास्तविक स्वीकार किया है। यह शरीर तो कहीं रह गया।

शरीर की पुष्टि से, आत्मा की पुष्टि मानता है; इस भ्रान्ति से (मान्यता से) वह अच्छे खान-पानादि से शरीर को पुष्ट करने की बुद्धि करता है... सवेरे दूध, मक्खन, हलुवा, पूड़ी, बादाम की पूड़ी। अब तो बादाम की पूड़ी कहाँ आती है ? बहुत महँगी हो गयी। पहले तो बारह आने की पूड़ी आती थी। बहुत वर्ष की बात है। बादाम की। तब तो बारह आने की सेर बादाम मिलती थी। अभी तो सवा सौ रुपये की किलो।

मुमुक्षु : मण का वजन निकल गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : निकल गया। किलो। यह अपने को किलो की (खबर नहीं)। दो सेर और तीन, छह भार, ऐसा कुछ कहते हैं, नहीं ? दो सेर और छह भार न ? आहाहा! उससे शरीर को... ऐसा कहते थे न बादाम खाते हैं। बादाम से कण्ठ अच्छा रहे। व्याख्यान में कण्ठ (आवाज) ठीक निकले। आहाहा! भ्रमणा है। उसे नोकर्म गिनने में आया गोम्मटसार में। वह शीतलप्रसाद और गाते थे न ? मतिज्ञान को नोकर्म गिना है, गोम्मटसार में है। आहाहा! यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। इससे आत्मा को बादाम और पिस्ता खाने से दिमाग बढ़े, ज्ञान पुष्टि हो, भ्रमणा है। आहाहा!

भोजन। अच्छा भोजन, ऐसा। सवेरे बादाम की पूड़ी और केसरिया दूध। कण्ठ अच्छा रहे, पुष्टि रहे। आहाहा! भ्रमणा है, कहते हैं।

परन्तु ज्ञानी इस विषय में उदासीन रहता है... शरीर की स्थिति कैसे रहना, वह तो उसके कारण से है। अच्छा भोजन दे... और भोजन आनेवाला हो, वह तो आनेवाला हो, वह आता है। जो रजकण आते हैं, वे आवें, वे कहीं तेरे विचार से... कि इस बादाम को लाऊँ और पिस्ता को लाऊँ। ऊँचे में ऊँची चीज़ तो बादाम कहलाती है न? घी में तलकर डाले, घी ऐसे खाये। आहाहा! बादाम का हलुवा बनावे, लो! बादाम का हलुवा बनाया था भाई ने। नहीं, हम गये थे मद्रास-मद्रास। साथवाला कच्छी था एक गृहस्थ था। उतरे थे न यहाँ। चन्दुभाई मोरबीवाले हैं न? वहाँ उतरे थे। वहाँ उतरते हैं न मद्रास में। और साथ में एक था कच्छी। चरण किये थे। बादाम का हलुवा बनाकर लाया। भाई! हम बादाम... बादाम ऊँची उसमें वापस घी में तलकर हलुवा बनाकर लाया था, लो। वह वापस अभी मिला था नहीं मुम्बई? यह मोटाणी के यहाँ आया था। मोटाणी के यहाँ हम उतरे थे, वहाँ आया था। अन्यमति है, परन्तु उसके साथ प्रेम हो गया है। अरे... बादाम का हलुवा। आहाहा! इससे शरीर अच्छा रहे।

मुमुक्षु : आयुर्वेद में तो ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब लिखा हुआ। उसमें भी ऐसा लिखा है। वह तो होने की पर्याय से हो तो उसे निमित्त कहा जाता है। जिसे मौसम्बी पचे नहीं, ऐसे जठर, उसे बादाम का हलुवा पचेगा? अज्ञानी की भ्रमणा है। रजकण की जो अवस्था होनेवाली है, वह होती है। आहाहा!

ज्ञानी इस विषय में उदासीन रहता है... जो कुछ शरीर की अवस्था और जो मिलनेवाला आहार है, वह मिलता है और जो होनेवाली पर्याय, वह होती है, उसमें आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! **क्योंकि वह शरीर की पुष्टि से आत्मा की पुष्टि कभी नहीं मानता।** आहाहा! शरीर की निरोगता से आत्मा निरोग है, ऐसा माने? शरीर में सरोगता, इसलिए आत्मा रोगी है, ऐसा माने? वह तो जड़ की दशा है। आहाहा!

उसको शरीर और आत्मा—दोनों का भेदज्ञान वर्तता है;... आहाहा! धर्मी को

जहाँ पर्याय से द्रव्य भिन्न वर्तता है, उसे राग और शरीर, वह तो भिन्न कहीं रह गया। उसकी सम्हाल करूँ, तो रहे, ऐसा कहाँ है? दूसरा तत्त्व है, जहाँ शरीर सम्बन्ध। आया न सम्बन्ध? नास्ति। आहाहा! भगवान चैतन्यतत्त्व को जड़तत्त्व के साथ क्या सम्बन्ध है। आहाहा! यह शरीर, वह बाह्य लोटे-फिरे, उसे आत्मा की पर्याय को वह शरीर स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार आत्मा की पर्याय शरीर को स्पर्श नहीं करती। एक-दूसरे में तो अत्यन्त अभाव है। एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव, उसमें यह पुष्टि हुई, उसमें आत्मा की पुष्टि माने? आहाहा!

इसलिए वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही अपने आत्मा की पुष्टि मानता है। आहाहा! भगवान पूर्ण आनन्द और स्वभाव सम्पन्न, उसकी सम्यग्दर्शनदशा, उसकी प्रतीति की (कि) ऐसा वह स्वभाव भगवान पूर्ण। गम्भीरता का पार नहीं। अचिन्त्य शक्ति के स्वभाव का सागर महाप्रभु। ऐसी वस्तु की जहाँ अन्तर्मुख प्रतीति हुई, उसका ज्ञान हुआ और उसमें रमणता, वह आत्मा की पुष्टि है। वह पर्याय में। आहाहा! द्रव्य तो है, वह है। वह तो सदा स्थित ही है, ऐसा पूरा। केवलज्ञान हो तो वहाँ कमी नहीं होती और अक्षर का अनन्तवाँ भाग उस निगोद में रहे तो वहाँ ध्रुव में विशेषता—पुष्टि रहती है, ऐसा भी नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय में पुष्टि मानता है। पर्याय में। आहाहा! वस्तु भगवान पूर्ण शुद्ध ध्रुव चैतन्यस्वभाव, उसे अवलम्बकर होनेवाली परिणति-पर्याय दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह पुष्टि पर्याय की है। प्रौषध करते हैं न? प्रौषध, वह प्रौषध यह हो तो प्रौषध है। बाहर का उपवास किया और आहार नहीं किया, इसलिए प्रौषध हो गया, ऐसा नहीं है। भगवान अनन्त गुण का खजाना, उस खजाना को खोलकर... आहाहा!

जैसे गुब्बारा, फूँक मारकर गुब्बारे को बड़ा करते हैं न? फुलाते हैं। उसी प्रकार चैतन्य ध्रुव की एकाग्रता दृष्टि में पर्याय को फुलाता है। आहाहा! वह गुब्बारा है, वह पोला है। पोला, वह तो इतना बड़ा दिखता है ऐसा। यह तो ठोस चीज़ है। आहाहा! यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र, यह पर्याय की पुष्टि है। है न?

इसलिए वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही... ऐसा। **अपने आत्मा की पुष्टि पर्याय में मानता है।** आहाहा!

श्लोक - ६४

*जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः॥ ६४॥

जीर्णे पुराणे वस्त्रे प्रावृत्ते यथाऽऽत्मानं जीर्णं न मन्यते। तथा जीर्णे वृद्धे स्वदेहेऽपि स्थितमात्मानं न जीर्णं वृद्धमात्मानं मन्यते बुधः॥६४॥

वस्त्र जीर्ण से जीर्ण तन, माने नहीं बुधिवान।
त्यों न जीर्ण तन से गिनें, जीर्ण आत्म मतिमान॥ ६४॥

अन्वयार्थ - (यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे जीर्णे) पहने हुए वस्त्र के जीर्ण होने पर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष, (आत्मानं) अपने को-अपने शरीर को (जीर्णं न मन्यते) जीर्ण नहीं मानता है; (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहे अपि जीर्णे) अपने शरीर के भी जीर्ण हो जाने पर (बुधः) अन्तरात्मा, (आत्मानं) आत्मा को (जीर्ण न मन्यते) जीर्ण नहीं मानता है।

टीका - जीर्ण अर्थात् पुराना वस्त्र पहिनने पर भी, जैसे बुध (चतुर मनुष्य) अपने को (अपने शरीर को) जीर्ण नहीं मानता; इसी तरह अपना देह, जीर्ण-वृद्ध होने पर भी, वह अन्तरात्मा, (शरीर में) रहे हुए आत्मा को जीर्ण-वृद्ध नहीं मानता॥६४॥

भावार्थ - जैसे - चतुर मनुष्य, पहिने हुए वस्त्र जीर्ण होने पर भी, अपने शरीर को जीर्ण हुआ नहीं मानता; इसी तरह अन्तरात्मा, शरीर जीर्ण होने पर, अपने आत्मा को जीर्ण नहीं मानता।

जैसे - वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; एक के परिणमन से दूसरे का परिणमन नहीं होता; इसी तरह शरीर और आत्मा एक-दूसरे से भिन्न होने से, शरीर के जीर्णरूप परिणमन से, आत्मा का जीर्णरूप परिणमन नहीं होता।

---

* जिण्णिँ वत्थिँ जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु। देहिँ जिण्णिँ णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु॥
अर्थात् जैसे - बुद्धिमान, जीर्ण वस्त्र से शरीर को जीर्ण नहीं मानता; उसी प्रकार ज्ञानी, जीर्ण शरीर से आत्मा को जीर्ण नहीं मानते। *(श्री परमात्मप्रकाश, योगीन्द्रदेव, २/१७९)*

विशेष स्पष्टीकरण -

शरीर, जीर्ण हो, रोग ग्रस्त हो, तो भी जीव, आत्महित कर सकता है-ऐसा ज्ञानी जानते हैं और मानते हैं; इसलिए शरीर की प्रतिकूलता में भी उनकी आत्मप्रवृत्ति चालू ही रहती है।

अज्ञानी को शरीर के साथ एकताबुद्धि होने से, वह शरीर की प्रतिकूलता में आत्महित के लिए अपने को असमर्थ समझता है। वह तो यही मानता है कि शरीर स्वस्थ हो-निरोगी हो, तभी धर्म होता है; जीर्ण या रोगग्रस्त शरीर से धर्म नहीं होता-यह उसका भ्रम है॥६४॥

श्लोक - ६४ पर प्रवचन

६४।

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः॥ ६४॥

वस्त्र जीर्ण से जीर्ण तन, माने नहीं बुधिवान।
त्यों न जीर्ण तन से गिनें, जीर्ण आत्म मतिमान॥ ६४॥

टीका - जीर्ण अर्थात् पुराना वस्त्र पहिनने पर भी, जैसे बुध (चतुर मनुष्य) लोक में अपने को (अपने शरीर को) जीर्ण नहीं मानता;... आहाहा! जीर्ण वस्त्र सड़ गया जैसा हो तो गरीब मनुष्य को... इसलिए जीर्ण वस्त्र फटा-टूटा हो, पायजामा फटा हुआ हो, इससे मेरा शरीर जीर्ण है, ऐसा मानता है ? **पुराना वस्त्र पहिनने पर भी,...** जीर्ण **(चतुर मनुष्य) अपने को (अपने शरीर को) जीर्ण नहीं मानता; इसी तरह अपना देह, जीर्ण-वृद्ध होने पर भी,...** शरीर वृद्ध हो जाये, जीर्ण हो जाये, झुर्रियाँ पड़ जाये, बैठने का काम भी कर नहीं सके, मुश्किल से घुटनों के बल बैठा रहे। आहाहा! ऐसा शरीर जीर्ण हुआ, इसलिए आत्मा जीर्ण हुआ ? आहाहा!

शरीर की ऐसी जीर्णता हो और अन्दर में ध्यान में केवलज्ञान हो। आहाहा! शरीर जीर्ण हो गया हो। आता है न, उपसर्ग की बात आती है शास्त्र में। सियालिया शरीर

खाये टुकड़े। आहाहा! परन्तु अन्दर में ध्यान में गया, जहाँ आनन्द में, केवलज्ञान हो जाता है। परन्तु उस समय उपसर्ग होता नहीं है। उस उपसर्ग से शरीर जीर्ण हो गया हो, टुकड़े कर डाले। आहाहा!

सुकुमाल, देखो न आता है न? सियालिया खाते हैं। इससे क्या? इससे शरीर जीर्ण हो गया? आत्मा जीर्ण हो गया? शरीर तो शरीर की अवस्था है। अन्तर आनन्द स्वरूप में सच्चिदानन्द आनन्द के स्वाद में स्थित है, वह तो पर्याय में पुष्टि हुई है। शरीर जीर्ण हो गया और यह केवलज्ञान हो गया। आहाहा! शरीर में एक पैर काट डाला हो और ऐसा हो, लो।

मुमुक्षु : केवलज्ञान होने के बाद शरीर व्यवस्थित हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर शरीर व्यवस्थित हो जाता है। यह तो उसका स्वभाव ऐसा है। परन्तु ऐसा था और केवलज्ञान हुआ। केवल(ज्ञान) होने पर शरीर फिर तो खड्डे-बड्डे हों, टुकड़े हों, वह सब इकट्ठा व्यवस्थित।

मुमुक्षु : शरीर को खबर पड़ती होगी कि....

पूज्य गुरुदेवश्री : उस प्रकार के रजकण की अवस्था का स्वरूप ही उस काल में होता है। उसका स्वकाल ही ऐसा होता है। आहाहा! जिस प्रमाण में राग करे, उसी प्रमाण में चारित्रमोह की पर्याय में कर्म की पर्याय होती है, उसे खबर है कि ऐसा राग इतना किया? परन्तु स्वभाव ही ऐसा पूर्ण है। वह परमाणु में जितने प्रमाण में यह राग किया, उतने ही प्रमाण की चारित्रमोहनीय की पर्याय होती है। यह उसके कारण नहीं। आहाहा! उस समय के उन परमाणुओं का उस चारित्रमोहनीयपर्यायरूप परिणमित होने का स्वकाल था। आहाहा! और आत्मा अन्दर में ध्यान में आकर केवलज्ञान प्राप्त करे, तब वह कर्म की अवस्था अकर्मरूप होती है, यह उसका क्रम और काल था। आहाहा! भारी कठिन काम।

पुद्गल में उस काल में कर्म की अवस्था का अभाव होकर अकर्मरूप होने का उसका समय था। इसने केवलज्ञान प्रगट किया, इसलिए केवलज्ञानावरणीय को ऐसे अकर्मरूप होना पड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा! कठिन मार्ग, भाई!

मुमुक्षु : तत्त्वार्थसूत्र में तो लिखा है कर्म के क्षय से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब निमित्त के कथन हैं। उस समय वहाँ होता है, इससे ऐसा बतलाया है। होता है उसकी पर्याय के काल में, उसके कारण से होता है। नाश हुआ अर्थात् क्या? जो कर्मरूप पर्याय थी, वह अकर्मरूप हो, इसका नाम कर्म का नाश।

यह भाई ने डाला है या नहीं? तत्त्वज्ञान। जैन (तत्त्वमीमांसा) में डाला है फूलचन्दजी ने। उसमें भी ऐसा आता है कलशटीका में भी। अकर्मरूप होना। वह यहाँ ध्यान से आनन्द आया केवल का। ऐसा स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन सत्त्व है, उसका ही सत्त्व का एकाग्र होने पर जिस पर्याय में सत्त्व आया केवलज्ञान और अनन्त आनन्द, इसलिए केवलज्ञानावरणीय को नाश होना पड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा! जेठाभाई! तुम्हारे चर्चा का था न? कि कर्म से होता है, ऐसा मानो तो हम चर्चा करेंगे। यह कहे, भाई! कर्म से यह हम मानते नहीं। कर्म से राग विकार होता है, ऐसा मानो। आहाहा!

यहाँ तो राग होता है, वह भी पर की अपेक्षा बिना और उस समय कर्म की पर्याय उस प्रकार से होती है, उतने ही प्रमाण में, वह भी राग की अपेक्षा बिना। ओहोहो! ऐसा जहाँ वस्तु का स्वरूप ही है, ऐसी पर की जीर्णता, वह अपने को जीर्ण मानता नहीं। **अन्तरात्मा, (शरीर में) रहे हुए आत्मा को जीर्ण-वृद्ध नहीं मानता।**

भावार्थ—जैसे - चतुर मनुष्य, पहिने हुए वस्त्र जीर्ण होने पर भी,... ...था न यहाँ? हिम्मतभाई का मकान है, वहाँ थे न एक? किस गाँववाले? भावनगरवाले? वैष्णव। घोघावाले। घोघावाले थे। शरीर जीर्ण हो गया। यहाँ थे न वे नहीं? वैष्णव नहीं थे उस गाँव में? इनके रिश्तेदार होते हैं। इनकी बहिन थीं। दो स्त्रियाँ थीं। तब हीराभाई के मकान में थे। अन्तिम स्थिति। डॉक्टर-बॉक्टर आये और उसे श्वास छूटा। और वस्त्र। ऐसा कि शरीर अब जीर्ण हो गया है तो अब छूट जायेगा। स्वयं कहे। यह दूसरा शरीर। वैष्णव थे वैष्णव। (संवत्) १९९४ की बात है। अभी यहाँ आये नहीं थे यहाँ। हीराभाई के मकान में थे। हिम्मतभाई की जरा है न वहाँ थे वे। वहाँ यहाँ नहीं थे वे? भूल गये। वैष्णव।

मुमुक्षु : करशनजी।

पूज्य गुरुदेवश्री : करशनजी। करशनजी मोदी। इनकी बहिन थीं। आहाहा! शरीर जीर्ण हो गया। डॉक्टर सब धमाधम करे। परन्तु शरीर जीर्ण। व्यक्ति जरा चतुर सही अन्दर, इसलिए ऐसा कहे शरीर जीर्ण हो गया। शरीर नाश हो जायेगा। अब दूसरा शरीर आयेगा। ऐसा बोलता था बेचारा। आहाहा! यह शरीर जीर्ण होने से कहीं आत्मा जीर्ण होता है? यहाँ जीर्ण हो और यहाँ केवलज्ञान हो। आहाहा! कहाँ गये? गये?

जैसे - चतुर मनुष्य, पहिने हुए वस्त्र जीर्ण होने पर भी, अपने शरीर को जीर्ण हुआ नहीं मानता; इसी तरह अन्तरात्मा, शरीर जीर्ण होने पर, अपने आत्मा को जीर्ण नहीं मानता। आहाहा! अरे... पर्याय में हीन होने से बहुत हीन। इससे पूर्ण ध्रुव हीन हुआ, ऐसा माने? आहाहा! उसके बदले शरीर की जीर्णता से आत्मा की जीर्णता, यह बात कहाँ है? आहाहा! धर्म की दृष्टि... शरीर पर लक्ष्य भी कहाँ है? वह सियाल काट खाये और टुकड़े करे, धर्मात्मा की दृष्टि तो आत्मा के ऊपर पड़ी है। वह शरीर के टुकड़े करे सियाल तो वहाँ अन्दर में तो आनन्द वेदन में आता है। बटका भरे, यहाँ (आत्मा में) आनन्द पुष्ट होता है। आहाहा! यह उसे और इसे क्या सम्बन्ध है? आहाहा! वह टुकड़ा जाये, यहाँ आनन्द की पुष्टि हो। आहाहा! वह चीज़ ही अलग है।

यह लिखते हैं या नहीं निहालभाई? करोड़ों सुईयाँ धगधगती शरीर में आवे, तो भी ज्ञानी को उसकी चिन्ता नहीं है। क्योंकि वह मुझे स्पर्श नहीं करती। है न? निहालभाई में है। धर्मी तो हर समय तैयार। शरीर में धगधगती करोड़ों सुईयाँ पहने तो भी उन्हें मैं स्पर्श नहीं करता, वे मुझे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! जिससे मुझमें अत्यन्त अभाव शरीर का, उसमें शरीर में वह हो, उसमें मुझे क्या? आहाहा!

सातवें नरक का नारकी, वह मरे तब भले मिथ्यात्व में जाता है। परन्तु बीच में रवरव नरक की अपरिठाण नरक की, शरीर की पीड़ा, तथापि शरीर से भगवान भिन्न है; इसलिए वह शरीर की पीड़ा मुझे है—ऐसा नहीं मानता। यह जितना राग का अंश बाकी रहता है, उतना द्वेष का अंश दुःख होता है, परन्तु वह उसके कारण से नहीं, निर्बलता के कारण से है। आहाहा! इस शरीर की यह स्थिति होती है, इसलिए दुःखी है, ऐसा है

ही नहीं। जितने प्रमाण में अभी उसकी आसक्ति पर के प्रति अस्थिरता, उतने प्रमाण में प्रतिकूल संयोग में द्वेष का अंश आवे, इसका नाम दु:ख। आहाहा! सम्यग्दृष्टि भी नरक में पड़े हैं, उन्हें जितने अंश में भिन्न पड़ा है तत्त्व, उतने अंश में तो आनन्द है। जितने अंश में अन्दर अभी राग बाकी है, उतने अंश में खेद का दु:ख भी है। आहाहा! परन्तु इससे शरीर के कारण से यह हुआ, इसलिए दु:ख हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मेरी सहनशीलता की न्यूनता के कारण दु:ख का भाव वेदन में आता है। शरीर में टुकड़े हों और जीर्ण हो, इसलिए यह दु:ख होता है, ऐसा नहीं है। मार्ग ऐसा कठिन, भाई! आहाहा! वीर का मार्ग है यह। यह शूरवीर का मार्ग है। यह कायर का काम नहीं है। अन्दर कलेजा कँपे। आहाहा!

जैसे - वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; एक के परिणमन से दूसरे का परिणमन नहीं होता;... भावार्थ का दूसरा पेरेग्राफ। वस्त्र और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न है। आहाहा! **एक के परिणमन से-पर्याय से दूसरे का परिणमन नहीं होता; इसी तरह शरीर और आत्मा एक-दूसरे से भिन्न होने से, शरीर के जीर्णरूप परिणमन से, आत्मा का जीर्णरूप परिणमन नहीं होता।** स्पष्टता की है। जैसे वस्त्र के जीर्ण परिणमन से, शरीर का जीर्ण परिणमन नहीं होता; उसी प्रकार शरीर के जीर्ण परिणमन से, आत्मा का जीर्ण परिणमन नहीं होता। आहाहा!

विशेष - शरीर, जीर्ण हो, रोग ग्रस्त हो,... परन्तु शरीर न? **तो भी जीव, आत्महित कर सकता है...** आहाहा! उसकी ओर का लक्ष्य छोड़कर आत्मा के ध्येय में-लक्ष्य में जाये तो रोग के समय भी आत्मा कल्याण कर सकता है। आहाहा! जिसने अभिमान सेवन किया है। शरीर वह मैं, उसकी क्रिया वह मैं, वाणी मेरी। आहाहा! वाणी की कला कहने की ताकत भी मेरी। आहाहा! दृष्टि में ही खराबी पड़ी है। आहाहा!

वाणी, मन और शरीर, यह आ गया न पहले? तीन शब्द आये थे। मन, वचन और काया। काया, वाणी और चेतसा, ऐसा आया था। मन। तीनों अत्यन्त भिन्न हैं। इन तीनों को जिसने अपना माना है, वह पर का स्वीकार करनेवाला स्व को छोड़कर भ्रान्ति में पड़ा है। अपना अस्तित्व वह पर की क्रिया से भिन्न है, ऐसा न जानकर वह सब

क्रियायें जो मन, वचन और काया की होती है, मेरी उपस्थिति चैतन्य की है, इसलिए होती है, वे भ्रम में पड़े हैं। वे भ्रम से दु:खी हैं।

शरीर, जीर्ण हो, रोग ग्रस्त हो, तो भी जीव, आत्महित कर सकता है-ऐसा ज्ञानी जानते हैं... आहाहा! **और मानते हैं; इसलिए शरीर की प्रतिकूलता में भी उनकी आत्मप्रवृत्ति चालू ही रहती है।** प्रतिकूलता के वीर्य की विशेष स्फुरणा होती है। श्रीमद् ने एक पत्र में ऐसा लिखा है। एक पत्र में है। चेतनजी! एक पत्र है इस ओर का। आहाहा! यह क्या? मेरे समीप में भिन्न चीज़ में यह क्या? ऐसे वीर्य की स्फुरणा स्वसन्मुख जाती है विशेष तो। आहाहा! इसलिए उसके कारण से वहाँ अटकता है, ऐसा कुछ नहीं है। हो शरीर में।

इसलिए शरीर की प्रतिकूलता में भी उनकी आत्मप्रवृत्ति चालू ही रहती है। जैसे शरीर की अनुकूलता में अपनी ओर झुकाव की प्रवृत्ति है, ऐसी ही प्रतिकूलता के समय भी अपने झुकाव में प्रवृत्ति है। आहाहा! वह प्रतिकूलता के कारण मन्द पड़ती है, ऐसा नहीं है। हाँ, उसमें अशुभभाव हो तो उस समय शुद्धता की परिणति मन्द है। और शुभ का भाव हो, उस समय शुद्ध की परिणति जरा विशेष है और शुद्ध हो, तब तो विशेष है ही। आहाहा! इसलिए पर के कारण से नहीं हुआ वहाँ। अपना अशुभभाव हो, उस समय शुद्ध की ओर का झुकाव कम होता है। झुकाव तो है दृष्टि की अपेक्षा से। परन्तु स्थिरता की अपेक्षा से (बात है)। शुभभाव हो, तब झुकाव कुछ विशेष है। शुद्ध में तो झुकाव ही एक है। वह अपने कारण से है ऐसा। पर के कारण से कुछ है नहीं। प्रतिकूलता है, इसलिए यहाँ शुद्ध की प्रवृत्ति कुछ मन्द है, ऐसा नहीं है। यह अशुद्धभाव है, वह तो अपने पुरुषार्थ की विपरीतता के कारण अशुभ में है तो उसकी स्वसन्मुख प्रवृत्ति मन्द है, ऐसा। उसके परिणमन के ऐसे पहलू हैं, ऐसा कहते हैं। पर के कारण नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : शुभ के समय विशेष होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विशेष इस ओर ढलकर तीव्रता के परिणाम करता है न! दृष्टि तो द्रव्य के ऊपर है ही। परन्तु शुभ के समय पुरुषार्थ इस ओर विशेष है। अशुभ समय

के काल की अपेक्षा से। समझ में आया? आहाहा! और ऐसे गिनो तो छठवें गुणस्थानवाले का आर्तध्यान हो तो भी परिणति तो विशेष है वहाँ। और चौथे गुणस्थानवाला निर्विकल्प परिणति में पड़ा हो तो भी उसकी परिणति की शुद्धता थोड़ी है। कषाय के ऊपर है (माप) न? आहाहा!

अज्ञानी को शरीर के साथ एकताबुद्धि होने से,... अन्तिम पेरेग्राफ। परमात्मप्रकाश का दृष्टान्त दिया है। नीचे है न? नीचे श्लोक दिया है न?

जिणिणँ वत्थिँ जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु।
देहिँ जिणिणँ णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु॥

- परमात्मप्रकाश, योगीन्दुदेव (२-१७९)

समाधिशतक। **अज्ञानी को शरीर के साथ एकताबुद्धि होने से, वह शरीर की प्रतिकूलता में आत्महित के लिए अपने को असमर्थ समझता है। वह तो यही मानता है कि शरीर स्वस्थ हो-निरोगी हो, तभी धर्म होता है;...** दायें और बायें पहलू में शूल आता हो शूल। उस समय कैसे धर्म होगा, कहे। ऐसा अज्ञानी मानता है। अन्दर से सबाका आते हों। चिल्लाहट मचाये चिल्लाहट।

श्रीमद् को अन्त में आवाज बहुत घुँटती थी। झबेरभाई कहते। उनके बहनोई कहते कि अन्त में आवाज घुँटी। इतनी (कि) पाँच-पाँच घर तक सुनाई देती थी। इसलिए हमें तो ऐसा कि लो, ऐसा यह मरण! परन्तु वह तो देह की क्रिया कुछ थी ठीक, इससे अन्दर ध्यान में गये होंगे। वह क्रिया शुरु हो गयी ऐसी। इससे कहीं आत्मा को अन्दर नुकसान है, यह कुछ नहीं है। आहाहा! क्योंकि खड़े हुए, इतनी शरीर की ताकत थी, बैठे (कि) ऐसे। क्या कुछ दूसरा। आरामकुर्सी। बस ऐसे वस्त्र डालकर। वे तो अन्दर आनन्द में गये। बाहर में वह श्वास घूंटने लगा। लोग तो कहने लगे कि इनके बहनोई कहे कि हमको तो कुछ श्रद्धा नहीं। अरे... भाई! वह देह की क्रिया है। उसके साथ कहीं अन्तर के आनन्द के भान को कुछ विघ्न नहीं है। आहाहा!

(संवत्) १९७६ के वर्ष। यह ध्रांगध्रा में एक संघवी उपाश्रय के पास था। पहला। गली में पहला घर। वह सूरचन्द संघवी नहीं था? वह मोहल्ला। ७६ की बात

है। वह संघवी था। हम वहाँ थे। मांगलिक। परन्तु पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... खाट नहीं थी। नीचे डाला। वहाँ भी रह सके नहीं।

मुमुक्षु : पूरे घर में गद्दे डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। वह तो पड़ा था। मांगलिक सुनना था। ऐसे स्थिर (रह सके नहीं) इतनी पीड़ा। बात यह कि वह एकत्वबुद्धि है न? आहाहा! बिस्तर में बैठ सके नहीं, रह सके नहीं, सो सके नहीं। इतना अन्दर। ऐसे गुलाँट खाये... ऐसे गुलाँट खाये... ऐसे गुलाँट खाये... व्यक्ति वृद्ध था। ५०-५५ वर्ष होंगे। यह ७६ की बात है। पहले ध्रांगध्रा गये न तब (की बात है)। थोड़े समय में मर गया। आहाहा!

धर्मी को इस शरीर की प्रतिकूलता के समय अपना आत्महित असमर्थ नहीं होता। **शरीर स्वस्थ हो-निरोगी हो, तभी धर्म होता है;...** ऐसा मानते नहीं। आहाहा! शरीर की अवस्था में स्वयं कहाँ है? और शरीर की अवस्था अपने में कहाँ है? आहाहा! ऐसा भारी काम! स्वयं तो आनन्दस्वरूप है, ऐसा जो जाना है, आनन्द का वेदन हुआ है, उस वेदन का धनी जो ध्रुव है, वहाँ उसकी दृष्टि का जोर है। पर्याय पर भी जिसका जोर नहीं। आहाहा! उसे तो कहते हैं कि इस प्रतिकूलता के समय यह धर्म साधन होता है। आहाहा!

श्रीमद् का पत्र है एक जगह। प्रतिकूलता के समय धर्मी की वीर्य की स्फुरणा विशेष होती है। ऐसा एक पत्र है। अन्तिम उस ओर। आनन्द का नाथ भगवान जहाँ हाथ में आया। आहाहा! वह चीज़ थी और वह है। वस्तु परिपूर्ण आनन्द और ज्ञान से (भरपूर) पड़ी ही है। है। आहाहा! उसका जिसने अन्तर में स्वीकार किया, तो शरीर की प्रतिकूलता के काल में उसकी अन्दर असमर्थता हो जाये, ऐसा नहीं है। उसमें है ही नहीं न। वह यहाँ नहीं, यह उसमें नहीं। आहाहा! 'एक रे दिवस अेवो आवशे' आया है न गायन, नहीं? अभी हिम्मतभाई ने पुस्तक लिखी, उसमें था। यह हिम्मतभाई नहीं।

'एक रे दिवस अेवो आवशे जो मनुष्य होय...
सगी नारी अे तारी कामिनी, उभी टग टग जोवे जी

आ रे कायामां हवे कांई नथी, अे धुसके धुसके रोवे जी,
अेक रे दिवस अेवो आवशे।'

आयेगा या नहीं परन्तु इसे?

देह संयोगी चीज़ छूटने का काल तो इस भव में आये बिना रहेगा नहीं? शत-प्रतिशत। धीरुभाई कहते थे अभी। ऐसा, यह सब छूटेगा... अभी कुछ होता नहीं, कहे, लो! धीरुभाई! लाठी। पुत्र नहीं, पुत्री एक ही है। पैसे दो-चार लाख होंगे और यह नाती को लाड़ लड़ावे (दुलार करे)। परन्तु यह सब छोड़कर जाना है। अकेला रहना, वहाँ नहीं साथी और संगाती। आहाहा!

मुमुक्षु : अभी देरी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देरी है अभी। आहाहा!

वह समय तो अचानक आयेगा। आहाहा! यह कहा न, ३५-३५ वर्ष का जवान व्यक्ति यहाँ मर गया, कुचामन का कहता था न? कुचामन? मलकापुर जवान ऐसा कुछ नहीं था, कहे। ठीक व्यक्ति बैठा था पति इसका। ऐसे बैठा उसमें उवासी खायी। देह छूट गयी। बस देह छूट गयी। यह तो स्थिति पूर्ण हो उसे। आहाहा! कहाँ उसमें वह थी कि ऐसा का ऐसा रहे। आहाहा! उसे छूटने का समय हो, वह छूटकर ही रहता है। स्वयं स्वस्थ ऐसे, हों! बस उवासी खायी। दूसरा कुछ नहीं। ३५ वर्ष का जवान। देह छूट गयी। परन्तु यह तो उसका समय है। क्षेत्र में साथ है, वहाँ भाव से इकट्ठा कब था? एक क्षेत्र में तूने उसके क्षेत्र में इसके क्षेत्र में अत्यन्त अभाव है। आहाहा! यह तो आकाश की अपेक्षा से क्षेत्र एक है ऐसा कहा जाता है। वह भी कहाँ? आकाश का क्षेत्र और आत्मा का क्षेत्र एक-दूसरे में अभाव है। आहाहा!

वह तो यही मानता है कि शरीर स्वस्थ हो-निरोगी हो, तभी धर्म होता है; जीर्ण या रोगग्रस्त शरीर से धर्म नहीं होता-यह उसका (अज्ञानी का) भ्रम है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि का भ्रम है। प्रभु जब-जब तू करना चाहे तब कर सकता है, पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! पानी में डुबकी मारते हुए शरीर साधु के। अन्दर ऐसे जाये, उसमें वहीं का वहीं केवल(ज्ञान) पाते हैं, लो। आहाहा! देव ने डाला समुद्र में। उस

समय प्रमत्तभाव हो, तब उसे डाले। उसमें अन्दर में भी पानी की हिलोरे, पानी... आहाहा! इसी प्रकार यह आत्मा, मुझमें शरीर लीन कहाँ है कि शरीर की स्थिति मुझे रोके? उसमें केवल(ज्ञान) वहाँ से पाते हैं। देह पड़ी रहे और केवलज्ञान होकर ही रहता। इस प्रकार अनन्त मोक्ष गये हैं। आहाहा!

समुद्र में भी एक-एक बूँद से अनन्त मोक्ष गये हैं इस प्रकार से। ४५ लाख योजन में अनन्त सिद्ध एक साथ पड़े हैं, वहाँ से सीधे गये हैं न? सीधे गये तो वहाँ से गये तो इस प्रकार से गये हैं। आहाहा! मैं जहाँ हूँ, वहाँ शरीर नहीं, राग नहीं। आहाहा! जिसका निश्चय से तो कूटस्थ स्वभाव है। उसमें परिणति का-पर्याय का भी जिसमें अभाव है। आहाहा! कौन रोके उसे? किससे निर्बल हो? किससे सबल हो? भ्रम है। ६४ हुई।

श्लोक - ६५

***नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।**
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥ ६५॥

प्रावृत्ते वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं यथा नष्टं बुधो न मन्यते तथा स्वदेहेऽपि नष्टे कुतश्चित्कारणाद्विनाशं गते आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥६५॥

वस्त्र फटे माने नहीं, बुद्धिमान तन-नाश।
त्यों तन-नाश से, बुधजन गिनते नहीं विनाश॥ ६५॥

अन्वयार्थ **- (यथा) जिस तरह (वस्त्रे नष्टे) कपड़े के नष्ट हो जाने पर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष, (आत्मानं) अपने शरीर को (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है; (तथा) उसी तरह (बुधः) अन्तरात्मा, (स्वदेहे अपि नष्टे) अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर, (आत्मानं) अपने आत्मा को (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है।**

---

* वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठ। णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु॥
अर्थात् जैसे - बुद्धिमान, वस्त्र के नाश से शरीर का नाश नहीं मानते हैं; उसी प्रकार ज्ञानी, शरीर के नाश से, आत्मा का नाश नहीं मानते हैं। *(-श्री परमात्मप्रकाश, योगीन्द्रदेव, २/१८०)*

टीका - जैसे - पहिना हुआ वस्त्र नष्ट होने पर, चतुर मनुष्य अपने शरीर का नाश हुआ नहीं मानता; इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर, अन्तरात्मा अपने आत्मा को नाश पाता हुआ नहीं मानता।

भावार्थ - जैसे - पहिना हुआ वस्त्र नष्ट होने से चतुर मनुष्य, अपने शरीर का नाश नहीं मानता; इसी प्रकार शरीर का नाश होने पर अन्तरात्मा, अपने आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता।

जैसे - वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं।

शरीर और आत्मा का संयोग सम्बन्ध है तथापि अज्ञानी को उन दोनों की एकताबुद्धि होने से, वह शरीर के वियोग से (नाश से) अपने आत्मा का नाश मानता है और उसके संयोग से, अपने आत्मा की उत्पत्ति मानता है। कहा है कि —

'तन उपजत अपनी उपज जान,
तन नशत आपको नाश मान॥'[१]

अर्थात् मिथ्यादृष्टि, शरीर की उत्पत्ति में, आत्मा का जन्म मानता है और शरीर के नाश को, आत्मा का नाश मानता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

मिथ्यादृष्टि को शरीर में आत्मबुद्धि होने से ऐसी विपरीत मान्यता होती है, उसको पर के शरीर के सम्बन्ध में भी ऐसा ही भ्रम होता है। स्त्री या पुत्र के शरीर का नाश होने पर, उनके आत्मा का नाश मानकर, वह दुःखी होता है।

'.....जैसे - कोई नवीन वस्त्र पहिने, कितने ही काल वह रहे, तत्पश्चात् उसको छोड़कर अन्य नवीन वस्त्र पहने; इसी तरह जीव भी नवीन शरीर धारण करे, उसे कितने ही काल धारण किये रहे, फिर उसको भी छोड़कर अन्य नवीन शरीर धारण करता है; इसलिए शरीर सम्बन्ध की अपेक्षा से जन्मादि है। जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है, तो भी मोही जीव को भूत-भविष्य का विचार न होने से, पर्यायमात्र ही अपना अस्तित्त्व मानकर, पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर रहा करता है।'[२]

---

१. छहढाला, दूसरी ढाल, काव्य-५, २. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४३

ज्ञानी को शरीर और आत्मा का भेदज्ञान है; इसलिए वह शरीर के नाश के समय व्याकुल नहीं होता। कदाचित् अस्थिरता के कारण, अल्प आकुलता होती है परन्तु श्रद्धा और ज्ञान में वह ऐसा दृढ़ है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश कभी नहीं मानता और आकुलता का स्वामी नहीं होता॥६५॥

श्लोक - ६५ पर प्रवचन

६५।

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥ ६५॥

वस्त्र फटे माने नहीं, बुद्धिमान तन-नाश।
त्यों तन-नाश से, बुधजन गिनते नहीं विनाश॥ ६५॥

यह तो बहुत सादी भाषा है। सवेरे का जरा सूक्ष्म है। अभी कल का एक सूक्ष्म कल है। एक है। परन्तु यह तो समझ में आये ऐसा है। आचार्यों ने बहुत सरल, बहुत सरल भाषा है। भाषा की सरलता ही ऐसी आयी है। भाव... बहुत सरल, बहुत सरल। दिगम्बर सन्तों ने तो अनन्त-अनन्त उपकार किया है। सादी भाषा में इसे ठेठ अन्दर में पहुँचा दे। आहाहा! भगवान! तुझे शरीर नहीं, तुझे राग नहीं। जहाँ तू है वहाँ तो पर्याय नहीं। आहाहा! परमात्मप्रकाश का श्लोक १८० दिया।

टीका - जैसे - पहिना हुआ वस्त्र नष्ट होने पर, चतुर मनुष्य अपने शरीर का नाश हुआ नहीं मानता;... वस्त्र जल जाये, इसलिए मैं जल गया, ऐसा माने शरीर? **इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर, अन्तरात्मा अपने आत्मा को नाश पाता हुआ नहीं मानता।** आत्मा नाश कहाँ? आत्मा तो है अविनाशी भगवान! देह का नाश, वह आत्मा का नाश नहीं और वस्त्र के नाश से देह का नाश नहीं। इसी प्रकार देह के नाश से आत्मा का... यह वस्तु भिन्न है वह। बात अन्तर में बैठना चाहिए, भाई! अकेले शब्द काम आवें, ऐसा यहाँ नहीं है।

जैसे - वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी एक-

दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं। सादा दृष्टान्त दिया है। **शरीर और आत्मा का संयोग सम्बन्ध है...** आहाहा! संयोग सम्बन्ध है, इसलिए दूसरी चीज़ रूप वह चीज़ है, बस इतना। आहाहा! **तथापि अज्ञानी को उन दोनों की एकताबुद्धि होने से, वह शरीर के वियोग से (नाश से)...** संयोगी चीज़ है तो संयोग का वियोग होगा ही। **शरीर के वियोग से (नाश से) अपने आत्मा का नाश मानता है...** हाय... हाय... मर गया रे मर गया। **और उसके संयोग से, अपने आत्मा की उत्पत्ति मानता है।** शरीर का संयोग हुआ, तब मैं जन्मा; शरीर का वियोग हुआ, तब मैं मरा। अज्ञानी को ऐसी भ्रमणा है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण १०, बुधवार, दिनांक ०३-०७-१९७५, श्लोक-६५ से ६६, प्रवचन-७९

६५ गाथा, समाधितन्त्र।

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान। छहढाला। **मिथ्यादृष्टि, शरीर की उत्पत्ति में, आत्मा का जन्म मानता है...** 'मैं जन्मा' ऐसा। **और शरीर के नाश को, आत्मा का नाश मानता है।**

विशेष - शरीर में आत्मबुद्धि होने से उसे ऐसी विपरीत मान्यता होती है, उसको पर के शरीर के सम्बन्ध में भी ऐसा ही भ्रम होता है। स्त्री या पुत्र के शरीर का नाश होने पर, उनके आत्मा का नाश मानकर, वह दुःखी होता है। हाय... हाय... मेरा पुत्र मर गया, ऐसा मानता है। शरीर का नाश होने पर मानो आत्मा का नाश (हो गया)। आत्मा कहीं गया, ऐसा नहीं। और रोता है, यह इसकी सुविधा जाती है, उसे रोता है। वह मरकर नरक में गया या पशु में गया, उसकी कहाँ इसे पड़ी है। आहाहा!

उसका शरीर था। कामकाज में, व्यापार में, धन्धे में मदद होती थी। इसका उसे दुःख होता है। मर गया अर्थात् कि शरीर नाश हुआ। आत्मा कहाँ गया और कैसे रहा, उसकी इसे नहीं पड़ी है। आहाहा! क्योंकि इसे नजर में तो शरीर आया था। उसका आत्मा है, वह तो नजर में आया नहीं था। शरीर के साथ उसका सम्बन्ध माना था। वह सम्बन्ध छूटा, इसलिए मानो आत्मा का नाश हो गया। आहाहा!

'...जैसे - कोई नवीन वस्त्र पहिने, कितने ही काल वह रहे, तत्पश्चात् उसको छोड़कर अन्य नवीन वस्त्र पहने; इसी तरह जीव भी नवीन शरीर धारण करे, उसे कितने ही काल धारण किये रहे, फिर उसको भी छोड़कर अन्य नवीन शरीर धारण करता है;... आहाहा! यह कहीं आत्मा जन्मता है और मरता है, ऐसा तो है नहीं। यह तो शरीर का नया होना और उसका जाना, यह तो शरीर की बात है। परन्तु अपना अस्तित्व भिन्न है, इसकी खबर नहीं; इसलिए उसका अस्तित्व दूर होने पर मानो आत्मा मर गया और इसका अस्तित्व—संयोग हो तो आत्मा जन्मा। आहाहा!

इसलिए शरीर सम्बन्ध की अपेक्षा से जन्मादि है। आत्मा को कहीं जन्म और

आत्मा को मरण नहीं है, वह तो वस्तु अनादि अनन्त है। **जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है,...** जन्म और मरण, वह वस्तु-आत्मा को कहाँ है? भले उसकी पर्याय बदले परन्तु वस्तुरूप से तो नित्य है; और वर्तमान परिणाम को भी आश्रय तो द्रव्य का है। ध्रुव, वह तो नित्य है। वर्तमान परिणाम है, उसका आधार है, वह तो ध्रुव है, वह तो नित्य है। शरीर पलटने पर आत्मा पलटा, ऐसा नहीं; पर्याय भले पलटे। पर्याय पलटने से वस्तु पलटती है? वस्तु तो नित्य रहती है। आहाहा! ऐसे अस्तित्व की श्रद्धा और रुचि अन्तर में से होना, इसका नाम प्रथम धर्म की दशा है। बाकी सब बातें तो। उसमें लिखा है बौद्ध को केवल हुआ पश्चात् उसने विचार किया कि मैं दूसरे को उपदेश देने में रुकूँगा तो मेरी एकान्तता (नहीं रहेगी)। अपने एकान्त में रहो। कहो, केवलज्ञान होने के बाद। अरे!

श्रोता : केवलज्ञान होने के बाद विचार आवे...

पूज्य गुरुदेवश्री : विचार आया। पश्चात् उसका एक भगत था, उसने कहा— साहेब! ऐसे बहुत जीव तैयार है कि आपका उपदेश मिले, इसलिए तुरन्त समझ सके, ऐसे जीव हैं। पश्चात् उपदेश शुरु किया। धर्मचक्र चलाया। केवलज्ञानी के ऐसे लेख इस 'जैनप्रकाश' में (आये हैं)। क्या करता है यह तो कुछ? आहाहा!

जैन परमात्मा सर्वज्ञस्वरूपी, पर्याय, हों! यह चीज़ अन्यत्र कहाँ है? बौद्ध क्षणिकवाद, वेदान्त कूटस्थवाद, एक पद बिना का... एक वस्तु है, उसका निर्णय करनेवाली तो पर्याय है। उस पर्याय को जिसने नहीं माना, वह सब वस्तु झूठी है। आहाहा! क्योंकि पर्याय में ही कार्य होता है। मैं त्रिकाल नित्य ध्रुव हूँ। मेरा पूर्ण अस्तित्व ध्रुव है। ऐसा तो पर्याय में ज्ञात होता है और निर्णय होता है। समझ में आया? अब यह जो न माने और शरीर के पलटने से सब पलटा। वह आत्मा भी पलट गया। (यह) अज्ञानी को भ्रम है। और देह छूटने पर जहाँ जाए वहाँ सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे हो जाते हैं। संयोगी द्रव्य दूसरा, क्षेत्र दूसरा, उसकी पर्याय भी दूसरी हुई, उसका भाव भी ऐसा हुआ कि यह मैं हूँ, यह मैं हूँ, राग मैं हूँ, यह मैं हूँ। यहाँ तो दूसरे रागादि... वहाँ उस प्रकार के बने। आहाहा! यह तो उसकी दृष्टि, पर्याय की दृष्टि पर्याय के ऊपर थी, इसलिए ऐसा माना था। वस्तु ऐसी नहीं। पर्याय की दृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि से जहाँ जाने। द्रव्यदृष्टि को

जाननेवाली तो पर्याय है। पूर्ण है, ऐसा स्वीकार तो पर्याय करती है। ऐसा जो नित्य द्रव्य, परिणाम के पक्ष में आना अथवा उसका-ध्रुव का पक्ष होना, वह तो नित्य है। उसे जन्मना या मरना नहीं है। अरे! उसे पर्याय में परिणमना, वह जहाँ नहीं। आहाहा! समझ में आया? पर्याय में परिणमन जो है, वह तो पर्याय का है। एक जगह आया है, न्यालभाई में (आया है) कि परिणामी अपरिणामी कहें तो परिणामी परिणाम।

मुमुक्षु : अपरिणामी परिणाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपरिणामी परिणाम स्वयं अपरिणामी के ऊपर लक्ष्य है, इसलिए अपरिणामी परिणाम है। चेतनजी! है? इस ओर है। वस्तुस्थिति है। क्योंकि अपरिणामी को जब परिणाम ने जाना, तब अपरिणामी परिणाम। चन्दुभाई! मार्ग ऐसा है। और यह सर्वज्ञपन्थ में ही ऐसा मार्ग होता है, अन्यत्र कहीं तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

देखो न! जिसकी एक समय की पर्याय नित्य को स्वीकार करती है, वह सत्यार्थ है। उसे जन्म कहाँ, मरण कहाँ, उसे पर्याय का उपजना और विनशना, यह ध्रुव में कहाँ है? समझ में आया? **जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है,...** इस शब्द की यह तो व्याख्या की। ध्रुव है, उसे जन्म और मरण कहाँ है उसमें? वह तो नित्य वस्तु भगवान है और उसे ही आत्मा कहा है। पर्याय को व्यवहार आत्मा, अभूतार्थ आत्मा कहा। आहाहा! पर्याय को आत्मा अभूतार्थ, असत्यार्थ कहा; त्रिकाल की अपेक्षा से। पर्याय ऐसा स्वीकार करती है कि मैं तो जन्म-मरणरहित और परिणाम की परिणतिरहित ऐसी चीज़ हूँ। वह तो नित्य है। सुजानमलजी!

मुमुक्षु : एक म्यान में दो तलवार।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक म्यान में एक ही तलवार। कहा नहीं?

जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है,... आहाहा! वास्तव में तो जीवतत्त्व जो निश्चय जीव है, यह तत्त्वार्थ में कहा नहीं? पहला शुद्धभाव (अधिकार में)। यह जीव है। व्यवहार निश्चय को स्वीकारता है। आहाहा! वह तो नित्य है।

मुमुक्षु : अभूतार्थ भूतार्थ को...

पूज्य गुरुदेवश्री : अभूतार्थ भूतार्थ को स्वीकारता है। अभूतार्थ किस अपेक्षा से? त्रिकाल की अपेक्षा से। वर्तमान अपेक्षा से भूतार्थ है। आहाहा! त्रिकाल है, उसकी अपेक्षा से पर्याय को गौण करके असत्य और अभूतार्थ कहा है। अभाव करके असत्य (नहीं कहा)। न होवे तो फिर निर्णय किया किसने? आहाहा! कार्य और निर्णय सब पर्याय में होता है। ध्रुव तो कूटस्थ है। है, ऐसा का ऐसा है। आहाहा!

परमात्मप्रकाश में नहीं कहा? '**बंधो मोक्खो न जीवहि**' बन्ध और मोक्ष यह परिणाम जीव को नहीं। ठीक, ऐसा कहा वहाँ। आहाहा! जीव उसे कहते हैं कि जिसे बन्ध और मोक्ष परिणाम नहीं है। आहाहा! बन्ध और मोक्ष के परिणाम तो व्यवहार हैं। गौण करके उसे मोक्ष के परिणाम भी नहीं, असत्यार्थ कहा और छठी गाथा में तो ऐसा लिया कि प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायें उसमें है ही नहीं। एक समय की दशा वस्तु में कहाँ? दशा, दशा में है।

मुमुक्षु : पर्याय द्रव्य को स्पर्शती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ!

ऐसा जो **जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है,...** आहाहा! सर्वज्ञस्वभाव से भरपूर तत्त्व, वह जन्मादि से रहित नित्य है। **तो भी मोही जीव को भूत-भविष्य का विचार न होने से,...** कायम टिकते तत्त्व की खबर नहीं होने से। आहाहा! **पर्यायमात्र ही अपना अस्तित्त्व मानकर,...** एक समय की अवस्था, वही अपनी अस्ति मानकर है, **पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर रहा करता है।** मोक्षमार्गप्रकाशक में दिया है न? मोक्षमार्गप्रकाशक, गुजराती आवृत्ति, पृष्ठ-४७। उसमें इसका विस्तार दिया है।

ज्ञानी को शरीर और आत्मा का भेदज्ञान है;... धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन होने पर शरीर और आत्मा की भिन्नता का भान है। चाहे तो वह युद्ध की क्रिया में दिखाई दे, तथापि अपना अस्तित्व देह की इन क्रियाओं से भिन्न है, ऐसा उस क्षण भी भान है। समझ में आया? आहाहा! **इसलिए वह शरीर के नाश के समय व्याकुल नहीं होता।** शरीर बदलने पर छूटने के काल में वह खेद नहीं पाता। आहाहा! क्योंकि दोनों का भेदज्ञान किया है, अतः भेदज्ञान में भिन्न हूँ, वह तो अनुभव है। अब शरीर का नाश होने

पर उसे खेद होता है, वह रहा नहीं। आहाहा! क्योंकि उससे भिन्न हूँ। भिन्न हूँ, वह भिन्न होता है, उसमें खेद क्या? समझ में आया?

कदाचित् अस्थिरता के कारण, अल्प आकुलता होती है परन्तु श्रद्धा और ज्ञान में वह ऐसा दृढ़ है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश कभी नहीं मानता... बहुत सरस! शरीर छूटने पर जरा आकुलता है, वह छूटने के कारण से नहीं, निर्बलता के कारण से है। निर्बलता के कारण से जरा आकुलता होती है। उसके साथ आनन्द भी साथ में है।

इस **शरीर के नाश से आत्मा का नाश कभी नहीं मानता और आकुलता का स्वामी नहीं होता** लो। मुझमें—स्वरूप में आकुलता है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! यह ६५ हुई।

जितना कषाय का अस्तित्व है, उतनी आकुलता है। वस्तु अकषायस्वभावी का अनुभव हुआ, उतना तो आनन्द और अनाकुलता भी है। दोनों हैं। परन्तु यह शरीर छूटता है, इसलिए आकुलता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! केवलज्ञान हो और शरीर छूटे, लो। छूटता है, इसलिए दुःख है? इतनी आकुलता है न वहाँ। मात्र कमजोरी के कारण। अज्ञानी को आकुलता होती है, (वह इसलिए होती है कि उसे ऐसा लगता है कि) यह जाता है, वह मैं जाता हूँ। यह मरता अर्थात् मैं मरता हूँ। शरीर जन्मता है अर्थात् मैं जन्मा। नित्यता की इसे खबर नहीं, इसलिए संयोग पर इसके लक्ष्य में जोर जाता है। पाँच इन्द्रियाँ मिली तो कहता है कि मुझे अवयव मिले, मुझे साधन मिले—ऐसा अज्ञानी मानता है। यह साधन न हो तो मैं किस प्रकार जान सकूँगा?

मुमुक्षु : लकड़ी न हो तो चला नहीं जाता।

पूज्य गुरुदेवश्री : लकड़ी चलती है लकड़ी के कारण। एक ओर छत्री तथा एक ओर बटुक। चलते हैं न, देखा है। वह कुछ नहीं। पर के सहारे से शरीर चलता ही नहीं।

मुमुक्षु : आपने ही कहा, नजर से देखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : नजर से देखा क्या?—कि ऐसे चलता है। ऐसे बटुक का हाथ

पकड़ा है। बटुक न? इसका नाम क्या है? गरासिया। एक ओर छत्री। सवेरे आवे तो ऐसे अन्दर दिखे न खिड़की में से। यह रजकण-रजकण उनके क्षेत्रान्तर के काल के कारण में, उसे कोई पर की सहायता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : एक पदार्थ के परिणमन को दूसरी की आवश्यकता...

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ है ही नहीं न। आहाहा! लकड़ी भी जो ऐसे चलती है, वह हाथ ऐसे चला, इसलिए लकड़ी ऐसे चलती है—ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : दुनिया से अलग प्रकार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है, नहीं तो दूसरी स्थिति सिद्ध होगी नहीं।

अनेक द्रव्य है, ऐसा कहो तो अनेक अनेकरूप रहकर अपनी परिणति अपने में करते हैं। चन्दुभाई! पर के साथ क्या सम्बन्ध है कोई? बाह्य पदार्थ भले लोटे, फिरे ऐसे। बहिर लोटंति। परन्तु उसे अन्दर में कहाँ प्रवेश है? ओहो! ऐसा मार्ग है। उसने आत्मा को तुच्छ कर डाला। जिसे सर्वज्ञदशा क्या है एक समय की... आहाहा! तीन काल—तीन लोक को जाने, ऐसा कहना वह भी असद्भूतव्यवहार है। परन्तु उस पर्याय का सामर्थ्य इतना है। आहाहा! एक समय की ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य ही पर और स्वसम्बन्धी का अपना ज्ञान है, वह आत्मज्ञान है, वह आत्मज्ञ है। ऐसा जिसका स्वभाव, उसे अपूर्ण ज्ञानी मानना और अपूर्ण ज्ञानवाला आत्मा को जाना है... आहाहा! जिसका स्वभाव ही सर्वज्ञस्वरूपी... सर्वज्ञस्वरूपी... ज्ञान का सूर्य स्व-परप्रकाश का पिण्ड प्रभु, उसे सर्वज्ञपना तो सत्ता में-शक्ति में-स्वभाव में पड़ा ही है।

उसमें नहीं आया? 'पुण्य-पाप अधिकार' में। सर्वज्ञान, सर्वदर्शि। है तो ऐसा। आहाहा! 'पुण्य-पाप अधिकार'। उसमें आया, तब गाथा चलती थी न? यह विवाद उठाया। कर्म के कारण (होता है)। अरे... सुन तो सही। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तो ऐसा इसका स्वरूप ही है। वही आत्मा और उसे आत्मा कहते हैं। परन्तु वह अपने कर्मरज के अपराध के (कारण)... रज शब्द से भले वहाँ रजकण नहीं लिया। अपने विकार की

पर्याय में परिणमते, परलक्ष्य से परिणमते हुए सर्व को जानना-देखना इसे रहा नहीं। है तो ऐसा। आहाहा!

चैतन्य के तेज! जिसका अम्बार, चैतन्य के तेज का अम्बार। ऐसा परिपूर्ण स्वभावी भगवान आत्मा, उसकी शक्ति ही सर्व को देखना-जानना ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! ऐसा आत्मा जिसने माना नहीं, उसने आत्मा ही माना नहीं। समझ में आया? आत्मा अर्थात् ज्ञान और दर्शन उसका स्वभाव। स्वभाव अर्थात् परिपूर्ण भाव। परिपूर्ण भाव अर्थात् जिसका एकरूप जानना-देखना ऐसा स्वभाव। चिदानन्द एक स्वभावरूप आत्मतत्त्व, आया था न? टीका में आया था। चिदानन्द एक स्वभाव ऐसा निज आत्मतत्त्व। यह आत्मतत्त्व।

यहाँ पर्याय को कहाँ गिना है। चिदानन्द ज्ञानानन्द एक स्वभावी निज आत्मा। वापस एक स्वभाव, भेद नहीं। आहाहा! ऐसा इसका—जीव का स्वरूप ही है। उसे जीव कहते हैं।

ऐसा कहे, बौद्ध ने ऐसा किया। भगवान ने तो दूसरे सब प्राणियों की दया का भी उपदेश दिया। भारी भाई! ऐसे-ऐसे लेख जैन में (आते हैं)। जैनप्रकाश तो सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को जो सिद्ध करके साबित करे और पर्याय में प्रगट करे, वह जैनप्रकाश है। यह जैन। चन्दुभाई! समाचारपत्र यह है। समाचारपत्र को कहाँ खबर है कि मैं कौन हूँ। है खबर? उसे जाननेवाला है, वह तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शीस्वभावी है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, शरीर का नाश होने से जरा आकुलता ज्ञानी को होती है। वह आकुलता शरीर का वियोग होता है, इस कारण से नहीं है, परन्तु निर्बलता के कारण (होती है)। निर्बलता के स्वरूप से ज्ञान उसे जानता है। निर्बलता आदरणीय नहीं है। है, उसे जाने तो सही न! ज्ञान तो बराबर जानता है। ऐसी अस्तित्व की स्थिति पर्याय में है और पूर्ण द्रव्य में जैसी अस्तित्व की स्थिति है, ऐसे दोनों को ज्ञान तो जानता है। आहाहा! अपने वस्तु के स्वभाव में अस्तित्व की मौजूदगी जितनी जैसी है, उसे जाने और पर्याय में जितनी ज्ञान की और राग आदि की मौजूदगी, उसे जाने। पर के साथ क्या सम्बन्ध है? आहाहा! समझ में आया? यह ६५ (गाथा) हुई। ६६ (गाथा)।

श्लोक - ६६

*रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः॥ ६६॥

रक्ते वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं यथा बुधो न रक्तं मन्यते तथा स्वदेहेऽपि कुसुम्भादिना रक्ते आत्मानं रक्तं न मन्यते बुधः॥६६॥

रक्त वस्त्र से नहीं गिनें, बुधजन तन को लाल।
रक्त देह से ज्ञानीजन, गिने न चेतन लाल॥ ६६॥

अन्वयार्थ - (यथा) जिस प्रकार (वस्त्रं रक्ते) पहना हुआ वस्त्र, लाल होने पर भी (बुधः) बुद्धिमान पुरुष, (आत्मानं) अपने शरीर को (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है; (तथा) उसी तरह (स्वदेहे अपि रक्ते) अपने शरीर के लाल होने पर भी (बुधः) अन्तरात्मा, (आत्मानं) अपने आत्मा को (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है।

टीका - जैसे - लाल वस्त्र पहिनने पर भी चतुर पुरुष, अपने को (अपने शरीर को) लाल नहीं मानता; इसी प्रकार अपनी देह, कुंकुमादि से लाल होने पर भी अन्तरात्मा, आत्मा को लाल नहीं मानता।

भावार्थ - जैसे - पहिने हुए लाल वस्त्र से शरीर लाल नहीं होता; इसी प्रकार अपना शरीर कुंकुमादि से लाल होने पर भी, आत्मा कहीं लालवर्ण का नहीं हो जाता।

जैसे - लाल वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; इसी तरह लालवर्णवाला शरीर और आत्मा भी भिन्न-भिन्न हैं।

आत्मा, रस, वर्ण[१], गन्ध और स्पर्शरहित है तथापि शरीर के साथ एकताबुद्धि

---

* रत्तँ वत्थँ जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु। देहिँ रत्तिँ णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु॥
अर्थात् जैसे - बुद्धिमान, लाल वस्त्र से शरीर को लाल नहीं मानता, उसी प्रकार ज्ञानी, लाल शरीर से आत्मा को लाल नहीं मानता। *(-श्री परमात्मप्रकाश, श्री योगीन्द्रदेव, २/१७८)*

१. जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं॥
अर्थात् जीव के वर्ण नहीं, गन्ध भी नहीं, रस भी नहीं, और स्पर्श भी नहीं, रूप भी नहीं, शरीर भी नहीं, संस्थान भी नहीं, संहनन भी नहीं। *(-श्री समयसार, गाथा-५०)*

होने से अज्ञानी, शरीर का जैसा वर्ण होता है, वैसे वर्ण का अपने को (आत्मा को) भी मानकर, राग -द्वेष करता है।

ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान है; इसलिए उसको शरीर के किसी भी वर्ण से राग-द्वेष नहीं होता अर्थात् वह अपना या पर का सुन्दर वर्णवाला शरीर देखकर प्रसन्न नहीं होता अथवा अरुचिकर वर्णवाले शरीर को देखकर अप्रसन्न नहीं होता। वह जानता है कि रूप, रस, गन्धादि पुद्गल के धर्म हैं; आत्मा के धर्म नहीं; आत्मा तो निरञ्जन, निराकार, अरूपी, अतीन्द्रिय और स्वसंवेदनगम्य है॥६६॥

श्लोक - ६६ पर प्रवचन

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः॥ ६६॥

रक्त वस्त्र से नहीं गिनें, बुधजन तन को लाल।
रक्त देह से ज्ञानीजन, गिने न चेतन लाल॥ ६६॥

आहाहा! **टीका - जैसे - लाल वस्त्र पहिनने पर भी चतुर पुरुष, अपने को (अपने शरीर को) लाल नहीं मानता;...** आहाहा! उस समय लाल का ज्ञान हो, वह लाल का ज्ञान नहीं है। लाल वस्त्र तो नहीं, ऐसे शरीर लाल या सफेद-गोरा शरीर, उसे जानता हुआ ज्ञान, उस रक्त को—लाल को जानता है, ऐसा नहीं है। आबाल-गोपाल आता है न? १७-१८ (गाथा समयसार)। वास्तव में तो वह ज्ञान की पर्याय यह जानती है। क्योंकि उसके अस्तित्व में शरीर, लाल या राग यहाँ तो नहीं। यहाँ जो है, वह तो स्व-पर को जानने की ज्ञान की दशा का अस्तित्व है। यह पर को जानना, वह भी परसम्बन्धी अपने सामर्थ्य को जानना (होता है), ऐसा है। आहाहा!

भाई! यह मार्ग ऐसा है। यह तो धीर का मार्ग है। हो... हा.. और कूदना और यह और यह और यह... धमाधम... क्या कहा? चेतनजी! 'धामधूम से धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रहा दूर।' यशोविजय ने लिखा है।

जैसे - लाल वस्त्र पहिनने पर भी चतुर पुरुष, अपने को (अपने शरीर को)

लाल नहीं मानता; शरीर को लाल मानता है। इसी प्रकार अपनी देह, कुंकुमादि से लाल होने पर भी... परिवार आदि से लाल अर्थात् उसका रंग लाल हो। लाल, गेहूँवर्ण शरीर हो। **होने पर भी अन्तरात्मा, आत्मा को लाल नहीं मानता।** आहाहा! गेहूँवर्ण शरीर हो या गोरा शरीर, वह सब तो जड़ की अस्तित्व की दशा बताते हैं। उससे मैं लाल हूँ, ऐसा माने? लाल कपड़ा है, इसलिए मैं शरीर लाल हूँ, ऐसा माने? इसी प्रकार लाल शरीर है, इसलिए मैं लाल हूँ - ऐसा माने? आहाहा! लाल शरीर है, वह मैं—यह मिथ्याभ्रम असमाधि है। परन्तु लाल शरीर को जाननेवाले का अस्तित्व लाल शरीर के अस्तित्व से उसमें नहीं रहा हुआ अस्तित्व, वह भिन्न मेरा अस्तित्व है। आहाहा! गोरा शरीर, गोरे (अंग्रेज) जैसा शरीर। यह गोरा शरीर (होवे तो) आत्मा गोरा हो गया?

मुमुक्षु : आत्मा में रंग ही कहाँ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रंग कहाँ है। अरे! गोरे का ज्ञान है, वह गोरे के कारण कहाँ है? समझ में आया? गोरे के कारण गोरा तो नहीं, परन्तु गोरे का ज्ञान है, वह गोरे के कारण नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

देह, कुंकुमादि से लाल होने पर भी... ऐसा डाला। शरीर में कंकू डाला। यह नहीं डालते सब होली में? अन्तरात्मा आत्मा को लाल नहीं मानता। वह तो जड़ की दशा है। कंकू (गुलाल) तो ठीक परन्तु उसका शरीर का रंग है, वह तो जड़ की दशा है। उसके अस्तित्व में आत्मा का अस्तित्व कहाँ और आत्मा के अस्तित्व में लाल रंग का अस्तित्व कहाँ? आहाहा! अरे! यह लाल रंग का ज्ञान, उसके ज्ञान के अस्तित्व में यह लाल रंग का शरीर, ऐसा अस्तित्व है, इसलिए यहाँ ज्ञान अस्तित्व हुआ—ऐसा कहाँ है? आहाहा! मार्ग ऐसा है। अन्तर्मुख का मार्ग बहिर्मुख से मानकर लोग (भटक रहे हैं) और पर्याय में अल्पज्ञता की क्रीड़ा में इसका पूरा स्वभाव वस्तु है, जो एक समय की पर्याय में चीज़ नहीं आती, वह चीज़ जो है, वह मैं हूँ। इतना जो अस्तित्व—मौजूदगी है, (वह मैं हूँ)। वस्तु के स्वभाव की निरालम्ब पर्याय के अवलम्ब बिना की अथवा पर्याय के अस्तित्व बिना की... आहाहा! ऐसा जो अस्तित्व, वह कहीं लाल रंग के कारण नहीं है। तथा लाल का ज्ञान हुआ, इसलिए उसका-ज्ञान का अस्तित्व यहाँ

(है, ऐसा नहीं है)। यहाँ लाल का ज्ञान हुआ, इसलिए लाल के अस्तित्व से उसका ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। यह तो ज्ञान के अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व पर को और स्व को जानने का प्रगट हुआ है। समझ में आया? आहाहा!

अरे! इसकी जाति की क्या कीमत है, (उसकी दरकार नहीं की)। श्रीमद् में आता है न? जिनवाणी का माप करते हुए स्वयं का माप हो जाता है। आता है 'मापवाथी निजमति मपाय छे।' इतने उनके शब्दों (में) बहुत भाव! जिनवाणी का माप करते हुए... आहाहा! अर्थात् कि उसके कहे हुए स्वभाव का माप करते हुए मापने की पर्याय मप जाती है, उसकी हदवाली हो जाती है। आहाहा! क्या उनकी भाव की श्रेणी धारा! कथनश्रेणी भाषा ली है, परन्तु मूल तो चैतन्य की निर्मल श्रेणी धारा, क्या उसकी तेजता, उसकी प्रभावता! आहाहा! यह सब प्रभाव प्रगट हुआ है, वह पर को जाना, इसलिए प्रगट हुआ है—ऐसा नहीं है। जाननेवाले में जाननेवाले में से वह पर्याय प्रगट हुई है। आहाहा! भगवान आत्मा जाननेवाला है, वह जानने के स्वभाव में से जानने की पर्याय (प्रगट होती है)। स्व-पर को जानने की (पर्याय), वह पर को जानने की, इसका अर्थ वह तो परसम्बन्धी का अपना ज्ञान है। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा वह स्वयं लाल शरीर या लाल हूँ—ऐसा कैसे माने? अरे! लाल शरीर और लाल का ज्ञान हुआ, इसलिए लाल के कारण ज्ञान हुआ, ऐसा कैसे माने? आहाहा! यह तो मेरा स्वभाव ही ज्ञानस्वभाव है। मेरी सामर्थ्य के कारण स्व-परप्रकाश का सामर्थ्य है। मेरी अस्ति में से यह अस्ति आयी है। आहाहा! **अन्तरात्मा, आत्मा को लाल नहीं मानता।**

भावार्थ - जैसे - पहिने हुए लाल वस्त्र से शरीर लाल नहीं होता; इसी प्रकार अपना शरीर कुंकुमादि से लाल होने पर भी, आत्मा कहीं लालवर्ण का नहीं हो जाता। यह तो ठीक। यह तो रक्तवर्ण। शरीर ही रक्तवर्ण लाल होता है। लोग नहीं कहते? इसकी माँ का शरीर गेहूँवर्ण था तो इसका शरीर गेहूँवर्ण हुआ। ऐसा कहते हैं न? आहाहा! इसके पिताजी का शरीर गोरा था तो इसका गोरा हुआ। एक ही माँ के गर्भ से दो (बालक) हों। होता है न? माँ गेहूँवर्ण हो तो उसका गेहूँवर्ण शरीर (होवे), तो

कहे—माता के जैसा शरीर है, ऐसा कहे है तथा पिताजी गौरवर्ण शरीर हो तो उसी और उसी में उत्पन्न हुआ वह गौरवर्ण शरीर होता है। परन्तु वह तो शरीर की पर्याय हुई, उससे आत्मा कहाँ गौरवर्ण हो गया? आहाहा! वह तो जड़ की पर्याय हुई। उस जड़ की पर्याय से आत्मा जड़ पर्याय से गोरा हो गया? आहाहा! ऐसी बात! सरल धारा! केवलज्ञानी परमात्मा की धारा में यह प्रवाह आया है। वह यहाँ आचार्य समाधि का तत्त्व बतलाते हुए बताते हैं, भाई! मैं मुझसे हूँ, मेरा ज्ञान भी पर के कारण नहीं है—ऐसी दशा में उसे शान्ति और समाधि होती है। समझ में आया? उसमें उसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपी समाधि होती है। आहाहा!

जैसे - लाल वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; इसी तरह लालवर्णवाला शरीर... देखो! यहाँ लाल वर्ण (लिया)। **और आत्मा भी भिन्न-भिन्न हैं।** परमात्मप्रकाश में डाला है :

रत्ते वत्थे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु।
देहे रत्तिं णाणि तहैं अप्पु ण मण्णइं रत्तु॥ (२-१७८)

परमात्मप्रकाश में है। **आत्मा, रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्शरहित है...** नहीं वर्ण जीव को... है न? ५०वीं (गाथा समयसार)। वहाँ तो अभी कहा नहीं था? 'नहीं विशुद्ध-संक्लेश-परिणाम जिसे... मेरी अनुभूति से भिन्न है' क्योंकि द्रव्य से तो भिन्न, वह बाद में। परन्तु द्रव्य पर दृष्टि जाने से जो अनुभूति हुई, उससे भी शुभपरिणाम से भिन्न है। आहाहा! अब यह शुभपरिणाम भिन्न हो, उससे धर्म होगा, लाभ होगा, (ऐसा अज्ञानी को मनवाना है)। भारी गड़बड़, भाई! गहरे-गहरे मिथ्यात्व की शल्य पड़ी है न! यहाँ तो यह कहा—विशुद्ध और संक्लेश परिणाम अनुभूति से भिन्न हैं। चौदह गुणस्थान के भाव अनुभूति से भिन्न है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे तो भिन्न है परन्तु लब्धिस्थान जो कहा, ऐसा आया न?

मुमुक्षु : संयम लब्धिस्थान...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उनसे अनुभूति अभेद है, वह भिन्न है। आहाहा! क्या

सन्तों की शैली! क्या रचना सिद्धान्त की! क्या स्वभाव की रचना को सिद्ध करने की युक्ति और तर्क!! आहाहा!

मुमुक्षु : युक्ति, आगम और अनुभव।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब (आ गया)।

आत्मा रसरहित, रंगरहित, गन्धरहित। **स्पर्शरहित है...** आहाहा! **तथापि शरीर के साथ एकताबुद्धि होने से अज्ञानी, शरीर का जैसा वर्ण होता है, वैसे वर्ण का अपने को (आत्मा को) भी मानकर, राग-द्वेष करता है।** आहाहा!

ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान है;... धर्मी को राग से और पर से ज्ञानानन्दस्वभाव भिन्न है, ऐसा भान है। भिन्न है, ऐसा भान है। **इसलिए उसको शरीर के किसी भी वर्ण से राग-द्वेष नहीं होता...** मैं शरीर से रूपवान, लोग मुझे देखे और देखने लायक मेरी शरीर की स्थिति, कोमलता है। लोगों की आँख ठहरती है, ऐसा अज्ञानी मानता है। समझ में आया?

भगवान की भक्ति का विकल्प आवे और निर्विकल्प ज्ञान भी वर्ते। उसमें आया है न, स्तुति में नहीं आया था? ऋषभदेव की स्तुति। प्रभु! यह दो हाथ जोड़कर पैर छूते हैं आपको, उसमें से तो मैं ऐसा मानता हूँ—एक तो अनुभूति की परिणति वहाँ खड़ी है और एक विकल्प खड़ा है। ये दो हैं। एक विकल्प का फल अनुकूल संयोग मिलेगा और निर्विकल्प परिणति तो वहाँ वेदन में आती है। आहाहा! ऋषभ स्तुति में (आया था) भोपाल में की थी, नहीं? भोपाल में की थी। पश्चात् दूसरी यहाँ ली थी, कोटा... कोटा में ली थी। वहाँ लाये थे। कागज लाये थे।

यह दो हाथ जोड़ते हैं, इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ, प्रभु! धर्मात्मा की दृष्टि की निर्मलता तो है, उसका फल वहाँ निर्मलता है; तथा एक दूसरा विकल्प उठता है, उसका फल संयोग की अनुकूलता है। संयोगीभाव का फल संयोग आयेगा। स्वभावभाव का फल वहाँ आनन्द और शान्ति आयेगी। समझ में आया? संयोगीभाव कहा है न? भक्ति आदि का भाव संयोगीभाव है; स्वभावभाव नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : संयोगभाव लक्ष्यी कहे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह कहाँ है वस्तु?

कहते हैं, अज्ञानी शरीर का जैसा वर्ण हो, वैसे वर्ण का आत्मा को भी मान बैठता है और फिर राग-द्वेष करता है। आहाहा! मेरा सुन्दर शरीर रूपवान। अरे! तेरे रूप की क्या बात करना! भाई! तेरा रूप तो अन्तर (में) है। भगवान का शरीर देखने के लिये इन्द्र हजार नेत्र करता है। उसे देखने का विकल्प है, वह दुःखरूप है। बाहर से तो ऐसे हर्ष मनावे, माने... प्रभु तो ऐसा का ऐसा है। इन्द्र सम्यग्दृष्टि है। ऐसे देखता है तो वह मानो प्रसन्न होता है, ऐसा माने। परन्तु अन्दर में राग होता है, वह दुःख है।

मुमुक्षु : झुकाव होता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राग स्वयं है न। यह झुकाव हुआ, वह स्वयं राग है। आहाहा! ऐसे तो हर्ष मनावे। भगवान का जन्म (हुआ है)। माता-पिता इकट्ठे हों, सभा भरे। नृत्य करता है न? क्या कहलाता है वह?

मुमुक्षु : देवियाँ नाचती हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं, वह नहीं, ताण्डव... ताण्डव, ऐसी कोई भाषा है। देव... परन्तु यह क्रिया झांझर और उसकी क्रिया जड़ और वाणी की निकले, उसकी महिमा, वह भी जड़। उसमें विकल्प उठा है, वह भी वास्तव में तो... है। दुःख है। आहाहा! सहजानन्दस्वभाव से विरुद्ध भाव, वह जीव की शुद्धि को मदद कैसे करे? समझ में आया? इन लोगों को निमित्त से होता है और व्यवहार शुभ से शुद्ध होता है तथा क्रमबद्ध नहीं है। इन पाँच का विवाद है। आहाहा! यह विवाद। गाँव-गाँव में जब प्रश्न व्यक्तिगत उठे तो उन्हें ऐसे उठे। बाहर से बहुत बोल न सके। आहाहा!

धर्मी को—**ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान है; इसलिए उसको शरीर के किसी भी वर्ण से राग-द्वेष नहीं होता...** गोरा, इसलिए ठीक है और काला, इसलिए ठीक नहीं। कुबड़ा शरीर काला हो, शीतला के दाने निकले, शीतला (चेचक) निकली हो, फिर सूख जाए तो वे दाग रहते हैं, इसलिए मैं खराब हूँ—ऐसा नहीं मानता तथा उनके प्रति द्वेष नहीं होता। यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा! **इसलिए उसको शरीर के किसी भी वर्ण से राग-द्वेष नहीं होता अर्थात् वह अपना या पर का सुन्दर वर्णवाला**

शरीर देखकर प्रसन्न नहीं होता... आहाहा! **अथवा अरुचिकर वर्णवाले शरीर को देखकर अप्रसन्न नहीं होता।** शरीर बिगड़ा हुआ हो, कीड़े पड़े। आहाहा! वह तो शरीर की दशा है। इससे उसे द्वेष नहीं होता कि ऐसा कैसे? परन्तु यह जड़ की अवस्था है, ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञेय के दो भाग करना कि यह ठीक, यह ठीक नहीं—ऐसा नहीं है। अस्थिरता की वृत्ति उठे, वह अलग वस्तु है। समझ में आया? **अरुचिकर वर्णवाले शरीर को देखकर अप्रसन्न नहीं होता। वह जानता है कि रूप, रस, गन्धादि पुद्गल के (स्वभाव) धर्म हैं;....** आहा! 'रजकण या ऋद्धि वैमानिकदेव की, सबको जाना पुद्गल एक स्वभाव।' **वह जानता है कि रूप, रस, गन्धादि पुद्गल के स्वभाव—धर्म हैं;...** धर्म अर्थात् स्वभाव। आत्मा का धर्म नहीं—आत्मा का वह स्वभाव नहीं। आहाहा! **आत्मा तो निरञ्जन, निराकार,...** जड़ का कोई आकार नहीं, **अरूपी, अतीन्द्रिय और स्वसंवेदनगम्य है।** आत्मा तो निरंजन—अंजन—मैल-वैल रहित चीज़ है। निराकार, जिसे शरीर का आकार नहीं। अरूपी है। वह तो रूपरहित चीज़ है। आहाहा! कर्म के सम्बन्ध से उसे रूपी कहो, यह तो सम्बन्ध का ज्ञान कराते हैं। रूपी, वह तो रूपी ही है। प्रवचनसार में आता है। अमूर्त का अमूर्त गुण है। ऐसा कहा है कि अमूर्त को मूर्त है? दोनों को भिन्न किया नहीं? द्रव्यरूप से गिनकर फिर मूर्त और अमूर्त दो भिन्न किये हैं। अमूर्त द्रव्य के अमूर्त गुण और अमूर्त पर्याय।

आत्मा तो निरञ्जन, निराकार,... निराकार शब्द से प्रदेशत्वगुण के कारण आकार है, उसका यहाँ निषेध नहीं है। आकाश, वह भी आकारवाली चीज़ है। सर्वव्यापक, कहीं भी अन्त नहीं, तो उसे भी प्रदेशत्वगुण के कारण आकार है। वस्तु की स्थिति ही कोई अलौकिक है! आकाश सर्वव्यापक, तथापि उसे आकार है, कहते हैं। पर का आकार नहीं। आकार उसका कद ऐसा, कद ऐसा है। आहाहा! प्रदेशत्वगुण के कारण से आता है या नहीं? यहाँ तो शरीर और वाणी का आकार, उस आकार से आकार नहीं है। परन्तु अपना कद जितने में है, उतना आकारवाला तो वह है। आहाहा! सर्वव्यापक आकाश को भी आकार है। आहाहा! क्या बात यह तो!

श्रोता : आकाश की हद आ गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हद ज्ञान में आयी, वहाँ हद नहीं है। अनहद को अनहद से जाना है। आहाहा! एक वस्तु की स्थिति तो देखो! कितनी आश्चर्यकारी वस्तु! एक ओर अरूपी आकाश, यहाँ अरूपी भगवान, उसे आकार नहीं, ऐसा कहना, तथापि प्रदेशत्वगुण के कारण उसे व्यंजनपर्याय का आकार होता है। आहाहा! उसके अस्तित्व में वह आकार है। शरीर के अस्तित्व का आकार उसमें नहीं है। इस अपेक्षा से निराकार कहा। अरूपी अतीन्द्रिय। आहाहा! और स्वसंवेदनगम्य। यह तो अपने ज्ञान के प्रत्यक्ष के अनुभव में गम्य है। परोक्षरीति से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। उसका स्वरूप ही स्वसंवेदनगम्य है। उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। यह ६६ हुई, ६७ लेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ६७

एवं शरीरादिभिन्नमात्मानं भावयतोऽन्तरात्मनः शरीरादेः काष्ठादिना तुल्यताप्रतिभासे मुक्तियोग्यता भवतीति दर्शयन्नाह -

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः॥ ६७॥

यस्यात्मनः सस्पन्दं परिस्पन्दसमन्वितं शरीरादिरूपं जगत् आभाति प्रतिभासते। कथम्भूतं? निःस्पन्देन समं निःस्पन्देन काष्ठपाषाणादिना समं तुल्यं। कुतः येन तत्समं? अप्रज्ञं जडम-चेतनं यतः। तथा अक्रियाभोगं क्रिया पदार्थपरिस्थितिः भोगः सुखाद्यनुभवः तौ न विद्येते यत्र यस्यैवं तत्प्रतिभासते स किं करोति? स शमं याति शमं परमवीतरागतां संसारभोगदेहोपरि वा वैराग्यं गच्छति। कथम्भूत शमं? अक्रियाभोगमित्येतदत्रापि संबंधनीयम्। क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः। भोग इन्द्रिय-प्रणालिकया विषयानुभवनं विषयोत्सवः। तौ न विद्येते यत्र तमित्थम्भूतं शमं स याति। नेतरः तद्विलक्षणो बहिरात्मा॥६७॥

इस प्रकार शरीरादि से भिन्न आत्मा की भावना करनेवाले अन्तरात्मा को शरीरादि, काष्टादि समान प्रतिभासित होने पर, मुक्ति की योग्यता होती है — ऐसा बताकर कहते हैं —

स्पंदित जग दिखता जिसे, अक्रिय जड़ अनभोग।
वही प्रशम-रस प्राप्त हो, उसे शान्ति का योग॥ ६७॥

अन्वयार्थ - (यस्य) जिस ज्ञानी पुरुष को (सस्पन्दं जगत्) अनेक क्रियाएँ-चेष्टाएँ करता हुआ (शरीरादिरूप) जगत, (निःस्पन्देन समं) निश्चेष्ट काष्ठ-पाषाणदि के समान (अप्रज्ञं) चेतनारहित जड़ और (अक्रियाभोगं) क्रिया तथा सुखादि अनुभवरूप भोग से रहित (आभाति) मालूम होने लगता है, (सः) वह पुरुष (अक्रियाभोगं शमं याति) जिसमें मन-वचन-काय की क्रिया से और इन्द्रिय विषय भोग से रहित है, (इतरः न) उससे विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव, उस शान्ति-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। परमवीतरागतामय उस शान्ति-सुख का अनुभव करता है।

टीका - जिस आत्मा को (ज्ञानी आत्मा को) सस्पंद अर्थात् परिस्पंदनयुक्त (अनेक क्रियाएँ करता) शरीरादिरूप जगत् लगता है-प्रतिभासित होता है। कैसा (जगत्) ? निःस्पंद (निश्चेष्ट) समान अर्थात् काष्ट-पाषाणादि समान अर्थात् तुच्छ। निःस्पंद (निष्चेष्ट)। किससे इस समान (भासता है) ? कारण कि वह चेतनारहित जड़-अचेतन है तथा अक्रिया भोग अर्थात् क्रिया / पदार्थों की परिणति और भोग / सुखादि अनुभव — इन दोनों का जिसमें अभाव है, ऐसा वह (जगत्) जिसको प्रतिभासता है; वह क्या करता है ? वह शान्ति पाता है। अर्थात् शम / परम वीतरागता अथवा संसार, भोग और देह के प्रति वैराग्य-उसको पाता है। कैसी शान्ति ? यहाँ भी उसके (शम के) साथ अक्रियाभोग का सम्बन्ध लेना। क्रिया अर्थात् मन-वचन-काय का व्यापार और भोग, अर्थात् इन्द्रियों की प्रणालिका से (इन्द्रियों द्वारा) विषयों का अनुभवन अर्थात् विषयोंत्सव-ये दोनों जिसमें विद्यमान न हों — ऐसी शान्ति को वह पाता है; अन्य कोई नहीं अर्थात् उससे विपरीत लक्षणवाला बहिरात्मा (वैसी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता)।

भावार्थ - जिसको शरीरादिरूप जगत्, काष्ट-पाषाणादि तुल्य अचेतन-जड़ और निष्चेष्ट भासित होता है अर्थात् परिणमनरूप क्रिया से और सुखादि अनुभवरूप भोग से रहित प्रतिभासता है, वह ऐसी परम वीतरागतारूप शान्ति को पाता है, कि जिसमें मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का तथा इन्द्रिय के विषय-भोग का अभाव होता है। अज्ञानी-बहिरात्मा ऐसी शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस समय अन्तरात्मा, आत्मस्वरूप की भावना करते-करते स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उस समय उसको यह जड़ क्रियात्मक-प्रवृत्तिमय जगत् की ओर का लक्ष्य छूट जाता है और वह परम वीतरागता को प्राप्त होकर, निर्विकल्प निराकुल आनन्द का अनुभव करता है॥६७॥

ज्येष्ठ कृष्ण ११, शुक्रवार, दिनांक ०४-०७-१९७५, श्लोक-६७, प्रवचन-८०

यह सिखाया नहीं। यह साधु। ऐई ! त्रस या स्थावर ? बहुत वर्ष की बात है। ७६। मोहनलालजी नहीं वह लींबड़ी के अन्दर ? उनके निकट दीक्षा ली थी। वीरमगाम का

वृद्ध था। फिर उसे मिलान नहीं खाया तो अकेला रहता था। क्योंकि वस्त्र धोने के लिये दिये और उसमें कोई मिलान नहीं खाया तो अकेला रहता था। आहाहा! क्या यह उन लोगों को! कहा। कहा, यह सामायिक अथवा साधुपना यह त्रस होगा या स्थावर? गुरु ने सिखाया नहीं, कहे। अब यह साधु होकर बैठे। आहाहा! अभी वस्तु... जाननेवाला-जाननेवाला धर्म करनेवाला... वह धर्म करनेवाला कितना कहाँ कैसे है? इसकी जिसे खबर नहीं, उसे धर्म कहाँ से हो? आहाहा!

जाननेवाले को जाना नहीं और दूसरी सिरपच्ची की, सुजानमलजी! यह ऐसा सब किया वहाँ सादडी में? आहाहा! यह यहाँ कहते हैं। शान्ति सम अर्थात् परमवीतरागता। आहाहा! पर की चेष्टाओं का जहाँ लक्ष्य जाने पर लक्ष्य छोड़ देता है। उसमें मैं नहीं, वह मुझमें नहीं। इसलिए उसकी दृष्टि चैतन्य ज्ञायकस्वभाव वस्तु, उस पर ढलने से उसे शान्ति होती है, वीतरागता होती है। वह वीतरागता होती है, वह धर्म है। आहाहा! और वह वीतरागता हुई, उसकी मूल मुद्रा-छाप क्या है उसकी? अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, वह उसकी मुद्रा-छाप है। अनुभव में आनन्द का स्वाद आना, उसकी प्रधानता है। आहाहा! समझ में आया?

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा न? कि मैं मेरे निजवैभव से समयसार कहूँगा। मेरा निजवैभव अर्थात्? प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप ऐसा जो मेरा निजवैभवस्वरूप, जिसकी... आहाहा! निरन्तर झरता हुआ सुन्दर सुख, वह जिसकी छाप है। जबकि पर के ऊपर का लक्ष्य था, तब तो राग का वेदन। पर्याय के ऊपर लक्ष्य किया तो भी राग का वेदन। उस वेदन की ओर से पर का लक्ष्य का छोड़ दिया। आहाहा! और जहाँ स्वभाव के आश्रय में जहाँ आया, वहाँ तो उसे वेदन पलट गया। यह यहाँ कहते हैं।

परम वीतरागता। उत्कृष्ट बात ली है न? ज्ञाता-दृष्टा के भाव में वीतरागता बहती है। पर पूरा जगत कम्पन और चेष्टावाला जड़ है। भगवान की वाणी, वह भी जड़, भगवान का शरीर जड़। आहाहा! समवसरण की रचना सब जड़ की। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान जड़....

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर जड़ कहा न! भगवान अन्दर है, उसकी तो दृष्टि नहीं।

वह तो अपनी दृष्टि जब शरीर से, राग से भिन्न पड़कर जाने, तब वे दूसरे भगवान अन्दर हैं, (ऐसा) उनका देह से भिन्न ज्ञान इसे सच्चा होता है। आहाहा! अपनी पर्यायबुद्धि जाकर द्रव्यबुद्धि हो, वह दूसरे को द्रव्यरूप से देखता है कि यह भगवान आत्मा अन्दर केवलज्ञानी है। आहाहा! ऐसा स्वरूप! आहाहा!

'**अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति**' ऐसा है। वापस '**अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति**' दो शब्द लिये हैं न? '**अप्रज्ञमक्रियाभोगं**' भोग से रहित है और '**अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति**' ऐसा लिया है वापस। आहाहा! '**अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति**' राग की क्रियारहित और राग के अनुभवरहित अन्तर आत्मा के अनुभव की क्रिया होती है, वह वीतरागी पर्याय होती है। आहाहा! कैसी शैली ली है!

भगवान अन्दर अकषायस्वरूप विराजमान है। वीतरागस्वरूप ही विराजमान है आत्मा। आहाहा! चारित्रस्वरूप है न गुण! वीतरागस्वरूप प्रभु ज्ञानस्वरूप है, श्रद्धास्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। वह कोई भी गुण से लो तो वह आत्मस्वरूप ही है। तो ऐसे स्वरूप में पर की चेष्टा की दृष्टि छोड़कर; यहाँ तो भगवान की वाणी और भगवान को भी इन्द्रिय कहा। वह इन्द्रिय है। वह अणीन्द्रिय नहीं। आहाहा! समझ में आया? जड़ इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय और उसका विषय, वह सब तीनों इन्द्रिय। आहाहा! ऐसे जड़ सब वाणी-बाणी भगवान कहते हैं कि वह इन्द्रिय है। उसकी चेष्टा और उसका आचरण जो जड़ का, उसकी ओर से लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा! वाणी का सुनना और भगवान को देखना, वह भी छोड़ दे, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : भगवान को देखना भी छोड़ दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ दे। भगवान अर्थात् उनका शरीर। वहाँ भगवान कहाँ वे? गाजता है नहीं? आहाहा!

'अप्रज्ञमक्रियाभोगं' संसार, भोग और देह के प्रति वैराग्य-उसको पाता है। आहाहा! संसार का उदयभाव, उसका भोग और देह—तीन से धर्मी जीव को पर से दृष्टि बदल जाती है, इसलिए वैराग्य पाता है। वैराग्य की व्याख्या वह ऐसी नहीं कि पर को छोड़ा, इसलिए वैरागी। मात्र पर की ओर के लक्ष्य को छोड़ देता है और स्व के

आश्रय में आता है, उसे यहाँ वैराग्य कहा जाता है। आहाहा! जैन परमेश्वर का परमसत्य।

कहते हैं कि संसार का उदयभाव, उसका भोग, उदय का करना और उसका भोगना और शरीर—इनसे वैराग्य पाता है। राग के पुण्य के भाव का करना और उसका भोगना, उससे भी दृष्टि हट जाती है। इसलिए उससे उसे वैराग्य है, ऐसा कहते हैं। इतना वैराग्य, उससे हटा, ऐसा नहीं, अन्दर में दृष्टि पड़ी, इसलिए यहाँ से हट गया है। उसे वैराग्य कहा जाता है। समझ में आया?

संसार, भोग और देह के प्रति वैराग्य। परम वीतराग समूह को पावे, कहा न? सम् पाता है अर्थात् वीतरागता को पाता है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त में। समाधि कहो या धर्म कहो। समाधि कहो या मोक्ष का मार्ग कहो। समाधि कहो या वीतराग की वीतरागी पर्याय कहो। आहाहा! वह कब पाता है? कि परसन्मुख के भाव की जड़ आदि की चेष्टा के अस्तित्व का लक्ष्य छोड़कर पूरा जगत जड़ है। इसलिए उसका आश्रय अथवा लक्ष्य छोड़कर स्वभावसन्मुख जाता है, इसलिए उसे पर से वैराग्य होता है।

मुमुक्षु : राग से हटकर।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे पर से वैराग्य होता है। वह वैराग्य है।

पुण्य-पाप के अधिकार में आयेगा। पुण्य-पापरहित होना, वह वैराग्य है, शुभाशुभभावरहित होना, वह वैराग्य है। पुण्य-पाप के अधिकार में आयेगा। आहाहा!

चैतन्य के पूर्ण स्वभाव में आने पर—यह अस्ति हुई। उन पुण्य-पाप के विकल्प से हट जाता है। ज्ञान और वैराग्य दो शक्ति चलती है न? निर्जरा अधिकार में नहीं? समझ में आया? आहाहा! ज्ञान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप का ज्ञान और पुण्य-पाप के परिणाम से विरक्तता, उसका नाम वैराग्य। ऐसा धर्मी को होता है। आहाहा! अज्ञानी बाहर से मान ले कि दया की, व्रत पालन किये, भक्ति की, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

राग की क्रिया को धर्म माना। आहाहा! और देह की चेष्टा जो कुछ दया पालने में रही या हिंसा में न गयी, विषय की क्रिया में, भोग की क्रिया में न गयी शरीर की

क्रिया, इससे मानो कि मैंने ब्रह्मचर्य पालन किया, यह अज्ञानी का मिथ्याभ्रम है। आहाहा! उसें जो शुभभाव हो, शरीर से ब्रह्मचर्य पालने का, वह भी विकार है, दोष है। आहाहा! उससे हटकर जिसमें राग नहीं अर्थात् कि जिसमें वीतरागता पड़ी है।

जिसका—भगवान आत्मा का स्वरूप तो वीतराग जिनस्वरूप है, उसकी दृष्टि होने पर उसे समता प्रगट होती है। पुण्य और पाप का प्रेम था, वह छूट जाता है। सम्यग्दृष्टि (पूर्व में) पुण्य और पाप में भाग करता था कि यह पुण्य ठीक है और पाप ठीक नहीं। वह दृष्टि पर से छूट जाता है। आहाहा! तब उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। अखण्डानन्द प्रभु सच्चिदानन्द सिद्ध समान स्वरूप जो सर्वज्ञ ने देखा और कहा। आहाहा! उसमें दृष्टि जाने पर उसे शान्ति होती है। आहाहा! यह शान्ति हुई, वह धर्म है। आहाहा! भारी कठिन काम। यह धमाधम। यात्रा और धमाधम।

यह तीन महीने यात्रा नहीं की? कितने लोग! कितने लोग इकट्ठे होते थे! रात्रि के बारह-बारह बजे तक वहाँ...

मुमुक्षु : भोपाल में....

पूज्य गुरुदेवश्री : देरी से आये होंगे। अहमदाबाद में भी देरी से आये थे या नहीं कुछ? बाबूभाई को जूनागढ़ से। साढ़े दस। वहाँ जूनागढ़ से आया था न? राजकोट होकर। जूनागढ़ थे न हम? वहाँ थे न? वहाँ से राजकोट और वहाँ से अहमदाबाद।उसमें धर्म कहाँ आया?

मुमुक्षु : इतनी बड़ी प्रभावना हुई और धर्म कौन सा?

पूज्य गुरुदेवश्री : करे, वह तो लोग बाहर से। आहाहा! वह सब बाहर की चेष्टायें जड़ की हैं। क्या कहलाता है वह? बस-बस धर्मचक्र किया था न? बहुत शोभा की थी। लाख रुपये। वहाँ जूनागढ़ में दूसरे दिन निकला, व्याख्यान के बाहर देखा तो वहाँ आकर खड़ा रहा वह धर्मचक्र। दूसरे दिन। तीज, माघ शुक्ल दूज को गये थे न वहाँ? दोपहर में व्याख्यान। तीज के सवेरे। महाराज यहाँ बैठो। बाहर निकले बराबर और व्याख्यान में जाना था तलेटी में, वहाँ वह धर्मचक्र (आया)। अरे! यह क्रियायें सब पर की हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : वह हुए बिना रहती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : होती है, वह उसके कारण से होती है, उसमें आत्मा को क्या है? आत्मा करे तो होती है, ऐसा है? शरीर का हिलना, चलना, बोलना वह तो उसकी क्रिया उसके काल में, उसका जन्मक्षण है, वह जड़ की उत्पत्ति होती है। आहाहा! उससे दृष्टि हटाकर दृष्टि को दौलत बतावे अन्दर आत्मा। आहाहा! तब उसे शान्ति हो, वीतरागता हो, उसे यहाँ धर्म और समकित कहने में आता है। आहाहा! चन्दुभाई! और उसमें भी एक तो पूरी रात चलना और दिन को यात्रा, इसका किसी ने विचार नहीं किया।

मुमुक्षु : बड़े क्यक्ति के साथ में चलना।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़े व्यक्ति के साथ ऐसा। यह तो मार्ग प्रभु! ऐसा है न। आहाहा! रात्रि में पूरी रात चले तो रात्रि के आठ बजे से, नौ बजे से, दो बजे, तीन बजे तक, पंचेन्द्रिय जीव के कच्चरघाण हो जाये। कहो, जेठाभाई! धर्म हो जाये या नहीं? भाई! यहाँ तो ऐसी बात है। यहाँ का व्यक्ति हो या पर का। यहाँ कहाँ? आहाहा! रात्रि का भाग नौ बजे के बाद प्राणी—सर्प, नेवला, गोह खुराक के लिये बाहर निकलते हैं। यह अन्धेरे में बस चले। स्थानकवासी, एकेन्द्रिय जीव को दुःख दे तो धर्म नहीं है (ऐसा)। वहाँ उसने मनाया। अब यहाँ इतना अधिक अतिरेक हो गया। भाई! मार्ग तो यह है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है। पूजा के समय भी एकेन्द्रिय के जीव की भी यतना रखना। मकान (मन्दिर) बने, उसमें भी यतना। ऐसा शब्द है। मोक्षमार्गप्रकाशक में है।

मुमुक्षु : जैन चरित्र?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह नहीं। यह तो यत्न की बात है। मोक्षमार्गप्रकाशक में। जैन चरित्र तो दूसरा है, वह मुनि का है।

यहाँ तो कहते हैं कि परचीज़ की जो क्रिया होती है, उसके ऊपर से दृष्टि हटा

दे। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! चाहे तो सम्मेदशिखर पर शरीर चले ऐसे एकदम। पहला तो भाई! विरोध किया था एक बार। शान्तिसागर गये थे न सम्मेदशिखर! कुछ सुना था कहीं ऐसा? कि उसमें ईर्यासमिति नहीं पलती। इसलिए बहुत ऊँचे जाना, एकदम शीघ्रता से चले। ईर्यासमिति नहीं पलती वहाँ। यह (बात) आयी थी। आयी थी। यह आयी थी। यह भाई ने कहा था बंशीधरजी ने। बात सच्ची है। आहाहा!

इतने अधिक ऊँचे जाना पड़े और एकदम जाये तो चले, अब उसमें नीचे कीड़ी, कौन कहाँ जीव-जन्तु। यह तो वीतराग का मार्ग है, भाई! उसे राग और यह बाहर की चेष्टा से धर्म हो जाये, ऐसा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं न, वह बाह्य की चेष्टा है, वह सब जड़ जैसी चेष्टा है। आहाहा! हिलना, चलना और बोलना वह सब... आहाहा!

मुमुक्षु : धर्मचक्र की क्रिया हुई, वह सब जड़ की?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर की तो जड़ की थी तो क्या था?

मुमुक्षु : महावीर का सन्देश।

पूज्य गुरुदेवश्री : महावीर का सन्दश बोलता था वह अन्दर बाबूभाई के छोटा बाबूभाई। प्रवचन चलता था आधे-आधे घण्टे, घण्टे भर। सुनता था। परन्तु अब इस बात में जरा...

धर्म वह कहीं बाहर की चेष्टा से नहीं तथा बाहर की चेष्टा के ऊपर जाने से भाव, वह तो शुभभाव है। यात्रा का भाव होना, वह तो शुभभाव है। वह कहीं धर्म नहीं। भारी कठिन काम।

मुमुक्षु : इसलिए स्थानकवासी यात्रा का निषेध करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यात्रा कौन सी? वह तो क्या अपेक्षा है? यह जानते नहीं, एकान्त नहीं है। ऐसा शुभभाव आता है। वह चेष्टा तो जड़ की होनी हो, उस काल में होती है। उस पर उसका जोर नहीं होता। आहाहा! बीच में ऐसा शुभभाव अशुभ से बचने के लिये अथवा कालक्रम में वह भाव आता है। वह न ही आवे तो यह बात भी झूठी है और उसे धर्म मानना, यह दूसरी झूठी बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : .... निष्ठापूर्वक....

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर शुभ को धर्म मानो तो मिथ्यात्व होकर क्या हुआ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वह सब जड़ की चेष्टाओं से लक्ष्य छोड़ दे और चेष्टा की ओर के भाव होते हैं, उससे भी लक्ष्य छोड़ दे। ऐसी बात है। तो तुझे संसार, भोग और देह से तुझे वैराग्य होगा। आहाहा! शान्ति होगी। **कैसी शान्ति? यहाँ भी उसके (शम के) साथ अक्रियाभोग का सम्बन्ध लेना। क्रिया अर्थात् मन-वचन-काय का व्यापार...** यह यहाँ लिया। वाणी, काय, मन का व्यापार यह क्रिया, भोग अर्थात् इन्द्रियों की प्रणालिका से अर्थात् उनके द्वारा से **विषयों का अनुभवन अर्थात् विषयोत्सव...** आहाहा! विषय का उत्साह। **ये दोनों जिसमें विद्यमान न हों...** आहाहा! **ऐसी शान्ति को वह पाता है;...** उसे वीतरागी धर्म कहा जाता है। आहाहा!

विषयों का अनुभवन अर्थात् विषयोत्सव... विषय-उत्सव। ठीक। आहाहा! **'अक्रिया-भोगमित्येतदत्रापि सम्बंधनीयम्। क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः। भोग इन्द्रियप्रणालिकया विषयानुभवनं विषयोत्सवः।'** शब्द पड़ा है। आहाहा! विषय का यह उत्सव है। आहाहा! शुभ-अशुभराग का विषय का यह उत्सव है। वे कहते हैं कि पूजा में यह है। पूजा में विशुद्धभाव है। परन्तु विशुद्धभाव अर्थात् स्वयं शुभ है, राग है। वह तो संक्लेश की अपेक्षा से विशुद्ध कहा। विशुद्ध का अर्थ वहाँ शुद्धता की विशुद्धता, यह कुछ नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा तो अनुभूति के अन्तर के सन्मुख जाने पर अनुभूति हो, उससे तो शुभभाव भिन्न है। यह तो अन्तर का मार्ग, बापू! वीतरागस्वभाव से चैतन्यस्वरूप का 'जिन सो ही यह आत्मा, अन्य सो ही यह कर्म, यही वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म।' विषयोत्सव। आहाहा! इन्द्रियों द्वारा विषयों का अनुभव। अर्थात् परसन्मुख के लक्ष्यवाले राग का अनुभव। आहाहा! इन दो का जिसमें विद्यमान न हो, ऐसी शान्ति को पाता है। क्योंकि भगवान आत्मा अकषायरस स्वरूप है। चारित्र की अपेक्षा से अकषाय। ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञानरस। ऐसा जो अकषायस्वभाव, उसे पर का आश्रय छोड़कर उसके आश्रय में जाये तो उसे अकषायभाव हो, उसे यहाँ शान्ति कहते हैं।

अकषायभाव वस्तु है, उसमें एकाग्र हो, तो अकषायभाव पर्याय में प्रगट हो। आहाहा! ओहो! वीतराग सर्वज्ञदेव ने तो पूर्ण स्वभाव का आश्रय लेकर वीतरागता प्रगट की है। अब उन्हें आश्रय लेना रहा नहीं। हो गया। आहाहा! पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा के अवलम्बन में जाने से वीतरागता होती है। पर के अवलम्बन में जाने से राग होता है। आहाहा!

मन-वचन-काय का व्यापार... यह क्रिया। **भोग, अर्थात् इन्द्रियों की प्रणालिका से (इन्द्रियों द्वारा) विषयों का अनुभवन अर्थात् विषयोंत्सव-ये दोनों जिसमें विद्यमान न हों—ऐसी शान्ति को वह पाता है;...** आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति / चारित्र—ये तीनों स्वभाव के आश्रय से प्राप्त करते हैं। पर का आश्रय और लक्ष्य छोड़ दे उसे। आहाहा! धर्मसिद्धान्त, यह पुस्तक अपने आयी थी पहले, नहीं? भाई की। माणेकचन्द की। यहाँ रखी थी वह? किसी ने रखी थी कल। जिल्दवाली है। थोड़ा बहुत कल पढ़ा था। ऐसा कि गोम्मटसार के हिसाब से कहने पर सम्यग्दृष्टि जीव बहुत थोड़े हैं, इसलिए छोटा धर्म करना। छोटा-छोटा। छोटा धर्म। राग की क्रिया, वह पुण्य, यह छोटा धर्म।

मुमुक्षु : राग की क्रिया, वह छोटा धर्म कहा था? वह तो अधर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य के भाव को धर्म शब्द एक प्रयोग किया है न? वह तो व्यवहार से बातें हैं। धर्म नहीं, उसे धर्म कहना, वह व्यवहार का वचन है। आहाहा!

ऐसी शान्ति को वह पाता है; अन्य कोई नहीं... अर्थात्? कि जिसे परसन्मुख का आश्रय छूटकर स्व का आश्रय पावे, उसे शान्ति प्राप्त होती है। दूसरा कोई नहीं। पर के आश्रय से रहनेवालों को शान्ति नहीं मिलती। आहाहा! **अर्थात् उससे विपरीत लक्षणवाला बहिरात्मा (वैसी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता)।** अर्थात्? बाह्य चीज़ जो देहादि की चेष्टा, रागादि का भाव, उसके ऊपर जिसका लक्ष्य है, 'वह मैं हूँ'—ऐसा बहिरात्मा। बहिर् अर्थात् उसकी चीज़ में वह नहीं। उसे अपनी माने, उसे ऐसी शान्ति नहीं होती। आहाहा! बहिर् चीज़ जो है रागादि से लेकर सब बाह्य पदार्थ, उनका लक्ष्य छोड़कर अन्तर स्वरूप भगवान अन्तरात्मा, अन्तरात्मा। आहाहा! जहाँ शुद्धस्वरूप पूर्ण है, वहाँ

उसे-पर्याय को झुकाने से वह शान्ति होती है, उस बहिरात्मा को ऐसी शान्ति नहीं होती। आहाहा! भले राग की मन्दता, दया, दान, व्रत, तप करे परन्तु सब अशान्ति है तो राग है। ऐसा मार्ग भारी कठिन! इसलिए कहे निश्चय। परन्तु निश्चय अर्थात् सत्य यही है।

मुमुक्षु : व्यवहार से....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार तो निश्चय से भान हुआ उसे राग आवे, उसे व्यवहार धर्म का उपचार किया जाता है। धर्म दो प्रकार के नहीं हैं; धर्म एक ही है।

मुमुक्षु : यह प्रथम करनेयोग्य है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला यह ही है। करने का यह ही है और यही इसकी शुरुआत है। आहाहा! यह दूसरा फिर स्थिर होने का यह। आहाहा! ऐसा मार्ग अनन्त काल से इसे खबर नहीं। आहाहा!

अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान;
सेवे नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह समझे तब न? आहाहा! ऐसा विकल्प आवे, वह अलग बात है। निश्चय से स्वयं अपने स्वभाव को गुरुरूप से जानकर जिसने जाना, तब दूसरे गुरु को आरोप दिया जाता है कि यह मेरे गुरु। ऐसी बात है।

भावार्थ - जिसको शरीरादिरूप... शरीर, वाणी, मन **जगत्, काष्ट-पाषाणादि तुल्य अचेतन-जड़ और निष्चेष्ट भासित होता है...** आहा! अर्थात् ज्ञान की चेष्टा कहाँ है, वह सब जड़ की चेष्टा है न? इसलिए जड़ की चेष्टा, (वह) निश्चेष्ट है ऐसा। **अर्थात् परिणमनरूप क्रिया से और सुखादि अनुभवरूप भोग से रहित प्रतिभासता है,...** यह जानने की क्रियारूप परिणमे, ऐसा। जाननेरूप आचरण। ऐसे परिणमन से अज्ञानी रहित है। जगत सुखादि से रहित है। आहाहा!

वह ऐसी परम वीतरागतारूप शान्ति को पाता है,... जिसे इस प्रकार पर का प्रतिभास—पर उसमें ज्ञान का आचरण और भोगना है ही नहीं उसमें, ऐसा उसका

प्रतिभास जिसके ज्ञान में होता है, वह ज्ञान **परम वीतरागतारूप शान्ति को पाता है,...** आहाहा! यह समझकर समाये उसमें। आता है न यह? श्रीमद् में आता है।

मुमुक्षु : समझकर समा जाये तो फिर उपदेशक को....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उपदेशक स्वयं ही है। स्वयं अपने को समझाता है और स्वयं उपदेशक। ऐसी बात है। बाहर के उपदेश को फिर निमित्तरूप से कहा जाता है। स्वयं अपने को समझाता है या नहीं? हे प्रभु! तू पूर्ण शुद्ध है, आनन्द है। ऐसे अस्तित्व (रूप) की श्रद्धा का ज्ञान कौन करता है? स्वयं।

मुमुक्षु : यह निर्णय स्वयं को।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निर्णय स्वयं को। उसे तब वह व्यवहार कहा जाता है।

मुमुक्षु : अन्तर में जाये वह निर्णय।

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्णय, वह अनुभव का निर्णय, वह निर्णय। आहाहा! मार्ग ऐसा, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर इन्द्र और गणधरों के समक्ष में भी यह था।

मुमुक्षु : समझे बिना...

पूज्य गुरुदेवश्री : सुने बिना निर्णय करे। सुना वह तो पर के ऊपर गया। पर का लक्ष्य है, पर के लक्ष्य से जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान भी कहीं आत्मा का नहीं है। व्यवहार ऐसा है। श्रीमद् में ऐसा आता है न! बारहवें गुणस्थान तक श्रुतज्ञान भावश्रुत है। उन्होंने डाला है धर्मसिद्धान्त फल में। उन्होंने। कैसे? माणेकचन्दजी। बारहवें गुणस्थान तक श्रुत का आधार है। अरे... भाई! वह तो श्रुतज्ञान होता है। अर्थात् कि प्रत्यक्ष केवलज्ञान नहीं, इस अपेक्षा से श्रुतज्ञान होता है। यह सुना हुआ है, इसलिए श्रुतज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। अन्दर भगवान आत्मा को सुना, अन्दर वेदन में आया। आहाहा!

नहीं कहा? समस्त जीवों ने इस बन्ध की कथा को अनन्त बार सुना है। निगोद के जीव निकले नहीं, उन्होंने सुना है, उसमें तो ऐसा आया। परिणमन है न? वह सुना है। आहाहा! सभी जीवों ने राग की कथा पूर्व में अनन्त बार सुनी है, ऐसा चौथी गाथा में है। परन्तु तो भी एकेन्द्रिय निगोद के जीव अभी बाहर निकले नहीं, उन्होंने सुना है?

इसका अर्थ कि राग का वेदन है, वह उसने सुना ही है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव,... शुभ-अशुभभाव तो हुआ ही करते हैं एकेन्द्रिय को। उसका उसने सुना हुआ है, वेदन है। सुना, परिचय और वेदन। परन्तु वह वेदन है तो श्रुत उसका हो गया, इसका अर्थ यह। आहाहा! परन्तु राग से भिन्न भगवान आत्मा और अन्तर पूर्ण स्वभाव से अभिन्न स्वभाववान, पूर्ण वीतरागस्वभाव से स्वभाववान अभिन्न है, यह बात तूने सुनी नहीं। आहाहा! सुनी उसे कहते हैं (कि), राग से रुचि छोड़कर स्वभाव सन्मुख जाये, उसने यह रागरहित की बात सुनी। समझ में आया? ऐसा मार्ग!

जिसमें मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का तथा इन्द्रिय के विषय-भोग का अभाव होता है। अज्ञानी-बहिरात्मा ऐसी शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। कषाय की मन्दता करे, पर से उदास आदि, परन्तु उसे शान्ति नहीं होती। आहाहा! यह अभी मिले थे न देवचन्दजी! जामनगर। ओळी की और शंखेश्वर में बहुत शान्ति। कहाँ शान्ति-बान्ति बापू! यह शान्ति। ऐसा कि श्रद्धा में अन्तर है न ऐसा। तुम्हारी श्रद्धा और हमारी श्रद्धा ऐसा। ऐसे के ऐसे लोग। आहाहा!

मुमुक्षु : समझकर समा गये और समझकर समा रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : रहे। यह तो सब वह का वह हुआ। यह शब्द आता है, खबर है। समझकर समा रहे अन्दर में। समझकर समा गये अन्दर में।

अज्ञानी-बहिरात्मा ऐसी शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। थोड़ा है। विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ६९

यद्यात्मनः स्वरूपमात्मत्वेन बहिरात्मानो न बुद्धयन्ते तदा किमात्मत्वेन ते बुद्धयन्ते इत्याह -

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः॥ ६९॥

तं देहात्मानं प्रपद्यन्ते। के ते? अबुद्धयो बहिरात्मानः। कया कृत्वा? स्थितिभ्रान्त्या। क्व? देहे। कथम्भूते देहे? व्यूहे समूहे। केषां? अणूनां परमाणूनां। किं विशिष्टानां? प्रविशद्गलतां अनुप्रविशतां निर्गच्छतां च। पुनरपि कथम्भूते? समाकृतौ समानाकारे सदृशा परापरोत्पादेन। आत्मना सहैकक्षेत्रे समानावगाहेन वा। इत्थम्भूते देहे वा स्थितिभ्रान्तिः स्थित्या कालान्तरावस्थायित्वेन एकक्षेत्रावस्थानेन वा भ्रान्तिर्देहात्मनोरभेदाध्यवसायस्तया॥६९॥

यदि बहिरात्मा, आत्मस्वरूप को आत्मपने नहीं जानते हों तो वे किसे आत्मपने जानते हैं? - वह कहते हैं —

अणु के योग-वियोग में, देह समानाकार।
एक क्षेत्र लख आतमा, माने देहाकार॥ ६९॥

अन्वयार्थ - (अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा जीव, (प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे) जो प्रवेश करते और बाहर निकलते हैं — ऐसे परमाणुओं के समूहरूप शरीर में (समाकृतौ) आत्मा, शरीर की आकृति के समानरूप में (स्थितिभ्रांत्या) (आत्मा) स्थित होने से अर्थात् शरीर और आत्मा एक क्षेत्र में स्थित होने से — दोनों को एक रूप समझने की भ्रान्ति से, (तम्) उस शरीर को ही (आत्मानं) आत्मा (प्रपद्यते) समझ लेते हैं।

टीका - वे देह को आत्मा समझते हैं। वे कौन? बुद्धिरहित बहिरात्मा। किससे (किसलिए ऐसा समझते है)? स्थिति की भ्रान्ति से। किसमे? देह में। कैसे देह में? व्यूहरूप अर्थात् समूहरूप (देह में)। किसके (समूहरूप)? अणुओं के-परमाणुओं के (समूहरूप)। कैसे प्रकार के (परमाणुओं के)? प्रवेशते-गलते अर्थात् प्रवेश

करते और निकलते (परमाणुओं के); फिर कैसे (देह में) ? समाकृत-एक-दूसरे के सदृश उत्पाद से समान आकारवाले (देह में) अर्थात् आत्मा के साथ समान अवगाह से एक क्षेत्रवाले (देह में)। ऐसे देह में जो स्थिति भ्रान्ति-स्थिति से अर्थात् कालान्तर-अवस्थायीपने के कारण या एक क्षेत्र में रहने के कारण से-जो भ्रान्ति अर्थात् देह और आत्मा के अभेदरूप अध्यवसाय, उसके कारण से, (देह को)आत्मा मानते हैं।

भावार्थ :- निरन्तर प्रवेश करते और बाहर निकलते पुद्गलपरमाणुओं के समूहरूप देह में, समान आकृति से-एक क्षेत्र में आत्मा स्थित होने से, देह और आत्मा के एकपने की भ्रान्ति के कारण बहिरात्मा, शरीर को ही आत्मा मानता है।

यह शरीर, पुद्गलपरमाणुओं से निर्मित है। ये परमाणु, वह के वही कायम नहीं रहते; प्रति समय अगणित परमाणु, शरीर से बाहर निकलते हैं और नये-नये परमाणु शरीर में प्रविष्ट होते हैं। परमाणुओं के निकल जाने से तथा नये प्रवेश होने से, स्थूलदृष्टि से शरीर की बाह्य आकृति में कोई अन्तर नहीं लगता तथा आत्मा और शरीर का एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है; इसलिए दोनों की आकृति समान होने से, अज्ञानी जीव को भ्रम होता है कि 'यह शरीर मैं हूँ', उसको अन्दर स्थित आत्मतत्त्व का ज्ञान ही नहीं है।

शरीर और आत्मा को दूध-पानी की तरह एक क्षेत्रावगाह स्थिति है। शरीर, इन्द्रियगम्य है और आत्मा, अतीन्द्रियगम्य है। अज्ञानी को इन्द्रियज्ञान होने से, वह शरीर को ही देखता है; आत्मा को नहीं देखता; इसलिए वह शरीर को ही आत्मा मानकर, एकताबुद्धि करता है और शरीर सम्बन्धी राग-द्वेष करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

''जहाँ तक इस आत्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, (रागादि) भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और 'मुझमें (आत्मा में) ये कर्म-नोकर्म हैं' — ऐसी बुद्धि है, वहाँ तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है।[१] ''

---

१. कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं। जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥

अर्थात् जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मुझमें (आत्मा में) 'यह कर्म-नोकर्म हैं'—ऐसी बुद्धि है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है। *(श्री समयसार, गाथा-१९)*

श्लोक में यह नहीं कहा है कि कर्म के कारण जीव, भ्रम में पड़ता है परन्तु वह अपने ही अपराध से वैसे भ्रम में पड़ता है॥६९॥

ज्येष्ठ कृष्ण १२, शनिवार, दिनांक ०५-०७-१९७५, श्लोक-६८-६९, प्रवचन-८१

नोट - यह प्रवचन उपलब्ध नहीं है।

ज्येष्ठ कृष्ण १४, सोमवार, दिनांक ०७-०७-१९७५, श्लोक-६९, प्रवचन-८२

समाधितन्त्र, ६९ गाथा है। **यदि बहिरात्मा, आत्मस्वरूप को आत्मपने नहीं जानते हों तो वे किसे आत्मपने जानते हैं ?** जिसे अपना अस्तित्व ज्ञान में नहीं आता तो उसे न जाने तो वह किसे जानता है ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः॥ ६९॥

अणु के योग-वियोग में, देह समानाकार।
एक क्षेत्र लख आतमा, माने देहाकार॥ ६९॥

वह देह को ही आत्मा समझता है। जो जीव इस देह को आत्मा जानता है, यह देह है उसे। **वे कौन ? बुद्धिरहित...** लो! आहाहा! यह देह है जड़-मिट्टी, उसे अपना स्वरूप जानता है, यह मैं हूँ। क्योंकि उसमें बहुत काल, उसमें रहता है और एक क्षेत्रावगाह है। एक क्षेत्र में साथ में है न ? **किससे (किसलिए ऐसा समझते है) ? स्थिति की भ्रान्ति से।** इस देह को आत्मा क्यों समझता है अज्ञानी-अबुद्धि (जीव) ? **स्थिति की भ्रान्ति से।** इस शरीर में बहुत काल रहता है और एकक्षेत्रावगाह में होता है, इसलिए मानो यह शरीर वह मैं।

सवेरे आया था वह। शरीर का उत्पाद-व्यय और ध्रुव का अस्तित्व तो परमाणु

परमाणु में है। आहाहा! शरीर की नयी अवस्था हो, पुरानी जाये और ध्रुव, वह तो उसका अस्तित्व उसके रजकण में है। वास्तव में तो वह आत्मा के क्षेत्र में भी नहीं है और आत्मा उसमें बहुत काल रहा भी नहीं। आहाहा! मात्र बाह्य क्षेत्र से अन्दर है और बहुत काल उसमें रहता है, इसलिए मानो कि यह वह मैं। मूढबुद्धि हो गयी।

देखो न, यह लोग कहते हैं न! अभी कोई कहता था। विनोबाजी ने इन्दिरा को शिक्षा की, अभिनन्दन दिया। तुम इस प्रकार गरीबी हटाओगे। वह संग्रह करनेवालों को जेल में डाला न? इसलिए लोगों की गरीबी हटेगी। आहाहा! गरीबी कहना किसे? यहाँ गरीबी तो, भगवान अनन्त आनन्द और अनन्त शान्तस्वरूप है, उसे न मानकर मैं एक पर्याय जितना या शरीर में रहता हूँ, इसलिए शरीर जितना (मानना), यह गरीबी है।

वरांका शब्द कहा शास्त्र में। उसे वरांका-गरीब भिखारी, बेचारा गरीब है। आहाहा! उसकी गरीबी उसकी पर्याय में पूरा भगवान पूर्ण एक समय में ज्ञान, आनन्द आदि स्वभाव से परिपूर्ण है, उसके अस्तिपने की प्रतीति नहीं, ज्ञान में वह ज्ञेय भासित नहीं हुआ। ज्ञान में राग और यह शरीर की पर्याय अथवा अपनी एक समय की पर्याय इतनी भासित हुई है तो वह गरीब है। उस गरीबी को हटा कौन सकता है? दूसरा हटा सकता है? भाई नहीं आये हिम्मतभाई? मेहमान आये।

अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान ऐसी अपनी लक्ष्मी पड़ी है, उसे इतनी ऐसी न मानकर, मैं एक समय की पर्याय जितना या रागवाला या शरीर की स्थिति में बहुत काल रहता हूँ, इसलिए शरीर, वह मैं हूँ। आहाहा! यह गरीबी है।

मुमुक्षु : दूसरे प्रकार की गरीबी और यह पैसे की।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी गरीबी नहीं पैसे की। आहाहा! सातवें नरक का नारकी, पानी की बूँद नहीं, आहार का कण नहीं, रहने का स्थल नहीं, रहने का ओटला नहीं। आहाहा! परन्तु भगवान अन्दर आनन्दस्वरूप पूर्ण शक्ति और पूर्ण स्वभाव पड़ा है, उसका अन्तर में अनुभव और स्वीकार हुआ है, वह गरीब नहीं है। वह सम्यक् पूर्ण सत्य को स्वीकार किया, पूर्ण सत्य को सम्यग्दृष्टि ने अर्थात् सम्यक्रूप से स्वीकार किया, इसलिए वह लक्ष्मीवान है। आहाहा!

केवलज्ञान और पूर्णस्वभाव को जिसने श्रद्धा में श्रद्धा से प्रगट किया है। श्रीमद् में आता है। आहाहा! यह गरीबी तो वापस मिथ्यादृष्टि पापी पाप करेगा और फिर वापस गरीबी तो मिलेगी ही उसे बाहर की। आहाहा! जो गरीबी टले और श्रीमन्त हो। श्रीमन्त। स्वरूप जो... उसे भी श्रीमन्त कहते हैं न, यह बालक रहे उसे। उसे श्रीमन्त कहते हैं। बालक गर्भ में आवे न। आया सही न एक। वह श्रीमन्त तो यह है। आहाहा!

जिसने वर्तमान ज्ञान की पर्याय में पूर्ण का स्वीकार, वह पर्याय भी उसके सन्मुख हुई, इसलिए उसका आश्रय लिया, इतना कहने में आता है। परन्तु पर्याय में श्रीमन्तपना उसे प्रगट हुआ है। आहाहा! मैं यह पूर्ण हूँ, शुद्ध ध्रुव हूँ, अखण्ड एकरूप मेरी चीज़ है। जिसके खजाने में अनन्त गुण के रत्न जिसमें भरे हैं, ऐसा जिसने वर्तमान पर्याय के सत्स्वभाव में उसका स्वीकार किया है। पर्याय ने द्रव्य का आश्रय लिया, ऐसा कहा जाता है। शास्त्र में तो ऐसी भाषा आती है न, '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' भूतार्थ का आश्रय। इसका अर्थ यह (कि) जिस पर्याय में अपनी स्वीकृति नहीं थी, उस पर्याय में अपने अंश को पूरा माना था, राग और दया, दान के विकल्प को माना था, वह पर्याय ने दिशा बदली, इसलिए उसने द्रव्य का आश्रय लिया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! बाकी तो उसकी पर्याय में पूरी चीज़ वह है, उसकी श्रद्धा में पूरी चीज़ आ गयी तो ज्ञान की पर्याय में पूरा ज्ञेय ज्ञान में आ गया है। आहाहा! वह श्रीमन्त है कि जिसे केवलज्ञान होगा, होगा और होगा। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? जयन्तीभाई हैं या गये? तुम्हारे।

मुमुक्षु : भावनगर गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : गये, ठीक।

मुमुक्षु : नियमसार में कहा....

पूज्य गुरुदेवश्री : नियमसार में क्या?

मुमुक्षु : वह तो स्वतन्त्र द्रव्य....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ध्यान की बात की। आत्मा अन्दर पूर्णस्वरूप है, उसका जिसने ध्यान किया। इसका अर्थ ही यह कि जिसने वर्तमान पर्याय को उस ओर

झुकाया, वह सर्वस्व है। वहाँ आता है न, भाई! व्रत और तप सब सर्वस्व ध्यान है। आहाहा! क्योंकि जिसने पूर्णानन्द के नाथ को... पूर्ण चतुष्टय भरा है, अनन्त आनन्द आदि चतुष्टय। इसके अतिरिक्त अनन्त गुण पूर्ण भरे हैं। उन गुण की संख्या का तो पार नहीं, परन्तु गुण की शक्ति का पार नहीं। एक-एक गुण की। आहाहा! ऐसी लक्ष्मी जिसे पर्याय के आधीन की है कि यह मैं। गिरधरभाई! ऐसी बात है। आहाहा! यह सब तुम्हारी सेठाई को नहीं? कार्यकर्ता और सेठ—दो। यह दुनिया में तो ऐसा कहते हैं न बाहर से। आहाहा!

कार्य का करनेवाला तो जिसने आत्मा के पूर्णानन्द के स्वभाव को पर्याय में... पर्याय कहो या कार्य कहो। उस कार्य में कारणपरमात्मा जिसने स्वीकार किया, वह कार्यकर्ता है। आहाहा! यहाँ सब बाहर की गरीबी और बाहर के तवंगर (धनवान) वह तो बाहर में वेश, वह तो अनन्त बार आये और गये, वह कोई वस्तु नहीं। आहाहा! खाने-पीने के साधन हों, सोने-बैठने के मकान हों, रोग के साधन हों। अभी रखते हैं न अलमारी में सब? किसी प्रकार की दवायें रखे। बिच्छू काटे तो वह रखे, सर्प काटे तो रेकर्ड के टुकड़। क्या कहलाते हैं?

मुमुक्षु : ग्रामोफोन।

पूज्य गुरुदेवश्री : ग्रामोफोन। रेकर्ड रखे। अलमारी भर रखे।

मुमुक्षु : बिच्छू काटे इसलिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कुछ काम आवे। धूल भी नहीं, सुन न। आहाहा!

यहाँ तो अनन्त स्वभाव के शृंगारवाला प्रभु, ऐसा जिसे ज्ञान में, पर्याय में... पर्याय है सत्। वह सत् कहीं पर की अपेक्षा नहीं रखता। समझ में आया? परन्तु वह पर्याय ऐसे झुकती है, इसलिए इतना आश्रय लिया, ऐसा कहने में आता है। बाकी तो वह पर्याय स्वतन्त्र है। पूरा द्रव्य जिसने स्वीकार किया, द्रव्य को स्पर्श किये बिना। आहाहा! जिस पर्याय ने पर्यायवान को स्पर्श किये बिना जिसने स्वीकार किया। ओहोहो! ऐसी सत् पर्याय, वह श्रीमन्त है। रतिभाई! यह सब तुम पैसेवाले को बहुत कहे। लो! यह करोड़पति है और ऐसा है और वैसा है। लोग बातें बहुत करे। पैसे बहुत पैदा करते

हैं, ऐसा करते हैं। कौन पैसे पैदा करे ? जड़ ? और करोड़ पैसा, वह आत्मा करोड़पति ? जड़ का पति।

मुमुक्षु : एक लाख रुपये कमाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। एक लाख कमाता है नहीं है वह ? मर गया। शान्तिलाल खुशाल, गोवावाला। एक दिन की एक लाख की आमदनी। मर गया पाँच मिनिट में। परन्तु वह चीज़ कहाँ उसकी थी और उसमें थी ? आहाहा!

(समयसार) १९ गाथा में नहीं कहा ? इसमें आयेगा। किसमें ? उसमें था न ? मैं मुझमें और कर्म तथा नोकर्म है, यह बुद्धि जब तक जीव की वहाँ तक अज्ञानी रहता है। १९ गाथा दी है। उस ओर। परन्तु ठीक रची है। अच्छा किया है। गाथा का जो भाव है, उसका स्पष्टीकरण किया है। यह जड़, आत्मा मिट्टी और भगवान अन्दर चैतन्य। वह क्या कहलाती है वह पुस्तक तुम्हारे बालक की ? बालपोथी। ऐई! नवरंगभाई! बालपोथी नहीं आती ? उसमें नहीं आता ? कि यह शरीर, वह मैं नहीं। मैं ज्ञान, वह आत्मा, मैं जाननेवाली पर्याय, उसे जानूँ, वह पर्याय मेरी। यह ज्ञात होती है, वह चीज़ मैं नहीं। ऐसा नहीं ? शरीर के आकार रखते हैं। आहाहा! भाई नहीं हरिभाई ? आये नहीं ? (तबीयत) ठीक नहीं। हरिभाई! क्योंकि उन्होंने किया है न यह सब। ... नहीं। आहाहा!

हमेशा की गरीबी जाये और हमेशा का धनाढ्य हो, उस वस्तु को वस्तु कहा जाता है। अब यह तो गरीबी हटे और वापस जाये नरक में। अरे रे! वापस जायेगा एकेन्द्रिय में। आहाहा! वहाँ तो इसे...

मुमुक्षु : आप भविष्य की बात करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : भविष्य की, वर्तमान... है, भविष्य का भी तब तो वर्तमान होगा न उसे ? अभी वर्तमान, वह भविष्य का उस समय वर्तमान होगा न ? आहाहा!

जहाँ-जहाँ जायेगा, वहाँ उसे वर्तमान काल होगा। यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू भूला है मूल में, हों, कहते हैं। आहाहा! और इसलिए उसे बुद्धि बिना का कहा है। आहाहा! यह शरीर, वह मैं और आत्मा अन्दर वह चीज़ सच्चिदानन्द प्रभु, उसका जिसे स्वीकार नहीं, वह बुद्धि बिना का है, कहते हैं। तेरी बुद्धि में यह आया नहीं बुद्धिवान। तेरी बुद्धि

में बुद्धिवान अर्थात् ज्ञानवान स्वरूप भगवान, वह आया नहीं तो तू बुद्धि बिना का है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : बुद्धि बिना का तो जड़ होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जड़ ही है। जड़ शरीर को माना। आहाहा! महा चैतन्य भगवान परमानन्दस्वरूप ही परमात्मस्वरूप स्वयं है, उसे न मानकर राग को, शरीर को अपना माने, वह तो जड़ है, अचेतन को स्वयं चेतन माना इसने। आहाहा!

देखो न, कहा है पाठ में, हों! '**अबुद्धयो**' अज्ञानी बहिरात्मा। यह बुद्धि बिना के टीका में लिया है। यह अर्थ किया है। '**अबुद्धयो बहिरात्मानः**' आहाहा! **स्थिति की भ्रान्ति से।** क्यों ऐसा माना? स्थिति की भ्रान्ति से। इस शरीर में कुछ लम्बा काल २५-५० वर्ष रहा और एक क्षेत्र में रहा, इसलिए इसे स्थिति की भ्रान्ति हो गयी कि इसमें हूँ; इसलिए यह मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह देह चमड़ी, हड्डियों का पुतला है यह तो। उसमें कालान्तर की अपेक्षा वहाँ काल से रहा २५-५०-६० वर्ष और एक क्षेत्र में रहा; इसलिए उसे स्थिति के कारण भ्रान्ति हो गयी कि यह मैं हूँ, शरीर वह मैं हूँ। आहाहा! वह तो यहाँ भी इस ढोर को देखो तो कहाँ उसे एक ही बात यह शरीर वह यह। यह खाना, यह लेना, यह खाता हूँ, यह लेता हूँ, वह मैं हूँ। बकरा, भैंसा, ढ़ोर उन्हें ऐसा सब काम होता है यह... यह... यह... यह... यह, भले उसकी खबर न हो, परन्तु यह है, वह मैं हूँ। पूरे दिन खाये। आहारसंज्ञा से। मुँह मारा करे जहाँ-तहाँ। आहाहा! और अब यह हरा घास मिला। यह वर्षा आयी। आठ महीने नहीं था, उसे सूखी घास मिलती थी, अन्त में पुरानी कहीं की। इसलिए उसे ऐसा कि आहाहा! अब मुझे ठीक मिला। मुझे अर्थात् शरीर को और शरीर अर्थात् मैं। आहाहा!

यह सूक्ष्म शल्य को बताते हैं। वैसे तो ऐसा माने... ऐसा नहीं कहा वहाँ? कि भाई! अनादि से अज्ञानी, अभव्य यह सब धर्म आदि करता है न, क्रियायें सब? कि यह शरीराश्रित क्रियायें मेरी हैं और वह मैं हूँ—ऐसी बुद्धि से सबका करता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि है।

किसमें स्थितिभ्रान्ति है? **देह में। कैसे देह में? व्यूहरूप अर्थात् समूहरूप (देह**

में)। समूह व्यूह-व्यूह। व्यूह नहीं कहते? लश्कर की रचना को व्यूह। इसी प्रकार यह परमाणु का व्यूह है सब। यह रजकणों का समूह है, यह व्यूह। **अणुओं के-परमाणुओं के (समूहरूप)। कैसे प्रकार के (परमाणुओं के)? प्रवेशते-गलते अर्थात् प्रवेश करते और निकलते (परमाणुओं के);...** इसमें से अनन्त रजकण आवे और अनन्त जाये। जवानी में बहुत कम जाये और बहुत आवे। वृद्धावस्था में बहुत जाये और थोड़े आवें। इसलिए जीर्ण हुआ। यह मानो मुझे हुआ। बहुत रजकण आये, इसलिए मानो मैं मोटा हुआ, मैं जवान हुआ। मैं जवान हुआ। आहाहा! मैं बालक था, कोमल अवयव थे, वह अब मजबूत हुए और यह अब इन्द्रियों द्वारा मैं अच्छा काम कर सकता हूँ।

जैसे कांवड़ द्वारा भार उठा सकते हैं? कांवड़ नहीं कांवड़? अच्छी कांवड़ हो तो अच्छा काम ले सकते हैं। यह दृष्टान्त दिया है परदेशी राजा का। राय पसेण। यहाँ तो ... दृष्टान्त दिया ८९ में। सम्प्रदाय में व्याख्यान चला था। वंडे, राजकोट। यह कांवड़ यदि कमजोर हो तो काम नहीं कर सकती। पानी दोनों ओर अधमण-अधमण का पानी। कांवड़ मजबूत हो तो। इसी प्रकार शरीर मजबूत हो। कांवड़ समझते हो? यह उठाने का। दोनों ओर। बाँस होता है न बाँस? नीचे लटकता हो, उसमें पानी रखा हो मण-मण पानी। आहाहा! इसी प्रकार यह शरीर मजबूत हो तो काम अच्छा कर सकता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। वह तो जड़ का काम है। आहाहा! जड़ के काम को अपना माना, वह अबुद्धि-बुद्धि बिना के हैं, जिन्हें ज्ञानस्वरूप भगवान प्रतीति में, श्रद्धा में अस्ति है, वह आया नहीं और जिसमें बहुत काल और क्षेत्र में रहा, उस स्थिति से मानो मैं वह हूँ, ऐसी स्थिति जैसी भ्रान्ति हो गयी है। आहाहा! यह अणु बहुत रजकण आवे, गले और आवे। जाये और आवे।

फिर कैसे (देह में)? समाकृत-एक-दूसरे के सदृश उत्पाद से समान... क्योंकि जैसा शरीर का आकार हो, उसी प्रकार आत्मा का आकार अन्दर होता है परन्तु वह आकार अपना अपने से है और उसका आकार पर से है। आहाहा! बालक हो तो उसके प्रमाण में उसके आत्मा का आकार। और मोटा शरीर तो उसके प्रमाण में आकार। परन्तु

उस आकार से आकार दोनों भिन्न हैं। आहाहा! शरीर का आकार पुष्ट हुआ, इसलिए मेरा आकार यह हुआ, ऐसा उसे... आहाहा!

कुँए में भाँग पड़ी। नहीं कहते? यह भाँग पीवे, वे सब पागल होते हैं। कुँए में भाँग पड़ी। भगवान आत्मा शरीर में कितने काल और एक क्षेत्र में रहे और उसके रजकणों का आकार बदले, ऐसा मैं बदल गया, शरीर पतला तो मैं पतला, शरीर पुष्ट तो मैं पुष्ट। आहाहा! उसने शरीर को अपना माना। आहाहा! शरीर—आश्रित क्रिया का आता है न? आ गया। शरीराश्रित क्रिया को भी अपनी माने। नहीं आया था? आया था वहाँ। पहला। उसमें आया है उसमें।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। शरीराश्रित क्रिया का दृष्टान्त दिया था न? ९६ पृष्ठ है। ६१ गाथा में है।

अज्ञानी मानते हैं कि शरीराश्रित उपवास, व्रत, नियमादि से शरीर को कृश करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है,... है न? ६१ गाथा के अर्थ में है। और ९६ पृष्ठ पर है। **अज्ञानी...** नीचे दृष्टान्त दिया है, देखो! 'शरीराश्रित उपवासादि के लिये मोक्षमार्गप्रकाशक गुजराती आवृत्ति पृष्ठ २२९ और २४४।' देखा? **यदि देहाश्रित व्रत-संयम को भी अपने माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।** है न? यह आ गया है अपने। आहाहा! फुटनोट में है।

शरीर आदि उपवास और व्रत, नियम से शरीर कृश हो, इससे इन्द्रियों का निग्रह होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। इसलिए **विषयों में उसकी प्रवृत्ति रुक जाती है और इससे राग-द्वेषादि नहीं होते; परन्तु यह मान्यता भूल भरी है,...** आहाहा! मुनि होते हैं न, उन्हें ऐसी लब्धि होती है कि महीने-महीने, दो-दो, पाँच-छह-छह महीने के उपवास करते हैं तो शरीर ऐसा का ऐसा रहता है।

ऐसे देह में जो स्थिति भ्रान्ति-स्थिति से अर्थात् कालान्तर-अवस्थायीपने के कारण... बहुत काल शरीर में रहे, १०, २०, ५० वर्ष। इसलिए इसे ऐसा हो जाता है कि यह रहा है, वह शरीर वही मैं हूँ। आहाहा! **या एक क्षेत्र में रहने के कारण से...** दो बात। स्थिति-भ्रान्ति की व्याख्या। **जो भ्रान्ति अर्थात् देह और आत्मा के अभेदरूप**

अध्यवसाय, उसके कारण से, (देह को) आत्मा मानते हैं। बहुत काल देह में रहना। रहता है तो आत्मा आत्मा में, देह देह में। परन्तु ऐसे देह के सम्बन्ध में बहुत काल रहना और एक क्षेत्र में रहना। इससे उसे भ्रान्ति होती है कि शरीर, वह मैं। मुझसे शरीर रहा, मैंने कृश नहीं किया और आहार-पानी अनुकूल दिये, इससे रहा और उसमें मैं रहनेवाला, उसके कारण रहा। आहाहा!

आता है, नहीं तो ज्ञानी उपवासादि करते हैं न? कि वह तो इच्छा के उत्पन्न न होने पर अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति का शुद्ध उपयोग होता है, उसके लिये निमित्त कहने में आता है। आहाहा! **तपसा निर्जरा च**—आता है न? बस अपवास किया, एकासन किया वह उपवास और तपस्या और तपस्या, वह निर्जरा; निर्जरा वह मोक्ष का कारण। ऐसा नहीं है। वह तो निमित्त के कथन हैं। ऐसा नहीं कहा? स्वाध्याय परम तप। स्वाध्याय तो पर का विकल्प है। स्वाध्याय अन्दर आत्मा के आनन्द का स्वाध्याय करना अन्दर। एकाग्रता की क्रीड़ा करना, रमणता में भगवान की वह... आहाहा! उसका नाम स्वाध्याय है। शास्त्र के पठन का स्वाध्याय, वह तो सब विकल्प है, राग है। आहाहा! और जो ज्ञान हो शास्त्र का, वह भी विकल्पवाला ज्ञान है। उसमें निर्जरा वह स्वाध्याय कहाँ से आयी? आहाहा! परन्तु यह मानता है ऐसा। कण्ठ बराबर, वाणी ऐसी बोली जाये, स्पष्ट अक्षर, शास्त्र में ऐसा आवे न कि अक्षर बराबर बोलना, शुद्धि करना, हीनाधिक अक्षर नहीं बोलना। देखो! आता है या नहीं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अक्षर बराबर ऐसा कि अक्षर की शुद्धि रखना। अरेरे!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आती है न सब व्यवहार भाषा। अक्षर की शुद्धि कौन आत्मा करे? आहाहा! परन्तु ऐसी ही भाषा ही बराबर आवे, इसलिए उसे ऐसा हो जाता है कि अक्षर की शुद्धि मैंने की। आहाहा!

भावार्थ :- निरन्तर प्रवेश करते और बाहर निकलते पुद्गलपरमाणुओं के समूहरूप देह में, समान आकृति से... समान आकृति है न? कारण कि देह का आकार

है, ऐसा ही अन्दर आत्मा का आकार रहे। परन्तु अपने-अपने कारण से है, ऐसा न मानकर, इसके कारण से मेरा आकार हुआ। आहाहा! **निरन्तर प्रवेश करते और बाहर निकलते पुद्गलपरमाणुओं के समूहरूप देह में,...** यह पुद्गल परमाणुओं का समूहरूप देह।

वह लड़का था बहुत वर्ष पहले यहाँ रहता था। फिर कहे, जो भाई आत्मा... आत्मा कहीं शरीर का... दूसरे को मारा थप्पड़। आत्मा कहाँ थप्पड़ मार सकता है? मैंने थप्पड़ नहीं मारा। परन्तु तुझे विकल्प आया, देह की क्रिया हुई वह तो देह के कारण से। यह बहुत वर्ष पहले यहाँ हुआ था। आत्मा दूसरे को मार सके? मैं कहाँ मार सकता हूँ? यह तो हाथ ने मारा। परन्तु भाव... थब्बो समझे? थप्पड़। वह थप्पड़ तो थप्पड़ के कारण हुई है, परन्तु उसका भाव था या नहीं? उस भाव को मैं कुछ करता नहीं। मैंने कहाँ मारा है? आहाहा! और लड़के वापस ऐसे हों न कि एक-दो व्यक्ति बैठे हों, ऐसा करे और ऐसा देखे फिर। वह मानो मैंने किया नहीं। ऐसे खेल करे ऐसे और नजर रहे वापस ऐसी। ऐसा बहुत बार देखा है यहाँ। मन्दिर में बैठे हों लड़के बाहर। सब बैठे हों फिर ऐसा करके और वापस ऐसा देख जाये। हमने कुछ किया है। आहाहा! देह की क्रिया और भाव था कि इसे ऐसा करूँ, उसे छुपाया, झूठ बोला। भाव तो तेरा था या नहीं ऐसा करूँ इसे? खेल-खेल करते हैं लड़के। आहाहा!

देह में, समान आकृति से... पुद्गल परमाणु के प्रवेश और निकलते उसके समूह आकृति से **एक क्षेत्र में आत्मा स्थित होने से, देह और आत्मा के एकपने की भ्रान्ति के कारण...** आहाहा! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध गाढ़ है न। आया है न, मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। इससे मानो यह सब क्रिया मुझसे होती है। आहाहा! घनिष्ठ सम्बन्ध है न एक-दूसरे को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। परन्तु इससे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अर्थ निमित्त कुछ करता है, ऐसा नहीं। तब तो उसे निमित्त कहा जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त करता है या नहीं करता...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं करता, इसलिए उसे निमित्त कहा जाता है। करे, तब तो वह तो उपादान में घुस गया। समझ में आया?

सब ऐसा कहते हैं न, ऐसा कहते थे न पहले ढेबरभाई, कि हम निमित्त तो होवें न दूसरे को? निमित्त होकर दूसरे के कार्य में हम निमित्त होंगे। अरर! ऐसी की ऐसी भ्रमणा। अभी मिले थे वहाँ प्लेन में। मेरे पास आकर बैठकर पूछा। गाँधी की क्या कक्षा थी? कहे। गाँधी की लौकिक कक्षा थी। कहा, धार्मिक नहीं। ऐई! उमराला उतरे थे। हमारे दूज पर जाना था न अहमदाबाद, नहीं? वैशाख कृष्ण दशमी को मुम्बई से। आहाहा! जगत को कहाँ....

उसके कार्यकाल में हो, तब वह दूसरा निमित्त हो, तब उसे निमित्त कहा जाये। परन्तु मैं निमित्त हुआ, इसलिए वहाँ हुआ, वह तो निमित्त कहाँ रहा? नैमित्तिक कार्य का काल जिसका है, उस काल में वह होता है, तब दूसरी चीज़ निमित्त कहलाती है, उसमें उसने कहाँ किया उसमें? निमित्त का बड़ा घोटाला है। वह यह शरीर की क्रिया बराबर विचारा अनुसार हो। लड्डू का टुकड़ा करे, दो टुकड़े साथ में उड़द की दाल ले। अरबी के भुजिया ले। बड़ा हो तो छोटा टुकड़ा करे। दो-तीन चीज़ इकट्ठी हो गयी हो तो वह अरबी का बड़ा साथ में न आवे, इसलिए छोटा ले। छोटा लिया जाये, लो! इसे यह भ्रम हो जाता है। आहाहा!

शरीर में रहा हुआ आत्मा लम्बे काल और एकक्षेत्र, इससे उन क्रियाओं में मेरा अधिकार है और मैं इस प्रकार से... शरीर को कहाँ खबर थी अँगुलियों को कि इस रोटी का टुकड़ा करना? उसे खबर थी? रोटी का टुकड़ा किया, वह जाना। यह बातें... करे नहीं? मोटर है। वह क्या होता है? जाते होंगे। यह होगा। यह मोटर लेकर। ... आहाहा! जिस ओर मोड़नी हो, वैसे मुड़े वापस, लो! सीधी हो तो ऐसे चले। वह पर्याय का काम करती है या नहीं उस मोटर का?

सोनगढ़वाले कहते हैं कि मोटर, मोटर के कारण चलती है। पेट्रोल के कारण नहीं।

मुमुक्षु : सोनगढ़ की मोटर पेट्रोल से नहीं चलती और हमारी मोटर पेट्रोल से चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पेट्रोल से चलती है। अरे... भगवान! ऐसा कि अपने यह मोटर में बैठे हैं, इसलिए मोटर चलती है, इसलिए हम उसमें चलते हैं, ऐसा नहीं। हम

चलते हैं, (उसमें) मोटर है, वह तो निमित्त है, उसके स्वयं के कारण से चलती है। ऐसा यह (सोनगढ़) कहता है। और अपने (अन्य) तो यह मोटर चलती है, वैसे यह देह ऐसे चलती है। इसलिए मोटर के प्रमाण में देह चली, इसलिए मोटर ने चलाया। आहाहा! यह बात तो चली थी।

देह और आत्मा के एकपने की भ्रान्ति के कारण बहिरात्मा, शरीर को ही आत्मा मानता है।

यह शरीर, पुद्गलपरमाणुओं से निर्मित है। यह आयेगा अपने प्रवचनसार में अब गाथायें। कर्ता, न कारयिता यह आयेगा। उसका—शरीर का मैं कर्ता नहीं। यह गाथा में आयेगा।

मुमुक्षु : प्रतिक्रमण के अधिकार में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह। यह प्रतिक्रमण का अधिकार तो नियमसार में आता है। हाँ, उसमें भी आता है। परन्तु इसमें। उसमें भी आता है। उस नियमसार में आता है प्रतिक्रमण अधिकार पहली पाँच गाथायें। शरीर की पर्याय का मैं कर्ता नहीं, करानेवाला नहीं, उसे मैं सम्मत नहीं, उसका मैं कारण नहीं। आहाहा! वह व्यवहार कारण है, इस बात को वहाँ उड़ाया है। वह तो कहनेमात्र कारण है। उसकी पर्याय उसके काल में, उसके कारण से वह होती है। उसे पर की अपेक्षा है नहीं। ऐसी बात लोगों को लगे यह निश्चय की।

यह शरीर... है न? **पुद्गलपरमाणुओं से निर्मित है। ये परमाणु, वह के वही कायम नहीं रहते;...** वह के वह रजकण शाश्वत् नहीं रहते। **प्रति समय अगणित परमाणु, शरीर से बाहर निकलते हैं...** अगणित। अनन्त परमाणु बाहर निकलते हैं। **और नये-नये परमाणु शरीर में प्रविष्ट होते हैं। परमाणुओं के निकल जाने से तथा नये प्रवेश होने से, स्थूलदृष्टि से शरीर की बाह्य आकृति में कोई अन्तर नहीं लगता...** मानो ऐसा का ऐसा शरीर है, ऐसा लगता है।

तथा आत्मा और शरीर का एकक्षेत्रावगाहरूप (संयोग) सम्बन्ध है;... आत्मा को और शरीर को एक जगह रहना। एकक्षेत्रावगाह अर्थात् रहना। संयोग सम्बन्ध है।

इसलिए दोनों की आकृति समान होने से, अज्ञानी जीव को भ्रम होता है कि 'यह शरीर मैं हूँ',... जिसकी पर्याय पर बुद्धि है, वह आगे जाये तो शरीर के ऊपर ही जाता है उसका लक्ष्य। उसकी क्रिया मैं करता हूँ। आहाहा! देखकर चलना, विचारकर बोलना, ऐसा नहीं आता शास्त्र में? देखकर चलता हूँ, वह देखकर मैं चलता हूँ। आहाहा! और विचारकर बोलूँ। बोलने की क्रिया में मेरा विचार है, इसलिए वह बोलने की क्रिया होती है। भ्रम है।

उसको अन्दर स्थित आत्मतत्त्व का ज्ञान ही नहीं है। समान आकृति होने से अज्ञानी को भ्रम होता है कि यह शरीर ही मैं हूँ। आता है न **'शरीराद्यं खलु धर्म साधनं।'** नहीं आता? पुरुषार्थसिद्धि (उपाय) में आता है, लो! पुरुषार्थसिद्धि (उपाय) में आता है। आहाहा! धर्म में साधन-फाधन कैसा शरीर? राग, वह धर्म का साधन नहीं तो फिर शरीर कहा रह गया था? आहाहा! मार्ग बहुत अलग, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने, समय-समय की पर्याय प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्ररूप से होती है, ऐसा उसका स्वरूप है, ऐसा भगवान ने जानकर कहा है। भगवान ने पर का कहीं कुछ किया नहीं? जाना, वैसा वाणी द्वारा आया। ऐसी वाणी द्वारा भाषा। भाषा भाषा से। कौन भाषा करे? आहाहा! अभ्यन्तर भगवान आत्मा बाह्य शरीर की अवस्था के आकार रजकण आवे-जाये, वैसा आकार हो; इसलिए वैसा आकार मुझे हुआ। पुष्ट हुआ तो मैं हुआ, कृश हुआ तो मैं हुआ, रोगी हुआ तो मैं और निरोगी हुआ तो मैं। ऐसी शरीर की स्थिति में भ्रान्ति अज्ञानी को होती है। उसे अन्तर में रहे हुए आत्मतत्त्व... बाह्य रहे हुए की बात है न पहली? बाह्य होती क्रियायें, उनमें मेरा अधिकार है। वह मैं हूँ—ऐसा बुद्धि बिना के लोग, उन्हें आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं। भगवान को समय-समय में जड़ की पर्याय के फेरफार के काल में भी ज्ञान के कारण से उसमें फेरफार होता है, ऐसा नहीं।

शरीर और आत्मा को दूध-पानी की तरह एक क्षेत्रावगाह स्थिति है। यह स्थिति-भ्रान्ति की व्याख्या की। **शरीर और आत्मा को दूध-पानी की तरह एक क्षेत्रावगाह स्थिति है।** एक क्षेत्रावगाह अर्थात् एक शरीर व्याप्य बराबर यह। **शरीर, इन्द्रियगम्य है...** यह शरीर तो इन्द्रियगम्य है। आत्मा इन्द्रियगम्य नहीं। आहाहा! यह शरीर है, वह

इन्द्रियों से ज्ञात होता है। आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! **आत्मा, अतीन्द्रियगम्य है।** आहाहा! वह तो निजस्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा है। इन्द्रियगम्य... यह तो दोनों की चीज़ ही अत्यन्त भिन्न है। **अज्ञानी को इन्द्रियज्ञान होने से, वह शरीर को ही देखता है;...** इन्द्रिय से ज्ञात हो अर्थात् यह देखता है, यह शरीर है। **आत्मा को नहीं देखता;...** परन्तु देखनेवाले को नहीं देखता। आहाहा! **इसलिए वह शरीर को ही आत्मा मानकर, एकताबुद्धि करता है...** हाथी की भाँति मलपती... हाथी की गति शरीर की होती है, वह मेरी गति है, ऐसा मैं... ऊँट की जैसी गति हो एक पग ऐसे आड़ा चले, वह गति मेरी है, ऐसा मानता है। आहाहा!

शरीर को ही आत्मा मानकर, एकताबुद्धि करता है और शरीर सम्बन्धी राग-द्वेष करता है। अब विशेष। १९ गाथा का। समयसार की १९ गाथा। **जहाँ तक इस आत्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म,... जड़कर्म, (रागादि) भावकर्म...** भावकर्म पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत के भाव और शरीरादि नोकर्म, यह मैं हूँ।

नोकर्म कर्म जु 'मैं' अवरु, 'मैं' में कर्म नोकर्म हैं।
यह बुद्धि जब तक जीव की, अज्ञानी तब तक वो रहे॥

(समयसार, गाथा १९)

वाणी द्वारा उपदेश होता है, वह मैं करता हूँ। और दूसरे को कुछ ज्ञान हो, उसमें से मुझे लाभ मिलता है। दूसरे समझें, उसका लाभ मिलता है या नहीं इसे? यह मान्यता सब भ्रम है। आहाहा! लाखों लोग धर्म समझे तो उसमें से कुछ लाभ होता है या नहीं समझानेवाले को? जेठाभाई! नहीं? किसे समझाया है? वाणी के काल में वाणी निकलती है। आहाहा!

ज्ञानावरणादि... जड़कर्म, वे मेरे और उनमें मैं। पुण्य-पाप के भावकर्म, वे मेरे और वह मेरे, मैं। वे मेरे और उनमें मैं। शरीरादि मेरे और उनमें मैं, यह नोकर्म। और मुझमें अर्थात् मेरे में यह कर्म-नोकर्म है। उनमें मैं हूँ और मुझमें वे हैं, कर्म है पुण्य-पाप के भाव मुझमें है। आहाहा! **ऐसी बुद्धि है, वहाँ तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है।** यह तो १९ गाथा समयसार की।

श्लोक में यह नहीं कहा है कि कर्म के कारण जीव, भ्रम में पड़ता है... ऐसा कहा न? नोकर्म कर्म में मैं, और मुझमें कर्म तथा नोकर्म है। यह बुद्धि जब तक जीव की, कर्म के कारण बुद्धि हुई है, ऐसा नहीं है। वहाँ तक अज्ञानी वह रहे। आहाहा! **कर्म के कारण जीव, भ्रम में पड़ता है परन्तु वह अपने ही अपराध से वैसे भ्रम में पड़ता है।** स्पष्टीकरण तो ठीक किया है। उसमें ऐसा कहा नहीं। वहाँ ऐसा कहा नहीं कि कर्म में, नोकर्म में, मैं और कर्म तथा नोकर्म—इस कर्म के कारण ऐसी बुद्धि होती है। कर्म अनुसार की बुद्धि, ऐसा नहीं है। वह स्वयं ही ऐसी बुद्धि खड़ी करता है। जो आत्मा में नहीं है और जिसमें वह नहीं है —वे मेरे हैं, ऐसी बुद्धि अज्ञानी खड़ी करता है। उसमें कर्म का कोई कारण नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानावरणी ज्ञान...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो निमित्तपने का ज्ञान कराया है। ज्ञान की हीन दशा स्वयं करता है, तब ज्ञानावरणीय का निमित्तपना था इतना। परन्तु उसने हीन करायी है... बड़ा विवाद हुआ था तब। क्या कहलाता है वह? मधुवन। प्रकाशित हो गया है सब, कहते हैं वहाँ। यह आत्मा में ज्ञान की हीनाधिक दशा होती है, वह अपनी योग्यता से होती है, ऐसा कहते हैं। मैं करता हूँ। कर्म से, ज्ञानावरणीय से नहीं। आयी है बाहर। पुस्तक है। है न कहीं? दूसरे में होगी। ज्ञान की हीन दशा, वह भी अपने कारण से करता है। कर्म के कारण से ज्ञानावरणीय के कारण हीन दशा है, ऐसा नहीं है। और ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हो वहाँ जड़ में, इसलिए यहाँ ज्ञान के क्षयोपशम का विकास होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समय-समय की स्वतन्त्रता। तब वे कहें शरीर और आत्मा भिन्न है। सुई चुभाए, कहे। (संवत्) २००६ के वर्ष में हुआ था, वहाँ पालीताणा में। परसों गये थे वहाँ। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न? (सुई) चुभाए, कहे। अरे! भगवान! तीनों काल भिन्न है, भाई! तूने माना है। यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)क्रश

श्लोक - ७०

ततो यथावदात्मस्वरूपप्रतिपत्तिमिच्छन्नात्मानं देहाद्भिन्नं भावयेदित्याह -

*गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम्॥ ७०॥

गौरोऽहं स्थूलोऽहं कृशोवाऽहमित्यनेन प्रकारेणाङ्गेन विशेषणेन अविशेषयन् विशिष्टं अकुर्वन्नात्मानं धारयेत् चित्तेऽविचलं भावयेत् नित्यं सर्वदा। कथम्भूतं? केवलज्ञप्तिविग्रहं केवलज्ञानस्वरूपं अथवा केवला रूपादिरहिता ज्ञप्तिरेवोपयोग एव विग्रहः स्वरूपं यस्य॥७०॥

इसलिए यथार्थरूप से आत्मस्वरूप को समझने की इच्छा करनेवाले को, आत्मा को देह से भिन्न भाना चाहिए — ऐसा कहते हैं —

'मैं गोरा स्थूल क्रश नहीं' - ये सब तन के रूप।
आत्मा निश्चय नित्य है, केवल ज्ञानस्वरूप॥ ७०॥

अन्वयार्थ - (अहं) मैं, (गौरः) गोरा हूँ (स्थूलः) मोटा हूँ (वा कृशः) अथवा दुबला हूँ, (इति) इस प्रकार (अंगेन) शरीर के साथ (आत्मानं) अपने को (अविशेषयन्) एकरूप न करते हुए, (नित्यं) सदा ही (आत्मानं) अपने आत्मा को (केवलज्ञप्तिविग्रहम्) केवलज्ञानस्वरूप अथवा रूपादिरहित उपयोगशरीरी (धारयेत्) अपने चित्त में धारण करना-मानना।

टीका - मैं गोरा हूँ, मैं स्थूल (मोटा) हूँ अथवा मैं कृश (पतला) हूँ; इस प्रकार से शरीर द्वारा आत्मा को, विशेषरूप अर्थात् विशिष्टरूप नहीं मानकर, (उसे) धारना अर्थात् चित्त में उसको नित्य-सर्वदा अविचलरूप भाना। कैसे (आत्मा को)? केवल ज्ञानविग्रहरूप अर्थात् केवल ज्ञानस्वरूप अर्थात् केवल रूपादि रहित ज्ञाप्ति ही-उपयोग ही जिसका विग्रह अर्थात् स्वरूप है, वैसे आत्मा को (चित्त में धारना)।

---

* हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु। हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु॥
अर्थात् - मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, मैं ही और भी अनेक वर्णवाला हूँ; मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ — ऐसी मान्यतावाले को मूढ मानो। *(श्री परमात्मप्रकाश, योगीन्द्रदेव, ८०)*

भावार्थ - गोरापना, स्थूलपना, कृशपना इत्यादि अवस्थाएँ शरीर की है-पुद्गल की है; आत्मा की नहीं। इन शरीर की अवस्थाओं के साथ आत्मा को एकरूप नहीं मानना। आत्मा को शरीर से भिन्न, रूपादिरहित और केवल ज्ञानस्वरूप ही समझना और उस स्वरूप से ही उसका निरन्तर चित्त में ध्यान करना॥७०॥

ज्येष्ठ कृष्ण १४, मंगलवार, दिनांक ०८-०७-१९७५, श्लोक-७०-७१, प्रवचन-८३

समाधितन्त्र, ७० गाथा है। **इसलिए यथार्थरूप से आत्मस्वरूप को समझने की इच्छा करनेवाले को, आत्मा को देह से भिन्न भाना चाहिए—ऐसा कहते हैं —**

***गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्।**
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम्॥ ७०॥

'मैं गोरा स्थूल क्रश नहीं' - ये सब तन के रूप।
आत्मा निश्चय नित्य है, केवल ज्ञानस्वरूप॥ ७०॥

सवेरे यह ५४ में आया था। पर्याय में द्रव्य को जानना। इसका अर्थ कि उसे द्रव्य पर लक्ष्य देना। दृष्टिप्रधान कथन में तो सत्यार्थ-भूतार्थ पर दृष्टि। यहाँ तो ज्ञानप्रधान कथन है। वह ज्ञान वस्तु जो चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... द्रव्य। जो अन्वय सत् कायम रहनेवाला, उसे जाने। तब उसे 'जाने' का अर्थ क्या हुआ? जो पर्याय उसकी ओर ढली। अर्थात् चैतन्य सत्ता अविच्छिन्न धारा से द्रव्यरूप है, ऐसा ज्ञान की पर्याय जाने। और उसके गुण हैं विशेषरूप से भेदरूप, उसे ज्ञान की पर्याय जाने। जानने में कुछ राग होता है, ऐसा नहीं है। और पर्याय व्यतिरेक है—भिन्न-भिन्न है, उसे पर्याय जाने। इसका अर्थ यह हुआ कि पर्याय को द्रव्य पर दृष्टि देनी। आहाहा!

जिसे आत्मा जानना हो और जिसे धर्म करना हो, जिसे सुखी होना हो, उसे क्या करना, यह बात है। उस सुख का सागर द्रव्यस्वभाव कायम है, दूसरे का लक्ष्य छोड़कर और यह वस्तु है शाश्वत् ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... उस पर दृष्टि देना। आहाहा! और उसके गुण जो भेदरूप विशेषरूप है, उन्हें भी इसे जानना चाहिए और स्वयं जो पर्याय जाननेवाली है उत्पाद-व्यय, उसे भी जानना चाहिए। आहाहा!

मुमुक्षु : जानना... जानना... जानना... दूसरा काम...

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा क्या होगा? परन्तु इसका स्वभाव ही ज्ञान है वहाँ। वही यहाँ कहेंगे। **'ज्ञप्तिविग्रहम्'** ज्ञान जिसका शरीर है, उपयोग जिसका स्वभाव है त्रिकाल, हों! आहाहा! ज्ञानज्ञप्ति जिसका विग्रह है। ऐसा है न? शरीर। उसका शरीर अर्थात् उसका स्वरूप चेतन ज्ञ—स्वभाव, उपयोगस्वभाव जानना-देखना। क्रिया नहीं। उसका स्वभाव। त्रिकाल है, उसे पर्याय से जानना। आहाहा!

यह पर्याय अपने द्रव्य को... यह यहाँ कहते हैं न कि **मैं गोरा हूँ, मैं स्थूल (मोटा) हूँ अथवा मैं कृश (पतला) हूँ; इस प्रकार से शरीर द्वारा आत्मा को, विशेषरूप अर्थात् विशिष्टरूप नहीं मानकर,...** ऐसा नहीं मानना। इसका अर्थ तो यह आया वहाँ कि अपना जो द्रव्य है... है... है... है... ऐसा जो ज्ञान हुआ, उसे गुण का ज्ञान हुआ, अपनी पर्याय... उस ज्ञान में स्व-परप्रकाशक पर्याय प्रगट हुई। उसे भी वह ज्ञान जानता है। वह ज्ञान जानते हुए अपने में नहीं, ऐसी दूसरी चीज़ अचेतनद्रव्य... ऐसा लिया न? एक-एक परमाणु का ओहोहो! अचेतन... अचेतन... अचेतन... अचेतन... अचेतन... द्रव्य। ऐसा ज्ञान उसे जानता है। और उसके गुण की विशेषता को भी जानता है और उसकी उत्पाद-व्यय होती पर्याय को भी वह जानता है। यह पर है और यह स्व है, ऐसा जानते हुए पर मेरे हैं, यह मोह उड़ जाता है। उनके सम्बन्धी का ज्ञान, वह स्वयं से हुआ है। दूसरा द्रव्य है, वह दूसरे द्रव्य का है। उसका द्रव्य, उसका गुण और पर्याय, ऐसा जो उससम्बन्धी का ज्ञान वह अपने में अपने से हुआ है। इसलिए उसे परद्रव्य की ममता या परद्रव्य मेरे हैं, यह बात उड़ जाती है। भ्रान्ति, मोह-मिथ्यात्व। आहाहा!

मिथ्यात्व के नाश करने का यह उपाय है। आहाहा! स्वयं वस्तु है यह वस्तु... वस्तु... वस्तु... उसके गुण हैं और उसकी पर्याय है। उसके अस्तित्व को ज्ञानपर्याय जाने। और वह पर्याय, पर का अस्तित्व मुझमें नहीं, तथापि उसके सम्बन्धी का अस्तित्व है, उसे मैं जानता हूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है। वह है, इसलिए जानने का स्वभाव है—ऐसा नहीं। मेरा स्वभाव है कि स्वद्रव्य-गुण-पर्याय को जानते हुए, स्व-परप्रकाशक पर्याय होती है, उसमें वह चीज़ ज्ञात होती है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! ऐसी

बात है। ऐसी शैली, ओहोहो! कैसी बात करते हैं! जहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय की, परन्तु बात कहाँ ले गये!

उसकी वर्तमान पर्याय जो है, जैसे सत्यार्थ का आश्रय करे तो सम्यग्दर्शन कहा तो उसके साथ हुआ ज्ञान, वह भी सत्यार्थ को जानता है, आहाहा! उसके भेद को जानता है। जानने के स्वभाव में कहीं अनेकपना जानना, वह कहीं विकार का-विकल्प का कारण नहीं है। वह तो ज्ञान का सविकल्प स्वभाव ही है। कि स्व को-पर को जानना, ऐसा सविकल्प अर्थात् स्व-परप्रकाशक ऐसा भाव। सविकल्प अर्थात् वह राग, वह नहीं। आहाहा!

इसे अपना स्वभाव, यह शरीरादि की विशेष अवस्था जो गौर, गेहूँवर्ण, कृश-पतला, यह खास दशायें हैं, वे मुझमें नहीं हैं। मेरे अस्तित्व में उनके सम्बन्धी का उस प्रकार का उस क्षण में वह ज्ञान मुझसे हुआ है, इसलिए उस ज्ञान में यह परचीज़ है, इतना वस्तु का ज्ञान होता है, परन्तु वह वस्तु मेरी नहीं। आहाहा! जिसका अस्तित्व अपने से स्वयंसिद्ध है, ऐसा जो अस्तित्व मौजूदगी, वह मेरी नहीं, पर की है। आहाहा! ऐसी अन्तर में ज्ञानदृष्टि करना... आहाहा! ज्ञान की वर्तमान दशा को द्रव्य का और गुण का और अपना ज्ञान हो। आहाहा! वह ज्ञान अपना अस्तित्व—सत्ता जितनी है, उसका ज्ञान हुआ। उस ज्ञान में प्रतीति करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? और स्व का (ज्ञान) होने पर शरीरादि की अवस्था का ज्ञान, उसका अस्तित्व है—मौजूदगी है, यह उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में उसकी अस्ति है। तो यहाँ यह कहा, यह सफेद शरीर है और गोरा शरीर है और कृश शरीर है, कोमल शरीर है और रूपवान शरीर है। वह तो सब जड़ की विशेष अवस्थायें द्रव्य-गुणसहित की उसकी दशा है, वह तो। आहाहा!

इस प्रकार से शरीर द्वारा आत्मा को, विशेषरूप अर्थात् विशिष्टरूप नहीं मानकर,... ऐसा। ऐसी दशायें जो हैं, उसरूप जीव को नहीं मानकर। आहाहा! यह तो मार्ग ऐसा है, भाई! **चित्त में उसको नित्य-सर्वदा अविचलरूप भाना।** है? **'आत्मानं धारयेन्नित्यं'** आहाहा! ज्ञान की पर्याय में भगवान नित्य है, ऐसा उसे मानना। आहाहा! पर्याय स्वयं अनित्य है, (उसे) नित्य (द्रव्य) है उसको मानना। आहाहा! कैसी शैली

है ! ओहोहो ! सवेरे की गाथा थी १५४। यह केवलज्ञानी के पथानुगामियों की कथनी की शैली। ओहोहो ! जहाँ वस्तु की स्थिति ज्ञान में आवे और उसके अतिरिक्त वस्तु की स्थिति ज्ञान में ज्ञात हो, परन्तु यहाँ आवे नहीं, मेरी होकर रहे नहीं। आहाहा ! ऐसी अलौकिक बात। समझ में आया ? इसे उसका ज्ञान करना चाहिए। सब क्रियाकाण्डों की सब बातें, वे सब शुभभाव, यह तो कहेंगे... पुण्यबन्ध का कारण है। वह कोई धर्म नहीं।

धर्म तो यह धर्मी ऐसा जो चैतन्यस्वरूप, उसकी अस्तित्व की मौजूदगी की पर्याय में ज्ञान होना और उसके गुण हैं अनन्त विशेषरूप से। विशेषरूप से अर्थात् ? विशेष गुण, ऐसा नहीं कि सामान्यगुण और विशेषगुण, ऐसा नहीं। यह तो गुणों की विशिष्टता, भिन्न-भिन्नता, सामान्यगुण हो या विशेष हो। वे गुण हैं, वे विशेष उस द्रव्य का विशेष स्वरूप है। आहाहा ! उसे पर्याय से जानकर इस प्रकार से मानना और उसमें टिके रहने का नाम दर्शन-ज्ञान और चारित्र है।

इसमें कहीं किसी का करना, ऐसा तो आया नहीं। गिरधरभाई ! पर का करने की कोई अवस्था, वह मुझमें नहीं, मैंने उसकी की, (यह) कहाँ से आया ? मुझमें हो, मेरी सत्ता में उसका परिणमन करूँ या टालूँ, ऐसा हो; पर का परिणमन है, वह मेरी सत्ता में नहीं, उसे मैं करूँ किस प्रकार ? आहाहा ! पर की दया पालने की दशा, वह कहीं मेरी नहीं है, मैं नहीं कर सकता। आहाहा ! पर का जीवन-अस्तित्व रहे, उसे मैं जानूँ, परन्तु उसका अस्तित्व दया (द्वारा) जीवित रखूँ, उसका अस्तित्व मुझमें नहीं। आहाहा ! यह अहिंसा परमो धर्म लोगों ने ऐसा ठहराया। बाहर की अहिंसा, वह धर्म। वह यहाँ नहीं है।

यहाँ तो उस परद्रव्य का जो द्रव्य-गुण-पर्याय है, उसका अस्तित्व है। ऐसा उस समय अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के अस्तित्व के ज्ञान में उसका ज्ञान हो जाता है। वह ज्ञान हुआ, वह एकाग्रता, शुद्धता, उसका नाम यहाँ धर्म है, उसका नाम अहिंसा है। आहाहा !

कहते हैं कि, **चित्त में उसको नित्य-सर्वदा अविचलरूप भाना।** आहाहा ! अर्थात् ? मैं नित्य वस्तु हूँ, ऐसी पर्याय की भावना नित्य में करना। आहाहा ! **नित्य-सर्वदा अविचलरूप भाना। कैसे (आत्मा को) ? केवल ज्ञानविग्रहरूप अर्थात् केवल ज्ञानस्वरूप...** विग्रह अर्थात् स्वरूप किया। केवल ज्ञानस्वरूप, केवल ज्ञान विग्रह।

केवल ज्ञान विग्रह। केवल ज्ञान शरीर अर्थात् केवल ज्ञानस्वरूप। आहाहा! अकेला ज्ञान जिसका स्वरूप है, ज्ञान जिसका शरीर है। शरीर अर्थात् यह स्वरूप है उसका। जैसे यह जड़ का शरीर है, वैसे आत्मा का ज्ञान शरीर है। आहाहा!

केवल ज्ञानविग्रहरूप अर्थात् केवल ज्ञानस्वरूप... विग्रह का अर्थ स्वरूप किया। **अर्थात् केवल रूपादि रहित ज्ञप्ति...** जिसमें रूप, गन्ध, रस, स्पर्श की दशायें नहीं। ऐसी उपाधिरहित ज्ञप्ति अर्थात् **उपयोग ही...** त्रिकाल जानना-देखना ऐसा उपयोग ही **जिसका विग्रह अर्थात् स्वरूप है,...** आहाहा! यह शरीर की व्याख्या चलती है न, इसलिए यह शरीर लिया। यह जड़ का शरीर। यह (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है शरीर। ज्ञान का पुंज, ज्ञान का पुंज नित्य, उसकी भावना करना, उसमें एकाग्र होना, ऐसा। आहाहा! तब उसे अहिंसा अर्थात् वीतरागता प्रगट होती है। अहिंसा अर्थात् वीतरागता। आहाहा!

ज्ञप्ति ही-उपयोग ही जिसका विग्रह अर्थात् स्वरूप है,... उस दूसरे के अस्तित्व से यह हुआ है, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह तो आया था सवेरे। अजीव-अजीव के, तू तेरे ज्ञान की पर्याय से अजीव... अजीव... अजीव... अजीव... अजीव... अचेतन कायम है और उसके गुण भी विशेष है, ऐसा जान और उसकी पर्याय भिन्न-भिन्न होती है, ऐसा जान, लो। भिन्न-भिन्न क्यों हुई? कि मैं था और हुई, निमित्त था और हुई— ऐसा नहीं है। उसकी पर्याय व्यय और उत्पाद... व्यय और उत्पाद... होने का उसका अस्तित्व का गुण ही है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् है। आहाहा!

यह तो कहे निश्चय से बात कहे। दो नय है या नहीं? दूसरा नय... दूसरा नय है, वह जानता है। परन्तु दूसरा नय है, ऐसा पर को मैं करता हूँ, ऐसा उस नय का विषय नहीं है। आहाहा! मार्ग ऐसा है, बापू! अन्तर में सन्मुख होना और पर से विमुख होना, पर के अस्तित्व से ज्ञान करे। परन्तु लक्ष्य में उसे विमुख करे। आहाहा! लक्ष्य तो स्वभाव-सन्मुख रहे। जिसका जिसमें अस्तित्व है। आहाहा! उसे चित्त में धारना। अर्थात् ज्ञान की पर्याय में उसे धारना, उसे जानना, उसे मानना। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे आचरना।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे आचरना अर्थात् चेतना। आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

वाद-विवाद करे तो पार आवे, ऐसा नहीं है। व्यवहार के लक्षण आवे न, और आता है न पहली गाथा में नहीं ? पंचास्तिकाय में, नियमसार में। जिनवाणी में दो नय का कथन है। पहले ही श्लोक आता है। सर्वस्वकथन... पद्धति दो नय है। द्रव्य और पर्याय दो है सही न ? अर्थात् दो नय का सर्वस्व कथन है, परन्तु कथन है; इसलिए दूसरे नय का कथन आदरणीय है, आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह कहते हैं। गाथा आती है न नियमसार में ? और पंचास्तिकाय में आती है।

पर्याय और रागादि है, उसे जानने का विषय बताते हैं। परन्तु इससे व्यवहारनय का विषय है, उससे निश्चय होता है, ऐसे नय का विषय रहे तो दो नय का विरोध है। इसलिए ऐसा यहाँ आया देखो! भगवान ने तो दो नय का कहा। तुम अकेले निश्चय-निश्चय की बातें करो। अरे... दो नय का आता है, बापू! आहाहा! पर की उपेक्षा की, वहाँ व्यवहार की अस्तित्वता आ गयी अन्दर। समझ में आया ? भाई ने डाला है न, फूलचन्दजी ने। भाई यह तो... परन्तु पर की उपेक्षा हुई, वह व्यवहार की अपेक्षा से सिद्ध किया। बस। जिससे उपेक्षा हुई और यहाँ अपेक्षा की द्रव्य पर। आ गया व्यवहार है इतना। आहाहा! दो नय का कथन है... प्रत्येक द्रव्य के लिये है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है वहाँ। एक नय का स्वरूप है, वह आदरणीय है; दूसरे नय का विषय है, वह जाननेयोग्य है। आदरणीय और जानना ऐसे दो हैं। हेयरूप से जानना और उसे उपादेयरूप से ग्रहण करना। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि उपयोग जिसका स्वरूप। विग्रह है न ? विग्रह अर्थात् शरीर। अर्थात् उसका अस्तित्व ज्ञानस्वरूप से है, प्रभु। ज्ञान का स्वरूप उसका है; इसलिए ज्ञानशरीर उसका है। ज्ञान उसका शरीर है। शरीर अर्थात् स्वरूप है, वह त्रिकाल ज्ञानस्वरूप का पुंज है, ऐसे ज्ञान की पर्याय में धारना, भाना। आहाहा! भारी कठिन बात। वह महावीर का सन्देश देने जाते हैं। गये, कहते हैं। साथ में लोग बहुत हैं। हों उनकी शैलीवाले। सेठिया हों, पैसेवाले हों, पैसा खर्च करे। मानो ऐसा लगे, ओहोहो! अब यह उसे खबर नहीं कि महावीर का सन्देश क्या है ? आहाहा!

णमो लोए सव्व साहूणं। सब साधु इसमें आये। इसमें जैन के ही आये, ऐसा कहाँ आया ? आहाहा!

मुमुक्षु : मुसलमान के फकीर भी आ गये?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे सब आ गये।

मुमुक्षु : और क्रिश्चियन के पादरी भी आ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... यह तो हमारे ताराचन्दभाई कहते थे, हों! वीरजीभाई के पिता। इस आँकड़ा के ऊपर से कहते थे। इतना आँकड़ा शास्त्र में है साधु का। तो वे साधु सब कहाँ से? दूसरे सब इकट्ठा करोगे तब, ऐसा कहते थे।

मुमुक्षु : यह आँकड़ा मिले उसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आँकड़ा क्या? आहाहा!

साधु तो स्वरूप जो पूर्णानन्द का स्वरूप है, उसे साधते हैं, वे तो वीतरागीदशा में ही होते हैं। वे वीतरागमार्ग के अतिरिक्त वह अन्यत्र हो नहीं सकते। साधु कहाँ से आये? अनन्त गुण का एकरूप, उसे जो पर्याय साधती है (अर्थात्) निर्णय करके स्थिर होती है, वह तो वस्तु के स्वरूप में है, उसे साधु कहते हैं और उसे मोक्ष के मार्ग में सर्व साधु उसे कहते हैं। सर्व साधु अर्थात् ऐसे तो शास्त्र में ऐसा है, लो!

णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं। णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं। आहाहा! ऐसा है न? धवल में ऐसा है। णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं... णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती... आहाहा! अरिहंताणं। णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आइरियाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं। इसका नाम णमोकार का पद है, लो! त्रिकालवर्ती में भविष्य के साधु जो होंगे, उन्हें भी नमस्कार है। भविष्य में तीर्थंकर का आत्मा होगा, उसे यहाँ वर्तमान में नमस्कार है। आहाहा! वह साधु यह। जो अनन्त गुण की संख्या का पार नहीं और उसका क्षेत्र मात्र शरीर के कद समान। ऐसा जो कद प्रमाण चौड़ा और अनन्त गुण के विस्तार से भरपूर यह सर्वज्ञ ने देखा, वह आत्मा। ऐसे गुण (मय को) पर्याय में मानकर, जानकर उसमें स्थिर हो, वह तो वीतरागमार्ग में ही होता है। अन्यत्र यह हो नहीं सकता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ऐसा जो भगवान आत्मा वस्तुरूप से ज्ञानस्वरूप है।

उपयोगस्वरूप। उपयोग अर्थात् त्रिकाल, हों! ज्ञप्ति कहा है न? ज्ञप्ति का अर्थ उपयोग कहा। जिसका विग्रहस्वरूप है, ऐसा आत्मा। उसे चेतना अर्थात् ज्ञान की पर्याय में उसे धारणा, उसे मानना, उसे जानना, उसकी भावना करना। आहाहा! यह वस्तु है। पहले उसका सच्चा ज्ञान तो करे कि वस्तु तो यह है। ज्ञान में उसे लक्ष्य में यह निर्णय करे, स्वरूपसन्मुख में एकाग्र होना, वही धर्म है, बाकी कोई धर्म है नहीं। आहाहा!

भावार्थ - गोरापना,... यह परमात्मप्रकाश का लिखा है नीचे। गोरापना अर्थात् रूपवानपना। **स्थूलपना, कृशपना...** बड़ा हाथी का शरीर ऐसा रहे ऐसे। उसे क्षय लागू पड़े शरीर में जब, तब चिड़िया के टेंटा जैसा अन्दर से। शैय्या में पड़ा हो। आहाहा! वह सब दशायें-अवस्थायें शरीर की हैं, आत्मा की वह अवस्था है नहीं। पुद्गल की है, वह आत्मा की नहीं। आहाहा! परमाणु के अस्तित्व में उसकी दशा है। आत्मा के अस्तित्व में वह दशा नहीं। पानी का लोटा हो लोटा, उस लोटा का आकार और अन्दर पानी का आकार दोनों भिन्न-भिन्न हैं। पानी के आकाररूप पानी उसके आकार में रहा है, परन्तु वह तो अपने आकार में है। वह इसके (लोटा के) आकार में नहीं। वह लोटा का आकार, उसमें पानी का आकार नहीं, इसी प्रकार यह लोटा शरीर के आकार लोटा है, उसके आकार में चैतन्य का आकार भिन्न है। उस आकार में आत्मा है, ऐसा नहीं। आहाहा! आत्मा के प्रदेश इस प्रकार ऐसे देहस्थान, आँख-कान, और यह आकार देह के हैं, यह आत्मा के नहीं।

इन शरीर की अवस्थाओं के साथ आत्मा को एकरूप नहीं मानना। आहाहा! **अर्थात् उन अवस्थाओं को आत्मा का स्वरूप नहीं मानना। आत्मा को शरीर से भिन्न, रूपादिरहित...** अर्थात् उसके गुण। यह शरीर गोरा, कोमल, आकृति यह सब। प्रत्येक अवयव की आकृति सुन्दर, वह तो सब जड़ की पर्याय है। आहाहा! **और केवल ज्ञानस्वरूप ही समझना...** देखा! भगवान आत्मा को अकेला जाननस्वभाव, पर्याय में ऐसा समझना कि यह तो ज्ञायक जाननस्वभाव है। ध्रुव में ध्रुव और ध्रुव के गुण के लिये यह समझाने का नहीं है। इसलिए चित्त में कहा न? उसकी पर्याय में। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु है, ऐसा जानना। आहाहा!

शरीर की अवस्था होने में जिसे उत्साह है होंश-होंश। आहाहा! भगवान की भक्ति के समय भाषा जोर से निकले और तालियाँ बजे ऐसे। वह सब जड़ की अवस्थायें स्वतन्त्र हैं। उसमें आत्मा नहीं। आहाहा! भोगीभाई भक्ति करते हुए किसी समय देखा है? भोगीभाई। भूल गये हों। धुन चढ़े। वह तो सब अवस्थायें शरीर की हैं। उनमें आत्मा कहाँ आया और आत्मा ने कहाँ किया था कुछ?

केवल ज्ञानस्वरूप ही समझना और उस स्वरूप से ही उसका... वह स्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप **उसका निरन्तर चित्त में ध्यान करना।** आहाहा! ज्ञान की पर्याय में उसे ध्येय बनाना। ध्यान की पर्याय में, ज्ञान की पर्याय में उसे विषय बनाना, इसका नाम ध्यान और इसका नाम ध्याता ने ध्यान जीव का किया स्वयं। आहाहा! ७० हुई।

श्लोक - ७१

यश्चैवं विधमात्मानमेकाग्रमनसा भावयेत्तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येत्याह -

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥ ७१॥

एकान्तिकी अवश्यम्भाविनी तस्यान्तरात्मानो मुक्तिः। यस्य चित्ते अविचला धृतिः आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसत्तिर्वा यस्य तु चित्ते नास्त्यचला धृतिस्तस्य नैकान्तिकीमुक्तिः॥७१॥

जो इस प्रकार के आत्मा की एकाग्र मन से भावना करता है, उसको ही मुक्ति होती है; अन्य किसी को नहीं-यह कहते हैं —

चित में निश्चल धारणा, उसे मुक्ति का योग।
जिसे न निश्चल धारणा, शाश्वत मुक्ति-वियोग॥ ७१॥

अन्वयार्थ **- (यस्य) जिस पुरुष के (चित्ते) चित्त में (अचला) आत्मस्वरूप की निश्चल (धृतिः) धारणा है, (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः) एकान्त से अर्थात् नियम से मुक्ति होती है। (यस्य) जिस पुरुष की (अचलाधृतिः नास्ति)**

आत्मस्वरूप में निश्चल धारणा नहीं है, (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः न) अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है।

टीका **- एकान्तिकी अर्थात् अवश्य होनेवाली मुक्ति, उस अन्तरात्मा को होती है कि जिसके चित्त में अविचल (निश्चल) धृति अर्थात् आत्मस्वरूप की धारणा होती है और स्वरूप में प्रसत्ति (लीनता) होती है परन्तु जिसके चित्त में अचल धृति (धारणा) नहीं होती, उसको अवश्यम्भावी मुक्ति नहीं होती।**

भावार्थ - जिसका उपयोग अन्यत्र न भ्रमकर, आत्मस्वरूप में ही स्थिर होता है, उसकी मुक्ति नियम से होती है परन्तु जिसका उपयोग एक से दूसरे (स्थान पर) भ्रमता है और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता, उसकी मुक्ति कभी नहीं होती।

जहाँ मोहभावसहित उपयोग, परपदार्थों में अटकता है, वहाँ सविकल्पदशा वर्तती है; उस सविकल्पदशा में उपयोग, आत्मा में स्थिर नहीं हो सकता। निर्विकल्पदशा में ही उपयोग, आत्मस्वरूप में स्थिर हो सकता है। जिसका उपयोग, आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, उसको ही मुक्ति होती है; अन्य को नहीं॥७१॥

श्लोक - ७१ पर प्रवचन

७१। **जो इस प्रकार के आत्मा की एकाग्र मन से भावना करता है,...** जो यह आत्मा वस्तुरूप से चेतन, गुणरूप से चैतन्य, पर्यायरूप से इसकी पर्याय व्यतिरेक भिन्न-भिन्न, ऐसा जो ज्ञान करके, उसमें—आत्मा की एकाग्र भावना करे। मन से अर्थात् भाव अन्दर से। **उसको ही मुक्ति होती है;...** क्योंकि राग से मुक्त है। राग के अस्तित्व से भी उसका अस्तित्व भिन्न है। अबद्धस्पृष्ट कहा न? अबद्धस्पृष्ट कहो या मुक्तस्वरूप कहो। आहाहा! ऐसे बद्धस्पृष्ट नहीं, ऐसा कहा, ऐसा कहो तो मुक्त वस्तु है न चैतन्यस्वरूप। वस्तु बँधी नहीं। पर्याय में अवस्था में बन्ध और मोक्ष है। वह बन्ध-मोक्ष स्वरूप में नहीं है। आहाहा! लो, भाषा ऐसी ली है परमात्मप्रकाश में। 'जीव न करे बन्धन, जीव न करे मोक्ष' जीव बन्ध और मोक्ष को नहीं करता। ओहोहो!

त्रिकाली चैतन्यमूर्ति भगवान, वह बन्ध-मोक्ष पर्याय को किस प्रकार करे?

आहाहा! जैसे परमाणु दूसरे परमाणु के स्निग्ध-रूक्षता की योग्यता से व्यवहार से बँधा हुआ-छूटा हुआ, ऐसा कहलाता है। ऐसे व्यवहारनय से ऐसा ज्ञात होता है। राग का सम्बन्ध था, उस राग का अभाव हुआ, यह व्यवहारनय का कथन है। पुद्गल का सम्बन्ध था और छूटा, वह व्यवहारनय का ज्ञान। और निश्चय का, स्वयं ही अपने से शुभराग से बँधा (था), वह छूटा, वह अपना निश्चयस्वभाव। उसके पुद्गल का निमित्त और अभाव, उसका सम्बन्ध उसमें निश्चयनय में नहीं आता। ४७ नय है न? व्यवहारनय न! व्यवहारनय, निश्चयनय है। है तो एक ही समय में दोनों। आहाहा! पर की अपेक्षा से जो जानना कि यह बन्ध था और बन्ध का अभाव, वह व्यवहारनय है। और स्वयं ही अपने से राग में अटका हुआ (था) बन्ध में और स्वयं ही राग से छूटकर मुक्त हुआ, उसमें पर की कोई अपेक्षा आयी नहीं, यह निश्चय हुआ। आहाहा! ऐसे शास्त्र के कथन आगे-पीछे के मिलावे नहीं और एकान्त माने। यह ऐसा कहा है।

पंचास्तिकाय में पहले नहीं आता? भाई! व्यवहारनय से ऐसा कि यह बन्ध-मोक्ष पर से भिन्न है। व्यवहार से ऐसा आता है न व्यवहारनय? क्या कहा पहले? पंचास्तिकाय की नहीं? १७२ गाथा। है? १७२ नहीं? **अनादिकाल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिक जीव व्यवहारनय से भिन्न साध्यसाधन को अवलम्ब कर...** है न? **सुख से तीर्थ की शुरुआत करते हैं।** यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। स्व का आश्रय लेकर जो निर्मलदशा है, उसे यहाँ निश्चय कहा। उसके साथ जरा रागभाग बाकी है और वह पर्याय स्वयं ही व्यवहार है। त्रिकाली निश्चय है, उसकी अपेक्षा से मोक्ष का मार्ग स्वयं ही व्यवहार है। भेदरूप पर्याय है न? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **इस प्रकार के आत्मा की एकाग्र मन से...** भाषा ऐसी है न? मनसा। मन अर्थात् ज्ञान की पर्याय। **भावना करता है, उसको ही मुक्ति होती है; अन्य किसी को नहीं-यह कहते हैं—**

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥ ७१॥

चित में निश्चल धारणा, उसे मुक्ति का योग।
जिसे न निश्चल धारणा, शाश्वत मुक्ति-वियोग॥ ७१॥

अस्ति-नास्ति से बात करते हैं। आहाहा!

टीका - एकान्तिकी अर्थात् अवश्य होनेवाली मुक्ति, उस अन्तरात्मा को होती है... एकान्तिक अर्थात् अवश्य होनेवाली मुक्ति, ऐसा। **उस अन्तरात्मा को होती है कि जिसके चित्त में अविचल (निश्चल) धृति अर्थात् आत्मस्वरूप की धारणा होती है...** जिसकी पर्याय ज्ञान में लीन है, उसकी मुक्ति होती है। **जिसके चित्त में अविचल (निश्चल) धृति अर्थात् आत्मस्वरूप की धारणा होती है...** धारणा अर्थात् ? जिसके ज्ञान की पर्याय में ज्ञानस्वभाव का एकाग्र (पना) है।

और स्वरूप में प्रसत्ति (लीनता) होती है... जिसे आनन्दस्वरूप भगवान, ज्ञानस्वरूप जिसका त्रिकाल, उसमें जिसकी लीनता है। शुभ व्यवहार मोक्षमार्ग है, उसे यहाँ मोक्षमार्ग नहीं कहा। वस्तु जो है त्रिकाल नित्यानन्द प्रभु, उसमें जिसकी लीनता है, उसकी मुक्ति है। जिसका चित्त भक्ति और व्रत और नियम में डाँवाडोल होता है, उसकी मुक्ति नहीं है, ऐसी कहते हैं। समझ में आया ? जिसकी ज्ञानपर्याय त्रिकाल में लीन है, मुक्तस्वरूप में जिसकी पर्याय लीन है, उसकी मुक्ति होती है। आहाहा! राग, वह तो बन्धस्वभाव है। यह तो आ गया। बन्ध का लक्षण है। राग, वह तो बन्ध का लक्षण है, और भगवान आत्मा का चेतना लक्षण है।

जिसकी ज्ञान की पर्याय त्रिकाल में लीन है, मुक्तस्वरूप में जिसकी पर्याय लीन है, उसकी मुक्ति होती है। राग, वह तो बन्धस्वभाव है। यह तो आ गया न ? बन्ध का लक्षण है। राग, वह तो बन्ध का लक्षण है। भगवान आत्मा का चेतना लक्षण है। बन्ध के लक्षण में एकाग्र हो और मुक्ति हो, व्यवहार (कथन) है यह तो। ऐसा स्वरूप नहीं है। आहाहा! यह ज्ञानस्वरूप चैतन्य प्रभु केवलज्ञान विग्रह—अकेला ज्ञान ही जिसका स्वरूप है। रागादि जाति जिसे नहीं है। अरे! जिसमें अल्पज्ञता नहीं। केवल ज्ञानस्वरूप कहा न उसमें से ? कवलज्ञान की पर्याय, ऐसा नहीं। केवल ज्ञान—अकेला ज्ञानस्वरूप। उसमें जिसकी लीनता है, उसकी मुक्ति है। आहाहा!

तब ऐसा कहे कि परन्तु अभी मुक्ति तो नहीं। अरे, सुन न, भाई! जहाँ दृष्टि ने निजस्वरूप को स्वीकार किया, उतनी तो मुक्ति तो पर्याय को हो गयी। मुक्तस्वरूप है,

अबन्धस्वरूप है, मुक्तस्वरूप वस्तु है, उसका पर्याय में स्वीकार हुआ, वह तो मुक्तस्वरूप है, ऐसा स्वीकार हुआ। और ऐसा स्वीकार होने पर पर्याय में भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तो छूट गया है और सम्यग्दर्शन की स्थिरता का अंश प्रगट हुआ, वह तो मुक्तस्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? इसमें तो भाई! बहुत जिसे आत्मा की दरकार हो, उसकी यहाँ तो बात है। बाहर में धमाधम करे, यह सब मकान (मन्दिर) बनावे, हमने ऐसा किया, हमने वहाँ उपस्थित-खड़े रहकर यह किया, इससे हमें धर्म का लाभ होगा।

... गये थे.. .... मन्दिर बनाना हो न .... बनाते थे। साधु सब कराते थे। आहाहा! कितना बिगाड़ हो गया है जैनधर्म में। साधु की खबर नहीं होती कि साधुपना किसे कहना? आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु में लीनता होना, दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इसका नाम साधु। पंच महाव्रत, वह भी साधुपना नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

एकान्तिकी अर्थात् अवश्य होनेवाली मुक्ति, उस अन्तरात्मा... जो वस्तु है, उसमें जिसकी लीनता, वह अन्तरात्मा। आहाहा! समझ में आया? **जिसके चित्त में अविचल (निश्चल) धृति अर्थात् आत्मस्वरूप की...** पर्याय में अनुभव की लीनता है कि **जो स्वरूप में प्रसत्ति (लीनता) होती है परन्तु जिसके चित्त में अचल धृति (धारणा) नहीं होती,...** आहाहा! जहाँ चित्त ... विकल्प में घूमा करता है ऐसे। यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... उसकी मुक्ति नहीं है। समझ में आया? मन्दिर बनाऊँ, पुस्तक बनाऊँ और... शास्त्र बनाऊँ, ग्रन्थ बनाऊँ—ऐसी चीज़ की वृत्ति जिसकी बाहर घूमती है, उसे धर्म नहीं अर्थात् उसे मुक्ति नहीं है। आहाहा!

जिसके चित्त में अचल धृति (धारणा) नहीं होती,... अर्थात् अखण्ड आनन्दस्वरूप में जिसकी दर्शन-ज्ञान-चारित्र से लीनता नहीं, **उसको अवश्यम्भावी मुक्ति नहीं होती।** वह अवश्य मुक्त नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? समयसार में तो कहा न? छठवें गुणस्थान में भी महाव्रत का विकल्प है, वह संसार है। आहाहा! अब उसे मोक्ष का मार्ग मानना, (यह विपरीतता है)।

मुमुक्षु : व्यवहार है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार अर्थात् 'है नहीं उसे कहा—जाना है।' आहाहा! वहाँ जगपन्थ कहा है, लो! शुभभाव। भूमिका के योग्य महाव्रत के परिणाम, वह तो संसार है। उस संसार की ओर झुका। मोक्ष की ओर से हट गया है। आहाहा! जिसकी दृष्टि में, ज्ञान में पूर्ण स्वरूप तैरता है, जिसे स्वरूप का अनुभव है, उसकी स्थिरता भी स्वरूप में लीनता उतनी है। परन्तु वह जो प्रमत्तदशा में आया है, इसलिए उसे पंच महाव्रत के विकल्प, पर का विनय करना, उस जीव को ऐसा भाव आता है। वह जगपंथ की ओर झुका हुआ है। आहाहा! क्या शैली! वह संसार की ओर झुका हुआ भाव है।

पंच महाव्रत... समिति, गुप्ति, व्यवहार का भाव-विकल्प, वह संसारपंथ है। आहाहा! अर्थात् संसार की ओर झुका हुआ है। और जिसे ...में रस पड़ता है या पुण्य में रस पड़ता है, वह तो शुद्ध की ओर से हट गया है। यह रस पड़ता है, उसमें पुण्य करने का भाव होता है। वह तो शुद्धस्वभाव से हट गया है। उसे मुक्ति नहीं है, उसे संसार मिलेगा। फिर स्वर्ग मिले या राजा या सेठाई मिले, वह सब संसार है। आहाहा! अर्थात् दुःखरूप दशा में जायेगा। आहाहा!

मुमुक्षु : अकेला दुःखरूप....

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा क्या था वहाँ? ऐई... गिरधरभाई!

मुमुक्षु : .... तो भी दुःखरूप?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी अनुकूलता की बात कहाँ है? इससे क्या? सेठ अर्थात् क्या? किसका? राग का-पर का या स्व का? मुक्ति तो मुक्त जिसे निश्चय स्वस्वभाव में वह मुक्ति है मुक्त में। यह सब व्यवहार मिथ्या सब ... नीचे पड़े हैं। सेठिया नहीं, सब वेठिया है। ऐसी बात है। विशेष कहेंगे, लो....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण १५, बुधवार, दिनांक ०९-०७-१९७५, श्लोक-७१-७२, प्रवचन-८४

७१ गाथा।

मुमुक्षु : भावार्थ।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावार्थ बाकी है? ठीक।

भावार्थ - जिसका उपयोग अन्यत्र न भ्रमकर, आत्मस्वरूप में ही स्थिर होता है,... ऐसी वस्तु आत्मा जो है, वह शुद्ध पूर्ण आनन्दघन, उसकी प्रथम दृष्टि होकर अनुभव होना, यह मार्ग की शुरुआत है। यह सब विवाद। नहीं आया। वह आया था, एक आता है न? साधु नहीं था? जवाहर के साथ साधु था। छोड़ दिया था, बाद में आया था। बैठा था घण्टे भर। कुछ ठिकाना नहीं। बोटाद में आया था। यहाँ बहुत बार आता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बिना ठिकाने का व्यक्ति। मुझे चेला बना दो, नहीं? एक आता है भटकाऊ स्थानकवासी साधु था जवाहरलालजी का। बड़बोला। सर्वत्र भाषण दे। स्थानकवासी में दे, मन्दिरमार्गी में दे, वैष्णव में दे। एक मासिक निकाला है। सर्वाम्बर... सर्वाम्बर... सर्वाम्बर... दिगम्बर और श्वेताम्बर, ऐसा सर्वाम्बर। कुछ ठिकाना नहीं। ऐसा कि यह सब भविष्य में मरकर वहाँ जाते हैं, उसका यहाँ निर्णय करना है यहाँ कहीं? यह करो। ऐसा कहता है। कुछ भविष्य में क्या होगा किसे खबर? आहाहा! ऐसा कि यह पहले यहाँ निकालो, ऐसा हो तो। मार्ग यहाँ है। कि भविष्य में उसे यह अमुक यहाँ दो। उसे शोधने का। परन्तु शोधने का निश्चित ही है।

जिसकी दृष्टि स्वभाव की हुई, उसे कुछ राग बाकी हो, वह स्वर्ग में जाये व्यवहार से। और जिसकी दृष्टि का ठिकाना नहीं, वह मिथ्यादृष्टि चार गति में भटके और जाये। जायेगा वहाँ... ऐसा निश्चित करे बाहर से तो जाये और नहीं तो नहीं, ऐसा है? आहा! बात यह भविष्य में होना हो, वह होगा। अभी का अपने कर लो समान। बस। आहाहा! भविष्य में क्या होगा? आत्मा अनादि अनन्त है। उसकी दृष्टि या अनुभव किया, उसका आश्रय किया तो भविष्य में भी उसमें रहेगा। थोड़े काल रागादि होंगे, तब

तक भव करेगा। परन्तु वह तो ज्ञान के ज्ञेयरूप से है। और जिसकी श्रद्धा का ठिकाना नहीं। सब धर्म समान। बस। सब धर्म समभाव से देखो।

मुमुक्षु की कहीं तकरार... घूमता है और बहुत घूमता है। कुछ हुआ है गुना में विवाद। गुना के खण्डवा की बात करते हैं, फिर सच्ची हो या नहीं। ऐसा कि यह तुम्हारे सब मुमुक्षु दूसरे को मिथ्या सिद्ध करके वापस विवाद करते हैं, मारते हैं। ऐसा है। आये नहीं। कहते थे, भाई! तीन से चार व्याख्यान हैं।

मुमुक्षु : मैंने पूछा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूछा था न, परन्तु उसे बोलने का सही न। यहाँ बोलने का कहा सही, यहाँ वाँचने का नहीं। यहाँ किसी का वाँचने का नहीं। खाने का, खाने का? बहुत पैसा खर्च कर खाता है। है। नहीं, तुम पहिचानते नहीं। अपने पहले आया था। बहुत वाचाल है। स्थानकवासी में बहुत भाषण दे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आया नहीं था?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वह। वह आज भी यहाँ। आज भी कहे कल्याण दो-आशीर्वाद दो, कहे। क्या आशीर्वाद दूँ? कहा...

यहाँ तो कहते हैं 'जिसका उपयोग अन्यत्र नहीं भ्रमता आत्मस्वरूप में ही स्थिर होता है,...' जिसकी दृष्टि, अन्तर्मुख जिसकी दृष्टि हुई है अर्थात् कि जिसकी वर्तमान पर्याय जो है, वह तो पूरे असंख्य प्रदेश में है न? वह असंख्य प्रदेश में पर्याय जो है, उसका लक्ष्य बाहर है। उसे-एक समय की पर्याय कि ऐसा यहाँ काम नहीं अभी। वह पर्याय जो सामान्य पर नहीं है और विशेष जो पर्याय बाहर जाती है, उस विशेष पर्याय को... एक समय की या ऐसा कुछ नहीं। जो पर्याय है, उसे अन्तर्मुख द्रव्य जहाँ ध्रुव है, अबद्धस्पृष्ट कहो, ध्रुव कहो, वहाँ आगे उसकी दृष्टि रखना कि जिससे उसे आत्मा क्या है, उसकी प्राप्ति पर्याय में हो। ऐसी बात है, भाई! आहाहा! इसके अतिरिक्त सब जितनी क्रियायें और उसमें से धर्म मानना और सब धर्म समान, यह सब मिथ्यात्वभाव है।

यहाँ कहते हैं, जिसे उस आत्मा की दृष्टि हुई है, उसे उपयोग अन्यत्र नहीं भ्रमकर आत्मस्वरूप में उसे स्थिर करना। आहाहा! उसे नियम से मुक्ति होती है। क्योंकि वह मुक्तस्वरूप पूर्ण शुद्ध अबद्धस्पृष्ट उसकी दृष्टि में, अनुभव में आया और उसने उसमें स्थिरता की, उसे निश्चय से परमानन्दरूपी, परम आनन्द का लाभ—ऐसा मोक्ष उसे होता है। ऐसा है। मोक्ष नहीं कहा वहाँ? नियमसार में कहा है न?

मुमुक्षु : आत्मलाभ।

पूज्य गुरुदेवश्री : परम आनन्द का आत्मलाभ, वह मोक्ष। ऐसा कहा है।

मूल तो परम आनन्दस्वरूप जो आत्मा का, ऐसा जो अन्तर्दृष्टि में, वेदन में आया, इससे उसे स्थिरता होते-होते वह परमानन्द जो स्वभाव में पूर्ण है, वह पर्याय में प्राप्त होता है, इसका नाम मुक्ति है। आहाहा! उसे निश्चय से मुक्ति होती है। जिसने आत्मा को दृष्टि में लिया, पर्यायबुद्धि छोड़ दी, अंश पर जो दृष्टि थी और अंश की दृष्टि लम्बी जाती तो राग में और पर में जाती थी। ऐसा जिसे आत्मस्वरूप जो शुद्ध चैतन्य ध्रुव, जो वास्तविक जिसे निश्चय आत्मा कहते हैं, उसकी दृष्टि होने पर उसे आत्मा कैसा है, वह प्राप्त पर्याय में हुआ। फिर उसे स्वरूप में स्थिरता करना, बस! यह उसका कर्तव्य है। पश्चात् भी व्रत पालना और यह विकल्प आवे, वह अलग वस्तु है। परन्तु अन्दर वस्तु में स्थिरता करना, वह शुद्ध चैतन्यघन पूर्ण आनन्द का धाम शुद्ध पूर्णस्वरूप, ऐसी जो दृष्टि हुई है, उसमें यह वस्तु ऐसी प्राप्त हुई, परन्तु अब उसमें स्थिरता करने से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति हो, ऐसा मोक्ष होता है, उसे निश्चय से मोक्ष होता है। आहाहा!

परन्तु जिसका उपयोग एक से दूसरे (स्थान पर) भ्रमता है... शुभभाव में या अशुभभाव में बाहर में रमता है **और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता, उसकी मुक्ति कभी नहीं होती।** भविष्य में कहाँ जायेगा? वह यह स्थिति होगी। जिसे भविष्य में आत्मा के स्वरूप में जिसने दृष्टि करके रमणता की है, उसे भविष्य में मुक्ति पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होगी ही। यह सब समझने योग्य था। ऐसा कुछ निश्चित हो ऐसा निकालो कि भविष्य में कहाँ गया, इसका निश्चित हो। अर्थात् कि उसका समझो सब। आहाहा! क्या हो? जगत के प्राणी में...

यह वस्तु और वह परमसत्य वस्तु वह यह, इस प्रकार ही यहाँ है। दिगम्बर धर्म में ही यह वस्तु है। अन्यत्र कहीं यह है ही नहीं। इसलिए दिगम्बर धर्म वह पक्ष है और दिगम्बर धर्म माना, इसलिए दिगम्बर मुनि नग्न, उन्हें मानने यह तो धर्म, ऐसा नहीं है। दिगम्बर मुनि होना चाहिए न? आहाहा!

मुमुक्षु : मुनि की जो व्याख्या है तत्प्रमाण।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह होना चाहिए।

यह चर्चा चली थी। कि यह सब दिगम्बर मुनि कहते हैं कि हमको मानते नहीं। हम दिगम्बर हैं। वे कहते हैं कि हम दिगम्बर धर्म को मानते हैं। कुछ ठिकाने बिना के। तब ऐसा कहे, लंगोटी तुम पहनो तो तुमको वे मानेंगे, ऐसा बोले।

मुमुक्षु : पंचायत में पड़ने का क्या काम?....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या काम, बापू! यह अवसर कब आये भाई! तेरा करने में से निवृत्त हो, तब पर की पंचायत लगाये न? आहाहा! अरेरे! आत्मा भविष्य में कहाँ जायेगा? और चौरासी के अवतार में कहाँ भटकेगा? आहाहा! दीर्घदृष्टि नहीं। दीर्घ काल का रहनेवाला तत्त्व, उसे दीर्घ दृष्टि से अन्तर देखने पर उसे अन्तर में स्थिर होने पर उसकी मुक्ति हुए बिना रहती नहीं। और जिसने ऐसा दीर्घदृष्टिस्वरूप दृष्टि में आया नहीं, और आने पर भी जिसका (उपयोग) शुभाशुभपरिणाम में भटका करता है, उसकी मुक्ति नहीं होती। क्योंकि दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र की पूर्णता, स्थिरता होना चाहिए न? स्थिरता बिना मुक्ति कहाँ से हो? समझ में आया?

आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता, उसकी मुक्ति कभी नहीं होती। आहाहा! छठवें गुणस्थान में एक महाव्रत का विकल्प आवे, वह भी संसार, वहाँ तक उसकी मुक्ति नहीं। उसे छोड़कर स्थिर होगा, उसकी मुक्ति। आहाहा! जन्म-मरण का-अनन्त संसार का अन्त लाने और अनन्त-अनन्त आनन्द की प्राप्ति करना अलौकिक बात है। वह कहीं सामान्य बात नहीं है। आहाहा!

जहाँ मोहभावसहित उपयोग, परपदार्थों में अटकता है, वहाँ सविकल्पदशा वर्तती है;... वहाँ तो रागवाली दशा वर्तती है। **उस सविकल्पदशा में उपयोग, आत्मा में**

स्थिर नहीं हो सकता। निर्विकल्पदशा में ही उपयोग, आत्मस्वरूप में स्थिर हो सकता है। जिसे शुभाशुभ विकल्परहित अन्दर स्थिर होता है। आहाहा! कितना इसे करना है? कहाँ तक करना है? कि अनुभव होने पर भी, इसे स्थिरता पूरी करनी है। स्थिरता किये बिना इसकी मुक्ति नहीं होगी।

जिसका उपयोग, आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, उसको ही मुक्ति होती है; अन्य को नहीं। आहाहा!

श्लोक - ७२

चित्तेऽचला धृतिश्च लोकसंसर्गं परित्यज्यात्मस्वरूपस्य संवेदनानुभवे सति स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह -

जनेभ्यो वाक्, ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥ ७२॥

जनेभ्योवाक् वचनप्रवृत्तिर्भवति। प्रवृत्तेः स्पन्दो मनसः व्यग्रतामानसे भवति। तस्यात्मनः स्पन्दाच्चित्तविभ्रमाः नाना विकल्पप्रवृत्तयो भवन्ति। यत एवं ततस्तस्मात् योगी त्यजेत् कं? संसर्गं सम्बन्धम् कैः सह? जनैः॥७२॥

चित्त में अचल धृति, लोक के संसर्ग का परित्याग करके, आत्मस्वरूप के संवेदन का अनुभव होने पर होती है; अन्य प्रकार नहीं-यह दर्शाते हुए कहते हैं —

लोक-संग से वच-प्रवृति, वच से चञ्चल चित्त।
फिर विकल्प, फिर क्षुब्ध मन, मुनिजन होंय निवृत्त॥ ७२॥

अन्वयार्थ - **(जनेभ्यो) लोगों के संसर्ग से (वाक्) वचन की प्रवृत्ति होती है; (ततः) उससे अर्थात् वचनप्रवृत्ति से (मनसःस्पन्द) मन की व्यग्रता होती है —उससे चित्त चलायमान होता है (तस्मात्) चित्त की चंचलता से (चित्तविभ्रमाः भवन्ति) चित्त में नाना प्रकार के विकल्प उठने लगते हैं-मन क्षुभित हो जाता है; (ततः)**

इसलिए (योगी) योग में संलग्न होनेवाले अन्तरात्मा को (जनैः संसर्ग त्यजेत्) लौकिकजनों के संसर्ग का परित्याग करना चाहिए।

टीका **- लोगों के साथ बोलने से वचन की प्रवृत्ति होती है; प्रवृत्ति से मन का स्पंदन -मन में व्यग्रता होती है; उस आत्मा के (भावमन के) स्पन्दन से चित्त विभ्रम अर्थात् विविध प्रकार के विकल्पों की प्रवृत्ति होती है; इसलिए योगियों को तजना। क्या (तजना) ? संसर्ग-सम्बन्ध। किसके साथ का ? लोगों के साथ का।**

भावार्थ :- लौकिकजनों के साथ वार्तालाप करने से मन व्यग्र होता है-चित्त चलायमान होता है और विविध प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। उससे आत्मस्वरूप में स्थिरता नहीं रहती; इसलिए आत्मस्वरूप के अभ्यासी को लौकिकजनों के संसर्ग से दूर रहना योग्य है।

विशेष स्पष्टीकरण -

साधक को जैसे-जैसे भेदविज्ञान का बल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसको पर पदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव होता है और वीतरागता बढ़ती है। वीतरागता के प्रमाण में वह आत्मस्थिरता प्राप्त करता है। स्वरूप स्थिरता के काल में लौकिकजनों के साथ का संसर्ग स्वयं छूट जाता है॥७२॥

श्लोक - ७२ पर प्रवचन

अब, ७२। **चित्त में अचल धृति,...** ज्ञान में अचल स्थिर होना, **लोक के संसर्ग का परित्याग करके,...** क्योंकि लोक का संसर्ग करेगा, तब तक वाणी का विकल्प वाणी का उठेगा और मन में परिस्पन्द विकल्प उठेगा। आहाहा! **आत्मस्वरूप के संवेदन का अनुभव होने पर होती है;...** संसर्ग का परित्याग करके, अचल स्थिर होती दृष्टि स्वभाव में, तब संवेदन होने पर उसे आत्मा का अनुभव होता है। **अन्य प्रकार नहीं (-यह दर्शाते हुए कहते हैं कि—)**

जनेभ्यो वाक्, ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥ ७२॥

यहाँ तो अन्तर में स्थिर होने का प्रश्न है न। समाधि है न? दृष्टि सम्यग्दर्शन में समाधि आयी, परन्तु स्वरूप की स्थिरता बिना पूर्ण समाधि नहीं होती और पूर्ण समाधि शान्ति के बिना मुक्ति नहीं होती। आहाहा! इसमें पर को कर दूँ, पर का यह करूँ, वह इसमें कहाँ है? यह प्रश्न है। यह मकान किये बिना हुआ?

मुमुक्षु : किसने किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : किया। करनेवाले ने किया। करनेवाले ने किया कि लो यह पत्थर अपने आप ऐसे जाता है? यह मैंने उठाकर रखा तो रखा गया। आहाहा!

जिसे यह निश्चय करना नहीं, मात्र लोक में-बाहर में मान प्राप्त करना है। अरे... उसमें क्या हुआ? भाई! यह मान नहीं रखा जाता—स्वर्ग से जाते हुए कहीं गिरवी रखा जायेगा? आहाहा! भगवान आत्मा अत्यन्त निवृत्तस्वरूप है। परिग्रह पाँच नहीं आते नियमसार में? पाँचवें में आते हैं। निवृत्तस्वरूप है। पर की अपेक्षा परिग्रह की है ही नहीं। पाँचवें महाव्रत की व्याख्या में आता है। आहाहा! जिसे अन्तर में स्थिर होना है, जिसे बाहर के किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। यह माने न, यह व्यवहार साधन है। शास्त्र में कहा है न!

मुमुक्षु : बाहर में वास्तविक साधन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब विवाद उठते हैं न! व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। भाई! यह तो निमित्त से ज्ञान कराया है। साधन-फाधन है ही नहीं। आहाहा! जिसे सत्य चाहिए हो, उसकी यहाँ तो बात है, भाई! अपनी मान्यता को पुष्टि करनी हो, वह तो अनादि से मानकर कर रहा है।

लोक-संग से वच-प्रवृति, वच से चञ्चल चित्त।
फिर विकल्प, फिर क्षुब्ध मन, मुनिजन होंय निवृत्त॥ ७२॥

स्पन्द अर्थात् कल्पना।

टीका - लोगों के साथ बोलने से वचन की प्रवृत्ति होती है;... आहाहा! देखो! दूसरे को धर्म का सन्देश देना है। यह आया है बड़ा वह वीर का। यहाँ गये और यहाँ

गये और यहाँ गये। बड़े ईसाईयों ने आदर दिया है उस सुशील को। **लोगों के साथ बोलने से वचन की प्रवृत्ति होती है;...** आहाहा! जिसे अपना काम करना है, उसे लोगों के साथ संसर्ग से तो विकल्प उठेंगे, कहते हैं। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! ऐसा मार्ग है। और वह वापस माने, न माने उसके साथ और, ऐसा होता नहीं, बापू! व्यवहार कहा है, ऐसा कहा है निश्चय। आहाहा! सिर फूटे।

लोगों के साथ बोलने से वचन की प्रवृत्ति होती है; प्रवृत्ति से मन का स्पंदन - मन में व्यग्रता होती है;... मन में। आहाहा! अरे... इसने माना, इसने नहीं माना, इसने निषेध किया, इसने मेरी बात तोड़ डाली। ऐसे विकल्प अन्दर उठते हैं। अथवा इसने माना तो प्रसन्न होता है। यह विकल्प है। आहाहा! अकेला ज्ञानधामस्वरूप प्रभु, निष्क्रिय वस्तु जहाँ, जहाँ पर्याय की क्रिया भी जहाँ नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा में स्थिर होना, वह भी एक पर्याय-क्रिया है।

उस आत्मा के (भावमन के) स्पन्दन से चित्त विभ्रम अर्थात् विविध प्रकार के विकल्पों की प्रवृत्ति होती है;... शास्त्र की चर्चा, कथा-वार्तायें, विकल्प उठते हैं, कहते हैं। आहाहा! ऐसा कहे। एक जीव भी धर्म पावे तो लाभ हो न! ऐसा कहते हैं। किसे क्या लाभ होता है? यह तो तुझे विकल्प आया और कहा, वाणी निकली, उसमें लाभ उसके कारण से उसे हुआ, उसमें तुझे क्या लाभ हुआ? और लोक का संसर्ग छोड़कर, वचन की प्रवृत्ति छोड़कर और उसके कारण मन की कल्पना है, उसे भी छोड़ दे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

इसे कितना... भाई हमारा चाहे जो हो, परन्तु लोक को एक बार तारने के लिये हमें भले भव करना पड़े। इसे भव ही करना है। आहाहा! जगत के हित के लिये भव करना पड़े तो भी दिक्कत नहीं है, ऐसा कहता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर का हित कौन करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? किसका करे? भाई!

सम्बन्ध। **अर्थात् विविध प्रकार के विकल्पों की प्रवृत्ति होती है; इसलिए (धर्मी) योगियों को...** योगी अर्थात् स्वरूप में जिसने जुड़ान किया है उसे। योग अर्थात्

स्वरूप में जिसे जुड़ना है, स्वरूप में जिसे दृष्टि सहित स्थिरता करनी है, उसे संसर्ग छोड़ना चाहिए। आहाहा! साधु है, यह देखो न पहले आचार्य, उपाध्याय हो, परन्तु अन्त में वह पद भी छोड़ देना पड़ता है। कौन पूछने आवे कि भाई! इसका हो... इसका हो... साधु हो तो वह छूट जाये यह बात। वह आचार्य, उपाध्याय को हो यह बात। आहाहा!

श्वेताम्बर में ऐसा आता है कि आचार्य हो वह अल्पभव में मोक्ष जाता है। देखो! यहाँ कहते हैं कि आचार्यपना छोड़कर साधु हो, तब मोक्ष जाता है। आचार्य में तो अभी शिष्यों के लिये... ऐसा, वैसा... आहाहा! ऐसे विकल्प की जाल में रुकना पड़े, तब तक स्थिरता नहीं होती और श्रेणी नहीं मांडी जाती। श्रेणी अर्थात् धारावाही ध्रुव में, ध्रुव में धारावाही परिणति नहीं होती। आहाहा!

क्या (तजना)? संसर्ग-सम्बन्ध। किसके साथ का? लोगों के साथ का। लोगों को धर्म प्राप्त कराने के लिये, लोगों को यह करने और यह करने के लिये। यह सब विकल्प की दशा और उसमें लाभ माने, वह भ्रमणा है। ऐसी बातें भारी कठिन। परोपकार हो परोपकार। भगवान भी हितोपदेश नहीं? भगवान हितोपदेशिक थे या नहीं? लो। नाभिराजा ने इस लोक को... यह खाने के समय और यह विचार आया कि कहा यह गेहूँ की रोटी का कब का हुआ होगा? पूछा था न? यह गेहूँ की रोटी आहार में कब से होगी? गेहूँ पकते होंगे? ऐसा आता है कि तवा बनाने के लिये हाथी का वह होता है न ऐसा खंध, उसमें तवा बनाया। भगवान ने सिखलाया। दूसरा वहाँ कुछ साधन नहीं था। तावड़ी समझे न? उसका वह हो न खंध-खंध बड़ा? वह तवे जितना खंध होगा वहाँ उस समय? जुगलिया मिटे और फिर गेहूँ होते होंगे? गेहूँ की रोटी हो वह। कहाँ से शुरु हुआ होगा?

पण्डितजी को पूछा, परन्तु पण्डितजी ने कुछ जवाब नहीं दिया। हिम्मतभाई को (पूछा)। आहार के समय पूछा था। आज आहार उनका था न! लड़का आया था। प्रवीण आया था। कहा, यह गेहूँ की रोटी का आहार कब से शुरु हुआ होगा? जुगलिया के समय तो गेहूँ नहीं थे और जुगलिया मिटने के बाद वहाँ गेहूँ कब पकने लगे वापस? जुगलिया के समय मिटकर ऐसा। दाना-दाना पकता होगा?

मुमुक्षु : यदि गेहूँ का दाना न हो तो गेहूँ कहाँ से होंगे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अन्दर होगा कुछ होता होगा। यों ही कल्पवृक्ष पकते हैं, लो न। कल्पवृक्ष कुछ न हो और वे कल्पवृक्ष पकते हैं। अन्दर इस प्रकार के बीज रहते हैं। यह कल्पवृक्ष होते हैं। वहाँ कौन बोते हैं वहाँ ? और असंख्य भव में अथवा असंख्य वर्ष में वे न हो कल्पवृक्ष। सीधे ऊपर उगते हैं नये, लो! जमीन में से उगते हैं। ऐसा कुछ होता होगा। गेहूँ का बोना ही कहाँ जुगलिया में था ? वहाँ गेहूँ की रोटी खाना कब से शुरु हुआ होगा ? यह संस्कार आये हो न! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तुझे यदि आत्मा का काम करना हो तो इस लोक के साथ संसर्ग-परिचय में आना नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : तो इतने सब उपदेशक आप क्यों भेजते हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब रामजीभाई के नीचे करते हैं। खीमचन्दभाई और हिम्मतभाई दोनों। यह रामजीभाई के सिर पर। नायक के नीचे यह करते हैं।

मुमुक्षु : किसी के सिर पर कोई हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहता था कि रामजीभाई हैं न ? हाँ।

मुमुक्षु : बहुत उम्र हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यहाँ आया था न! यहाँ रह गया था। बोटाद में आये थे। यहाँ दो-तीन बार आये। अरेरे! वस्तु... वस्तु... सब धर्म समान और सबमें समभाव रखना और सब... आहाहा!

मुमुक्षु : समभाव रखना अर्थात् क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब धर्म समान, इसका नाम समभाव, ऐसा ?

मुमुक्षु : इसका नाम (समभाव) होगा ? इसका नाम तो अकेला अज्ञान है। धर्म हो जगत में तो अधर्म होना चाहिए या नहीं ? इतने बड़े सन्त कैसे हो गये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रीमद् ने तो समभाव की व्याख्या की है, नहीं ? श्रीमद् ने समभाव की व्याख्या की है। कुदेव को कुदेवरूप से जाने, माने; सुदेव को सुदेव(रूप)

से जाने, माने। कुगुरु को कु(गुरु)रूप से जाने माने, सुगुरु को जाने, माने इसका नाम समभाव है। दोनों समान है तो मूर्खता है। लिखा है। दोनों को समान माने, वह मूर्ख है। मूर्खता। सत्य को सत्यरूप से ही जाने, असत्य को असत्यरूप से झूठा, ऐसा जाने। जानना, इसमें कहीं विसमता कहाँ आयी? आहाहा! ऐसे द्वेष करना, उसके प्रति, वह द्वेष नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि **लौकिकजनों के साथ वार्तालाप करने से मन व्यग्र होता है**- क्योंकि मन वहीं का वहीं रुका करता है। यह क्या ऐसा कहते हैं और यह ऐसा कहते हैं। ऐसा क्यों और ऐसा क्यों? आहाहा! देखो न! सन्तों ने काम... समाधि स्थिरता करनी है, उन्हें आनन्द में स्थिर होना है, ऐसे सन्त की यह बात है। आहाहा! सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ आंशिक समाधि आयी, शान्ति आयी, आनन्द का अनुभव आया। आहाहा! परन्तु पूर्ण करने के लिये उसे स्वरूप में, स्थिरता के लिये लोक का संग छोड़ना पड़ेगा और संग करेगा तो चित्त का भ्रम-विकल्प उठेगा। विकल्प उठेगा तो भ्रमणा होगी। यह समझा। यह समझा, नहीं समझा। आहाहा! पंचम काल के सन्त ऐसी बात करते हैं। आहाहा! सन्तपना तो ऐसा ही होता है न!

भावार्थ :- लौकिकजनों के साथ वार्तालाप करने से मन व्यग्र होता है-चित्त चलायमान होता है और विविध प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। पण्डितों का शास्त्र संसार कहा है न? इस शास्त्र में ऐसा कहा है। इसी और इसी के विकल्प में रुका ही करते हैं। आहाहा! कठिन बात, भाई! पण्डितों को शास्त्र संसार कहा है उसे। शास्त्र उनका संसार है। क्योंकि यह जाना, मुझे यह आया, मुझे यह नहीं आया, दूसरे को यह समझाया, यह सब मेरा व्याख्यान सुनकर प्रसन्न हुए। उसमें तुझे क्या? आहाहा!

कहते हैं, **चित्त चलायमान होता है और विविध प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। उससे आत्मस्वरूप में स्थिरता नहीं रहती;...** आहाहा! आनन्द में रहना, अनुभवी को इतना कि आनन्द में रहना रे। यह हमारी छोटी उम्र में नहाते हुए ब्राह्मण बोलते थे। दस वर्ष की उम्र की बात है। ब्राह्मण थे। (हम उन्हें) मामा कहते थे। मेरी माँ के गाँव के-ननिहाल के थे। मूलजीमामा कहते थे। अकेले रहते थे। स्त्री-स्त्री फिर

किसी दिन आवे। बाकी अकेले रहते। नौकरी थी। फिर नहाते समय वह वस्त्र पहने न? वे यह बोलते। 'अनुभवी को इतना रे आनन्द में रहना रे। भजना परिब्रह्म को, दूसरा कुछ न कहना रे।' परिब्रह्म, यह शब्द दूसरा परमात्मा, परिब्रह्म शब्द से आत्मा। आहाहा! मेरा परिब्रह्म भगवान तो मेरा मेरे पास है। भगवान कहाँ उससे तो दूर है। आहाहा!

आत्मा के अनुभवी जीव को तो अनुभव में रहना और परिब्रह्म को भजना अर्थात् आत्मा के पूर्णस्वरूप का भजन करना। भेजन अर्थात् उसमें स्थिर होना। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा। भगवान ने भी उपकार किया था, इसलिए... नहीं आता आठवें अध्ययन (अधिकार) में? वह तो व्यवहार की बातें आवे तो आवे। कौन उपकार (करे)? विकल्प उठे। विकल्प उठे, वह नुकसानकारक है। आहाहा! भाई ने तो यहाँ तक लिखा है, नहीं? निहालभाई ने तो (लिखा है), सुननेवाले को नुकसान और सुनानेवाले को भी नुकसान। लिखा है? दोनों को... आहाहा! इसे ऐसा कि यह बात समझे तो ठीक। इतनी दीनता... आहाहा!

उसमें नहीं आया, मोक्षमार्गप्रकाशक में? शुभ में शुद्ध का अंश है, यह तूने माना तो तुझे शाबाश है। आता है? क्योंकि ज्ञान की निर्मलता ज्ञान से होती है और चारित्र की निर्मलता ज्ञान से नहीं होती, तो उस समय शुद्ध का अंश हो, वह शुद्ध की स्थिरता बढ़ते-बढ़ते स्थिरता होती है। परन्तु शुभ में वह ग्रंथीभेद हो, अर्थात् कि राग की एकता टूटे, तब शुद्ध की एकता की स्थिरता बढ़े। आहाहा! यह तूने माना या नहीं? ऐसा उसमें कहा है, नहीं?

मुमुक्षु : माना तो शाबाश।

पूज्य गुरुदेवश्री : शाबाश। आहाहा! न माने तो तेरा द्रव्य इस प्रकार से परिणमा है। बापू! क्या करें? आहाहा! हम तुझे समझा दें, ऐसा कुछ है नहीं। तीर्थंकर में सामर्थ्य नहीं कि दूसरे को समझावे। आहाहा! उसकी पर्याय का कर्ता वह है, उसे दूसरा कैसे कर दे? यहाँ आगे आयेगा। तू तेरा गुरु है, भाई! आगे आयेगा। तुझे तेरा समझ में आता है, वह तू गुरु। ऐसा कहा। दूसरा कौन? ७५ में है। ७५ गाथा में। '**नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः। व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु॥ यत एवं तस्मात् परमार्थतो**

गुरुरात्मात्मनः।' आत्मा का गुरु आत्मा है। आहाहा! ऐई... छोटाभाई! है इसमें, हों! **यत 'एवं तस्मात् परमार्थतो गुरुरात्मात्मनः।'** ठीक, मूल पाठ भी है। **'गुरुरात्मात्मन-स्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥ 'न्नान्योऽस्ति'** ऐसा। आहाहा!

स्वयं अपने आत्मा की पर्याय में, द्रव्य-गुण में लक्ष्य जाये, आश्रय करे वह तो स्वयं समझा और स्वयं अपना गुरु हुआ था। आहाहा! ऐसा करने जाओगे तो गुरु का मान नहीं रहेगा और उसे ऐसा कहे। परन्तु तुझे... आहाहा! तो उसे बड़े रूप से मानेंगे नहीं। परन्तु तुझे उसका क्या काम है? आहाहा! यह तो फिर ऐसा कि पण्डितों से दूसरे समझे। ऐसा यदि न हो तो पण्डितों का मान और पण्डितों का आदर कौन करेगा? पाट पर बैठे, ऐसे लोग इकट्ठे हों, ऐसे बातें करे अन्दर। कितनी धर्म की शोभा होती है, लो! ऐई... जेठाभाई! बापू! बाहर की शोभा वह कहीं धर्म है? आहाहा!

मुमुक्षु : धर्मचक्र घूमा तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ धर्मचक्र? कहा न धर्मचक्र में हुआ? वह तो बहुत कहा वहाँ। और कहा उसमें दूसरी बात भी निकाली थी रात्रि में। रात्रि में चले हैं, यह अच्छा नहीं, कहा। कोई पूछनेवाला नहीं, इसलिए क्या, बाकी तो न्याय से देखो तो यह बराबर नहीं है। रात्रि में चलना, दिन में यात्रा! किसके घर का? व्यवहार का भी न्याय नहीं है। अन्धेरे में चलना... आहाहा! अरे! प्रभु का मार्ग तो देख, भाई! बात तो जैसी सत्य हो, वह रहेगी। बाकी कोई पक्ष से किसी ने किया, इसलिए उसे अच्छा मान लेना? ऐई... गिरधरभाई! आहाहा!

और वह क्या? तीन महीने में लाख लोग साथ में लेकर। यह तो तीन महीने में दस लाख खर्च किया कहते हैं। इससे क्या उसमें? कोई राग की मन्दता हो, उस समय किया हो और दबाव से करना पड़े। अपने आये हैं प्रमुख सामने (आये हैं) पैसेवाले हैं, इसलिए कुछ देना पड़ेगा। नहीं तो फिर यह... ऐसा कुछ दबाव रहकर हो तो वह भी कुछ है नहीं। आहाहा! कठिन मार्ग, बापू! ऐसा कि साथ के लोग दो-पाँच लाखवाले हैं और मैं कुछ पचास लाखवाला हूँ। यह इतना भरे और मुझे इतना नहीं ... तो फिर ठीक शोभा नहीं रहेगी। कान्तिभाई! यह तो भाई! मार्ग अलग, हों! आहाहा!

विकल्प रहा ही करे। एक व्यक्ति कहता था कि कहीं गये थे तो पूरी रात चले, कहे। शाम से वह सवेरे तक। थककर थोक हो गये सब लोग। पूरी रात नींद नहीं आवे, चले उसमें तो कुछ तो और बहुत हो ऐसे नींद निकाल लेते होंगे। लो! चलती बस में। दूसरे को तो नींद भी नहीं आये साधन में। ऐसा है। पूरी रात सवेरे से शाम। शाम से सवेरे। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि ऐसे संकल्प-विकल्पों में रुकना वह तो बन्ध का कारण है। मार्ग ऐसा है। ऐई... चेतनजी! कहाँ तक ले जाना है यह?

मुमुक्षु : एक-दो बार हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह रात्रि में तो बहुत बार आवे। परन्तु एक-दो बार पूरी रात्रि। बाकी वैसे तो बहुत रात्रि दस-दस बजे तक, ग्यारह-ग्यारह बजे तक तो बहुत बार। यह तो वस्तुस्थिति है, बापू! प्रवृत्ति में भी विवेक चाहिए।

एक बार तो निहालभाई को पूछा है कि विवेक कहाँ? विवेक-विवेक छोड़ दे एक ओर। तथा एक बार वापस कहा कि पहले विवेक चाहिए। दो प्रश्न है। है ४५ में दो प्रश्न हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह और अलग। यह तो दूसरा है। विवेक की बात है। और एक जगह फिर विवेक को स्थापित किया है। विवेक चाहिए। परन्तु पर्यायबुद्धि रखना नहीं, पर्याय के ऊपर जोर नहीं देना, ऐसा। है वह कहीं। कितने में, खबर है? नहीं खबर? नहीं। प्रश्न में है? किस जगह प्रश्न है? अपने को तो बहुत याद नहीं रहता। न्याय याद रहता है। ऐसा कहीं आया था, हों! आहाहा!

एक का अर्थ ऐसा कि ऐसा राग होना चाहिए, नहीं तो ऐसा हो और वैसा हो, ऐसा। जैसा हो, वैसा वह होगा। उसे सम्यग्दर्शन में ऐसा स्वच्छन्दी राग नहीं होता, उसे योग की योग्यता प्रमाण ही होता है। परन्तु उसका जोर जाना चाहिए वस्तु पर। जो महा खान है, उस खान पर नजर डालना चाहिए। जोर वहाँ जाना चाहिए। पर्याय का विवेक होता है, उसके प्रमाण में। परन्तु उसका जोर पर्याय पर नहीं चाहिए।

मुमुक्षु : सात नम्बर का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं है। दो बोल हैं। एक बोल निकाला वहाँ दूसरा बोल आता है। लिख लिया होगा मैंने। विवेक का निषेध किया है, वहाँ भी पृष्ठ लिखा होगा, विवेक का हकार किया... उसमें है बहुत विशेष।

यहाँ तो कहते हैं कि राग से भिन्न पड़कर जहाँ आत्मा का भान हुआ, वह विवेक अर्थात् भेदज्ञान हुआ, वह विवेक हुआ। आहाहा! **लौकिकजनों के साथ...** आ गया न यह? **इसलिए आत्मस्वरूप के अभ्यासी को...** आत्मस्वरूप के अभ्यासी को। ऐसी बात है। अपेक्षा से समझना चाहिए न। **इसलिए आत्मस्वरूप के अभ्यासी को लौकिकजनों के संसर्ग से दूर रहना योग्य है।**

मुमुक्षु : एक साधु के साथ दूसरा साधु होवे तो लौकिक संसर्ग....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब ठीक। उसके साथ यह विनय करना, व्यवहार रखना, यह सब आता है न? यह व्यवहार छोड़े... आहाहा! योगसार में यह आता है। छोड़ व्यवहार सब अब। कठिन मार्ग, भाई! आवे सही, उस व्यवहार में जो लक्ष्य जाता है, वह तो विकल्प है और बन्ध का कारण है। वैयावृत्य में नहीं आता? वैयावृत्य करना। प्रवचनसार में (आता है)। वह तो रोगी मनुष्य-साधु हो और उसे ऐसा प्रसंग हो, ध्यान में न हो अन्दर में, तो बाहर लक्ष्य जाता है तो उसे उस प्रकार का भाव आता है, ऐसा। परन्तु उसकी भावना हो ऐसी कि ऐसा हो तो मुझे... सेवा का विकल्प लाना ही है। ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा प्रसंग हो तो उसे जरा ऐसा विकल्प आता है। बस इतनी बात। ध्यान में न हो और बाह्य साधु को कोई उल्टी होती हो या ऐसा होता हो तो वैयावृत्य का भाव उसे आता है। आहाहा! कठिन मार्ग, भाई!

वीतरागभाव में रहकर विकल्प आवे, ज्ञातादृष्टारूप से रहकर विकल्प आवे, परन्तु उसका निषेध है। आहाहा! इन्द्र भी भगवान का तो तांडव नाच करे, तब देखो न कैसा नाचे? यहाँ जाते हैं—बावन जिनालय में जाते हैं न? कहाँ? नन्दीश्वरद्वीप। यहाँ अपने बावन स्तम्भ हैं।

मुमुक्षु : आज ही गिनने का प्रसंग बना।

पूज्य गुरुदेवश्री : आज गिने थे वहाँ। २४ नीचे और २४ ऊपर = ४८ (और) वे चार हैं न, नीचे चार हैं। बावन हैं, कहा, यह बावन जिनालय। यह है देखो न, चार ऐसे हैं, आठ ऐसे, सोलह। चार ऐसे, चार, यह बीस। चौबीस हुए। ऊपर चौबीस। यह स्तम्भ । ऊपर स्तम्भ है दूसरे? हाँ, ऊपर भी है, हों। यह चार नीचे गिने थे। ऊपर भी चार हैं? लो, तब तो ५६ हुए। यह नीचे। चार ये हुए। आठ। ५६ हुए। आहाहा! यह होने के काल में हो गया। कौन करे इसे? अरे... लोगों को...

मुमुक्षु : इंजीनियर करे, दूसरा कौन करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : इंजीनियर भी कुछ नहीं करता।

विशेष - साधक को जैसे-जैसे भेदविज्ञान का बल बढ़ता जाता है,... देखा! आता है न उसमें? भेद अभ्यास करते-करते स्थिरता बढ़ती है। भेद अभ्यास का आता है नियमसार में। भेद अभ्यास करते-करते, पर से भिन्न पड़ते-पड़ते स्थिरता बढ़ती है, चारित्र की। आहाहा! पहले उसे ज्ञान में निर्णय तो पक्का करे कि वस्तु इस स्थिति से है। इस स्थिति में रहे बिना किसी प्रकार से मुक्ति हो, मोक्ष हो... आहाहा! अरे... यात्रा की धमाधम। सम्मेदशिखर की यात्रा, शत्रुंजय, पावागिरी और यह सब। असंख्यगुण का तीर्थधाम तो तू है। अनन्त गुण का तीर्थधाम। आहाहा!

साधक को जैसे-जैसे भेदविज्ञान का बल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसको पर पदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव होता है... लो, देखा! आहाहा! **और वीतरागता बढ़ती जाती है।** आहाहा! **वीतरागता के प्रमाण में वह आत्मस्थिरता प्राप्त करता है।** जितनी वीतरागता के प्रमाण में आत्मा में स्थिरता होती है। **स्वरूप स्थिरता के काल में लौकिकजनों के साथ का संसर्ग स्वयं छूट जाता है।** आहाहा! यह तो जगत को मैं धर्म प्राप्त कराता हूँ। जगत को धर्म प्राप्त कराने निकले हैं। वह स्वयं को धर्म कैसे होता है, इसकी खबर नहीं। आहाहा!

लौकिकजनों के साथ का संसर्ग स्वयं छूट जाता है। स्वरूप की स्थिरता भी किसे हो? जिसे दृष्टि में पहले आत्मा आया हो, उसे। यह '**पस्सदि जिणसासणं सव्वं**' पढ़कर यदि विचार करे तो बैठ जाये कि यह सब अपन मानते हैं, वह सब खोटा है।

आहाहा! सामान्य का आविर्भाव, विशेष का तिरोभाव। यह ज्ञानस्वरूप भगवान, इसका प्रगटपना होना, वह सामान्य का आविर्भाव और ज्ञेय द्वारा ज्ञान का होना, वह विशेष का आविर्भाव। इसका तिरोभाव हो वह... आहाहा!

ज्ञेय द्वारा ज्ञान का प्रगट होना, यह तो विशेष हुआ। सामान्य नहीं आया। है? दो लिये हैं। देखो यह ३५७। देखा! ***परिणाम का विवेक तो जो अनन्त सुखी होना चाहते हैं, उनको सहज होना चाहिए।*** हुआ? और ६८।

मुमुक्षु : नम्बर।

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखा है न, परन्तु यह तो ६८ में आता है। ६८ आता है। वहाँ ना करेंगे। ***अनुभव होने के बाद परिणाम में मर्यादा आ जाती है न? विवेक हो जाता है न?*** ऐसा प्रश्न है। ***उत्तर - विवेक की बात एक ओर रखो। एक दफा विवेक को छोड़ दो। पर्याय की सावधान छोड़ दो। परिणाममात्र मैं नहीं। मैं तो अविचलित खूँटा हूँ। मेरे में क्षणिक अस्तित्व है ही नहीं। विवेक के बहाने भी जीव परिणाम में एकत्व करते हैं।*** वहाँ यह कहा और यहाँ ऐसा। अपेक्षा से समझना चाहिए न? यहाँ हाँ किया, देखो! ***परिणाम का विवेक तो जो अनन्त सुखी होना चाहते हैं, उनको सहज होना चाहिए।*** प्रश्न दोनों जगह रखा है, हों, पृष्ठ... ७२ गाथा हुई।

तो क्या उनका (लोगों का) संसर्ग छोड़कर, जंगल में निवास करना? गाँव हो या जंगल हो, आत्मा में रमना। यह कहीं गाँव-जंगल वहाँ अवरोधक नहीं है। **तो क्या उनका (लोगों का) संसर्ग छोड़कर, जंगल में निवास करना?—ऐसी आशङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं—** लो।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ७३

तर्हि तैः संसर्गं परित्यज्याटव्यां निवासः कर्तव्य इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह -

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥ ७३॥

ग्रामोऽरण्यमित्येवं द्वेधा निवासः स्थानं अनात्मदर्शिनामलब्धात्मस्वरूपोपलम्भानां, दृष्टात्मनामुपलब्धात्मस्वरूपाणां निवासस्तु विमुक्तात्मैव रागादिरहितो विशुद्धात्मैव निश्चलः चित्तव्याकुलतारहितः॥७३॥

तो क्या उनका (लोगों का) संसर्ग छोड़कर, जंगल में निवास करना? — ऐसी आशङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं —

जन अनात्मदर्शी करें, ग्राम-अरण्य निवास।
आत्मदृष्टि करते सदा, निज में निज का वास॥ ७३॥

अन्वयार्थ - (अनात्मदर्शिनां) जिन्हें आत्मा का अनुभव नहीं हुआ — ऐसे लोगों के लिए (ग्रामः अरण्यम्) यह गाँव है, यह जंगल है, (इति द्वेधा निवासः) इस प्रकार दो तरह के निवास हैं (तु) किन्तु (दृष्टात्मनां) जिन्हें आत्मस्वरूप का अनुभव हो गया है — ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिए (विविक्तः) रागादि रहित विशुद्ध एवं (निश्चलः) चित्त की व्याकुलतारहित स्वरूप में स्थिर (आत्मा एव) आत्मा ही (निवासः) रहने का स्थान है।

टीका :- ग्राम और अरण्य, ये दो प्रकार के निवास स्थान, अनात्मदर्शियों के लिए अर्थात् जिनको आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, जिनको आत्मा की उपलब्धि नहीं हुई, वैसे लोगों के लिए हैं परन्तु जिनको आत्मा का अनुभव हुआ है, जिनको आत्मस्वरूप की उपलब्धि हुई है, वैसे (ज्ञानी) लोगों के लिए तो निवास स्थान विविक्त अर्थात् विमुक्त आत्मा ही, अर्थात् रागादि रहित शुद्ध आत्मा ही है, जो निश्चल अर्थात् चित्त की आकुलता से रहित है।

भावार्थ - जिसको आत्मा का अनुभव नहीं है, भेदज्ञान नहीं है, उस पुरुष को ग्राम या जंगल में बसने का विकल्प आता है।

जो आत्मदर्शी है-जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है, उसका निवास स्थान वास्तव में अपना शुद्धात्मा ही है। वह राग-द्वेषादि रहित और निश्चल होने से, उसकी ग्रामनिवास या वननिवास के लिए प्रेम नहीं होता। वह ग्राम अथवा वन को अपने आत्मस्वरूप से बहिर्भूत समझता है; इसीलिए किसी में भी आसक्ति रखना अथवा उसको अपना निवास स्थान मानना, उसको इष्ट नहीं है। वह तो शुद्धात्मस्वरूप को ही अपनी विहारभूमि बनाता है और सदा उसी में रमा करता है।

सामायिक पाठ, काव्य २२ में आचार्य अमितगति कहते हैं कि —

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः॥

'चटाई, पत्थर, घास, जमीन, लकड़ी का पटिया इत्यादि ध्यान के लिए निःसार हैं क्योंकि जिसने राग-द्वेष और विषय-कषायरूपी शत्रुओं को दूर किया है, वैसे पुरुष को तो उसका आत्मा ही ध्यान के लिए सच्चा अत्यन्त निर्मल आसन है-ऐसा ज्ञानीजनों ने माना है।'

आत्मस्वरूप के अनुभव के लिए ग्राम-अरण्य की तरह, अन्य परपदार्थ भी निःसार हैं; त्रिकाली शुद्धात्मा का अवलम्बन ही सारभूत है॥७३॥

आषाढ़ शुक्ल १, गुरुवार, दिनांक १०-०७-१९७५, श्लोक-७३, प्रवचन-८५

समाधितन्त्र। ७३ गाथा। **तो क्या उनका (लोगों का) संसर्ग छोड़कर, जंगल में निवास करना ?** संसर्ग छोड़ना, ऐसा कहा था न ? आत्मार्थी को अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये पर का संसर्ग छोड़ना, संसर्ग से वाणी आवे और वाणी के कारण मन में विकल्प भी उठे (और) इससे चित्त में अस्थिरता हो, इसलिए उसे संसर्ग छोड़ना चाहिए। तब क्या उसे संसर्ग छोड़कर जंगल में रहना ? ऐसा प्रश्न उठा। **ऐसी आशङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं—**

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥ ७३॥

जन अनात्मदर्शी करें, ग्राम-अरण्य निवास।
आत्मदृष्टि करते सदा, निज में निज का वास॥ ७३॥

अब यहाँ तो वनवास को, अनात्मदर्शी वनवास को-गाँव को माने, ऐसा कहते हैं। मुनियों को तो वनवास ही होता है। आत्मदर्शी आत्मा में रहता है, ऐसा कहते हैं। ग्राम और अरण्य उनके लिये वास नहीं है, ऐसा कहना है। यहाँ तो निश्चय से बात कहने पर वन और गाँव दोनों, उसे निवास का स्थान तो आत्मा है, दो नहीं, तथापि मुनि वनवास में होते हैं, उन्हें ऐसा विकल्प आवे, इस बात की गौणता करके वनवास और गाँव में रहना, वह तो दोनों में अनात्मदर्शी की बात है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : दोनों में।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनात्मदर्शी। उसे गाँव और यह ठीक है, वह तो अनात्मदर्शी की बात है। आत्मदर्शी के लिये तो स्वयं निवासस्थान अपने आत्मा में है। अब वनवास है सही, इस बात को यहाँ गौण करके... कोई ऐसा ही कहे कि यह तो निश्चय की बात की। व्यवहार तो उड़ाया। ऐसा कहते हैं न?

यह अभी भाई ने प्रकाशित किया है न? हुकमचन्दजी ने यह भगवान महावीर (पुस्तक प्रकाशित की है)। उसकी समालोचना की है उसमें। जैन गजट में। ऐसा कि उन्होंने एकान्त स्थापित किया है। यहाँ यह क्या कहते हैं? वनवास और गाँव अनात्मदर्शी के लिये... और एक ओर कहते हैं कि मुनि तो वनवास में ही रहते हैं।

मुमुक्षु : यह व्यवहार की बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसका सिद्ध किया है। ऐसा भाव-विकल्प उन्हें होता है।

मुनि जंगल में ही रहते हैं, वनवास में रहते हैं परन्तु उस वनवास में रहूँ तो मेरा आत्मध्यान विशेष स्थिर होगा, ऐसा नहीं है। इतना निषेध करने के लिये... ऐसी बात है जरा। इसमें से ऐसा निकाले लो, वहाँ तो निश्चय की बात स्थापित की। व्यवहार वनवास की हो, वह बात... किस अपेक्षा से कहनी है? आहाहा! मुनि तो वनवास में ही होते हैं, जंगल में ही होते हैं। गाँव में नहीं होते। यह तो गाँव में आहार लेने आते हैं

और कोई उपदेश का समय हो, लोग आवे तो उपदेश देकर चले जाते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

इसमें कहते हैं कि भाई! वह तो वनवास। ऐसा कहा न?

जन अनात्मदर्शी करें, ग्राम-अरण्य निवास।
आत्मदृष्टि करते सदा, निज में निज का वास॥ ७३॥

पाठ है न यह, देखो न!

टीका :- ग्राम और अरण्य, ये दो प्रकार के निवास स्थान, अनात्मदर्शियों के लिए अर्थात् जिनको आत्मा का अनुभव नहीं हुआ,... लो ठीक! अर्थात् कि जंगल में रहूँ तो आत्मस्थिरता विशेष हो, ऐसा नहीं है, ऐसा। यह सिद्ध करने के लिये ऐसा कहा है। समझ में आया? मुनि को तो गुफा में, वनवास आदि एकान्त में ही रहने का उन्हें भाव होता है। परन्तु उसे एकान्त में वहाँ रहूँ तो आत्मसाधन अधिक होगा, ऐसा नहीं है। इतना सिद्ध करने के लिये यह बात की है। समझ में आया?

यहाँ तो कहे **ग्राम और अरण्य,...** जंगल। **दो प्रकार के निवास स्थान, अनात्मदर्शियों के लिए अर्थात् जिनको आत्मा...** आनन्दस्वरूप, शुद्ध चैतन्यज्योति आनन्दधाम का अनुभव नहीं, उसे यहाँ गाँव में रहना या अरण्य में रहना, ऐसे विकल्प आवें, वह अनात्मदर्शी है, ऐसा कहना है। आहाहा! इसमें व्यवहार तो उड़ाया है। नहीं तो मुनि को वनवास है। जंगल में ही रहते हैं। परन्तु किसलिए? वह तो उस प्रकार की सहज स्थिति होती है। परन्तु वनवास में रहूँ तो आत्मसाधना अधिक होगी, ऐसा नहीं है। आहाहा!

वस्तु जो है आत्मा चैतन्य ज्ञान और आनन्द का धाम जहाँ दृष्टि में-अनुभव में आया, तब तो सम्यग्दर्शन हुआ। और उसमें बहुत बसा, स्थिरता से, रमणता से, तब चारित्र हुआ, इसलिए कहते हैं कि अन्दर की रमणता के लिये वनवास ठीक है और गाँव ठीक नहीं, ऐसा ज्ञानी को नहीं होता। इस अपेक्षा से। समझ में आया? आहाहा! मुनि तो स्थिर स्थविर हों या... क्या कहा भाई? कैसे?

मुमुक्षु : जिनकल्पी।

पूज्य गुरुदेवश्री : जिनकल्पी। स्थविरकल्पी हो या जिनकल्पी हो, दोनों वनवासी नग्न ही होते हैं, नग्न ही होते हैं। आहाहा!

(संवत्) १९८६ में वहाँ आये थे न एक मुनिन्द्रसागर, भावनगर। ८६ के वर्ष। तब व्याख्यान बन्द करके वहाँ गये थे। कहा भाई! कैसा है तुम्हारे... वजुभाई है न यह सुतरिया? ऐसा मक्खन चोपड़ने लगा। स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों साधु होते हैं। स्थविरकल्पी वस्त्रवाले होते हैं और यह... यह मारे गप्पा। साधु होकर। स्थविरकल्पी भी वस्त्ररहित होते हैं, जिनकल्पी वस्त्ररहित होते हैं। जिनकल्पी एकाकी विचरते हैं, स्थविरकल्पी बहुत साधु के समुदाय में होते हैं। बस, इतना अन्तर। दूसरा कोई अन्तर उनमें नहीं है। आहाहा! कि स्थविरकल्पी अर्थात् वस्त्र रखे और गाँव में रहे तो भी वह साधु है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : श्वेताम्बर ऐसे ही भेद करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्वेताम्बर भेद करते हैं। श्वेताम्बर धर्म ही कहाँ सच्चा है? श्वेताम्बर है, वे जैन वीतरागमार्ग का कहा हुआ तत्त्व ही नहीं है। यह तो मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा ने कहे हुए (मार्ग से) भ्रष्ट हुए और वस्त्र का टुकड़ा रखकर - इतना फालक और साधुपना मनवाने लगे, वहाँ दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा! और उस मिथ्यात्व में शास्त्र रचे हैं। लोगों को कठिन लगे, क्या हो? वस्तु की स्थिति ऐसी है वहाँ। किसी के प्रति विरोध और द्वेष नहीं, परन्तु वस्तु की स्थिति ही ऐसी है, इस प्रकार। सर्वज्ञ भगवान के अनुसार दिगम्बर सन्तों ने कहा है। और वह वस्तु ऐसी ही है, ऐसी ही है। वह तो सब कल्पित रचना। आहाहा!

महासती द्रोपदी को पाँच पति। सज्जनता का ठिकाना कहाँ? द्रोपदी कौन? आहाहा! सम्यग्दृष्टि और महासती, उसे एक पति अर्जुन था। उसके बदले पाँच पति सिद्ध किये। आहाहा! गजब किया है न! और वे पाँचों ही धर्मात्मा। और धर्मात्मा को इस प्रकार सिद्ध किया। आहाहा! गजब काम किया है न, सर्वज्ञ के नाम से! ज्ञातासूत्र में पाठ है। वह बात सच्ची नहीं है। आहाहा! यह तो एक दृष्टान्त दिया। वह कथन सम्यग्दृष्टि का ही नहीं। आहाहा! इससे वे सब भाग पड़े या ऐसा है और वैसा है। जिनकल्पी जंगल में रहें और स्थविरकल्पी वस्त्रवाले, बिल्कुल झूठ बात है।

यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है कि अरण्य में रहें तो लाभ होगा, गाँव में रहें तो लाभ (नहीं)। वह क्षेत्र के कारण से लाभ होता है, ऐसी बुद्धि ज्ञानी को नहीं होती, इतनी बात है। आहाहा! मार्ग ऐसा है, भाई! यह कान्तिभाई की माँ बीमार है न? मैनेजर। सवेरे जरा कुछ हुआ होगा अधिक। वापस मुड़ गया। शरीर जीर्ण। ऐसा जरा ऊँहकार किया कि, इसलिए यह पूछा वैद्य ने। रविभाई आये थे न! बहिन क्या है? तुम तो... भाई! भगवान के पास जाना भारी कठिन है, कहे। शरीर में उंहकारो हो गया है, वह आत्मा से नहीं, ऐसा कहा। आज सवेरे की बात है। अभी रविभाई आये थे न तो कहा। ऐसा हो जाये शरीर जीर्ण-पतला तो। परन्तु वह उंहकारो, उसे दुःख है, इसलिए हो गया, ऐसा नहीं है। उसकी निर्बलता के कारण होता है, परन्तु उसकी निर्बलता के कारण हो तो वह दृष्टि पर के ऊपर हो न, निर्बलता के कारण हो, (ऐसा कहे) तो वह वस्तु खोटी।

श्रीमद् राजचन्द्र। कहा था न? देह छूटने के समय। मनसुख! माँ को खेद नहीं होने देना। मैं मेरे स्वरूप में जाता हूँ। आहाहा! खड़े हुए। इतनी शक्ति थी न जरा? क्या कहलाता है वह? आरामकुर्सी। वस्त्र ढँका मुँह पर और अन्दर से आवाज एकदम। स्वयं ध्यान में। परन्तु यह वह शक्ति इतनी थी, इसलिए खराश की वाणी की आवाज इतनी आयी चार-पाँच घर तक सुनाई दे, पाँच-पाँच। और झवेरभाई उनके बहनोई कहे, महाराज! हमको तो उस समय श्रद्धा कुछ थी नहीं कि ऐसा मरण! ऐई! भाई! तुमको खबर नहीं कि देह की स्थिति का, इतनी जरा क्रियावाली सहनशक्ति थी, इसलिए उसका कि जिससे उठे, इतनी खराश देखते हैं न? तो अन्दर में उतरे। ध्यान में अन्दर गये। इसलिए वह आवाज ऐसी हुई, वह दुःख से हुई, ऐसा नहीं है। बहुत भारी कठिन। उसका जो श्वास और जरा देह को जीर्ण होकर छूटना है न? ऐसे का ऐसा (शरीर को) कसने से कहीं छूटना नहीं। आहाहा! इससे ऐसे ध्यान में गये, इसलिए उनका घुंटन शुरु हो गया आवाजवाला। इससे उन्हें दुःख से आवाज हुई है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : दुःख से आवाज तो किसी को होती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह तो दुःख लगे और आवाज हो। दुःख लगे। वेदना का दुःख लगे और हो, वह अलग चीज़ है। समझ में आया? वेदना अन्दर दुःखरूप

लगे और हो, वह उंहकार अलग प्रकार की बात है। और यहाँ तो वेदना नहीं, दुःख नहीं, आनन्द में है, तथापि वह क्रिया जड़ की जड़ के कारण से होती है। आहाहा! ऐसा भारी कठिन काम!

यहाँ जो दो बातें की हैं कि अनात्मदर्शी दो वास मानते हैं। वह इस अपेक्षा से बात है। ऐसा कि गाँव में संसर्ग में रहने से आत्मा को नुकसान होता है और बाहर में रहने से आत्मा को लाभ होगा, ऐसा क्षेत्र भेद की अपेक्षा रखकर वास के वासरूप रहने का निर्णय करे, वह अनात्मदर्शी है। आहाहा!

अब इसमें से कोई ऐसा कहे कि भाई! यह तो वनवास में रहने का विकल्प उसे हो नहीं? वह बात यहाँ गौण कर डाली है बात को। सम्यग्दृष्टि मुनि है, धर्मात्मा, उन्हें तो वन में एकान्त... एकान्त... एकान्त... ऐसा विकल्प होता है। इस अस्थिरता के कारण होता है। वास वहाँ रहेगा, इसलिए मुझे वह आत्मसाधन बढ़ाये क्षेत्र के कारण होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! मार्ग, यह मार्ग है।

ग्राम और अरण्य, ये दो प्रकार के निवास स्थान, अनात्मदर्शियों के लिए... वनवास का निषेध कर दिया इसमें। किस अपेक्षा से कहा? उन्हें वनवास में रहने से मेरा आत्मसाधन बढ़ेगा क्षेत्र में बाहर से, ऐसा नहीं है। विकल्प आवे जंगल में एकान्त स्थान में। आहाहा! वह तो मात्र निवृत्ति के लिये का प्रश्न है। उसे वहाँ आत्मसाधन अधिक होगा, ऐसा कुछ मानते नहीं। यह तो आत्मा आनन्द का धाम है, जहाँ उसकी दृष्टि वहाँ पड़ी है, वहाँ उसका वास है। आहाहा! मार्ग बहुत...!

जिनको आत्मा का अनुभव नहीं हुआ,... भगवान पूर्णानन्द का नाथ आत्म चैतन्यवस्तु भगवानस्वरूप, आनन्द का धाम, ऐसे धाम को जिसने जाना नहीं, ऐसे धाम को जिसने अनुभव में वह चीज़ यह है, ऐसा जाना नहीं। उसे ऐसे विकल्प होते हैं, कहते हैं। उसको **आत्मा की उपलब्धि नहीं हुई,...** आत्मा। जिसका स्वभाव त्रिकाल शुद्ध पवित्र, ऐसी दृष्टि में उसकी प्राप्ति हुई नहीं। **वैसे लोगों के लिए हैं...** दो वास कहने में आवे जंगल और गाँव, ऐसा कहे। आहाहा! किस अपेक्षा से कहना चाहते हैं? उसका जोर वस्तु में अन्तर में रहना, वह निवासस्थान है। धर्मी का जोर वहाँ अन्तर निवास।

विकल्प आवे, परन्तु विकल्प में वह जोर इस ओर का ढलने का वहाँ है। आहाहा! मार्ग कठिन, भाई! थोड़ा सहज बदलाव में अनात्मदर्शी कह दिया। गाँव और अरण्य ऐसे दो भाग करने हों तुझे तो यह आत्मा जाना नहीं। आहाहा! अनन्त गुण का निवासस्थान प्रभु स्वयं है। आहाहा!

परन्तु जिनको आत्मा का अनुभव हुआ है, जिनको आत्मस्वरूप की उपलब्धि हुई है,... प्राप्ति। यह आत्मा यह शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द, पूर्णानन्द—ऐसा ज्ञान में-अनुभव में आया है। ज्ञान में वह ज्ञेय बनकर ख्याल में बात आ गयी है। आहाहा! **वैसे (ज्ञानी) लोगों के लिए तो निवास स्थान...** पाठ है न यह। विवक्त अर्थात् विमुक्त आत्मा ही अर्थात् कि विकल्परहित आत्मा चीज़ ही धर्मी के लिये निवासस्थान है। आहाहा! समझ में आया?

विविक्त। पाठ में है न? '**विविक्तात्मैव निश्चलः**' भगवान आत्मा तो शुभ-अशुभ विकल्प के भाग से रहित है। ऐसा अनुभव हुआ, अर्थात् कि यह आत्मा जैसा है, वैसी उपलब्धि, पर्याय में जैसा आत्मा, वैसी पर्याय में प्राप्ति हुई। पर्याय में इतना आत्मा है, उसका ज्ञान हुआ। भले पर्याय में आत्मा पूर्ण शुद्ध ध्रुव आया नहीं। समझ में आया? परन्तु पर्याय में ध्रुवस्वरूप ऐसा शुद्ध है पूर्ण, उसकी पर्याय में ज्ञान हुआ, इससे उसे आत्मा ऐसा है, उसकी उपलब्धि पर्याय में हुई। आहाहा! मार्ग कठिन, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। आहाहा! लोगों ने इसे नोंच डाला। व्यवहार के विकल्प से निश्चय होता है। निमित्त को अकिंचित्कर मानते हैं, ऐसा लिखा है। वह-वह हुआ है न अभी पारस। वर्धमान पारसनाथ। क्या वर्धमान पारसनाथ? हुकमचन्दजी ने टीका की है और उस जैनदर्शन में यह फतेपुर का सोनगढ़ का कहलाये न धर्मचक्र? उसकी आलोचना की होगी। उसमें यह श्रुतसागर ने... वह तो टीका जैनदर्शन की। यह धर्मचक्र नहीं सोनगढ़ का, वह। उसने कहा, नहीं, धर्मचक्र है। श्रुतसागर है न?

फतेपुर का अर्थात् सोनगढ़ का कहलाये न वह? सोनगढ़। लिखा है सोनगढ़ का धर्मचक्र। श्रुतसागर है न कोई! जैनदर्शन में ऐसा आया था कि वह धर्मचक्र नहीं। यह गलत किया है, झूठा किया है। धर्मचक्र है वह। ऐसा आया है। जैन गजट में। आहाहा!

क्योंकि वह धर्मचक्र तो सोनगढ़ की बात प्रसिद्ध करता है न बाहर ? और सोनगढ़ की एकान्त है, ऐसा। आहाहा! इसलिए वे लोग आलोचना करते हैं। यह अभी वह हुआ है न, वह वर्धमान पारसनाथ। लालबहादुर निकल गये। यह हुआ है। सोलापुरवाला। इसने लिखा है। हों, करे, उसमें कुछ ऐसा करके द्वेष करनेयोग्य नहीं है। आहाहा!

वस्तु जो निश्चय है, वह सत्य है और उसका प्रचार-प्रसार वह सत्य है। आहाहा! यह देखो न, क्या कहा ? आचार्य स्वयं कहते हैं कि अरण्य और गाँव में दो में वास माने, वह अनात्मदर्शी है। तब मुनि तो अरण्य में ही रहनेवाले होते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं कहा ? कि गाँव के नजदीक कौन आवे ? सियालिया आते हैं। यह सियाल-सियाल। ऐसे मुनि आवे नहीं नजदीक में। वह तो अरण्य में रहनेवाले होते हैं। लिखा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। बराबर है। तथापि आवे, रहे वह अलग वस्तु है। परन्तु उसकी लाईन तो अन्दर की। एकान्त जहाँ कोई परिचय नहीं, लोगों का पगरव नहीं, पशु का जहाँ पगरव नहीं, ऐसे गहरे जाकर आत्मसाधना साधते हैं। परन्तु यहाँ उस आत्मसाधना में जंगल में रहना, इससे आत्मसाधना बढ़े, ऐसा माननेवाला अनात्मदर्शी है, इतनी बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो निमित्त, उपादान...

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यहाँ उपादान। आहाहा! तब वह कहते हैं न कि उपादान का कार्य हो, अपने आप हो जाये ? लिखा है। निमित्त बिना कुछ होगा ? निमित्त अकिंचित्कर है ? पर के लिये अकिंचित्कर है। भारी कठिन काम। अरे! यह झगड़े से पार आवे बापू ? सत्य की स्थिति वस्तु की स्थिति क्या है, ऐसा जानना चाहे तो यह हो। तुमने माना तत्प्रमाण आवे तो वह बात सच्ची, ऐसा कहीं नहीं होता। आचार्य ने ऐसा स्थापित किया, देखो तब! आहाहा!

धर्मी समकिती आत्मदर्शी के लिये तो आत्मा विमुक्त आत्मा अर्थात् विविक्त आत्मा, रागादिरहित शुद्ध आत्मा। आहाहा! यह उसका निवासस्थान है। छठवें बोल में नहीं कहा अव्यक्त में ? अव्यक्त छठा बोल। स्वयं अपने से अपने द्वारा जानने में आया। व्यक्त जो यह व्यक्तपना, उसमें वह स्थिर नहीं होता, नहीं रहता। बारम्बार ऐसे आता है।

व्यक्त के प्रति उदासीन प्रद्योतमान है। आहाहा! यह क्या कहते हैं? पर्याय के प्रति उदासीन प्रद्योतमान है।

स्वयं अपने द्वारा अनुभव में आता है, ऐसा जो आत्मा, वह व्यक्त के प्रति उदासीन प्रद्योतमान है। आहाहा! एक समय की पर्याय में वह टिकता नहीं। ऐसा बारम्बार ऐसा आता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मुनियों को तो बारम्बार आत्मा वहाँ आता है। सम्यग्दृष्टि को दृष्टि की अपेक्षा से तो वहाँ ही वास है। जरा अस्थिरता है। आहाहा! जहाँ जो आत्मा उपलब्धि हुई, पर्याय में उपलब्धि का अर्थ कि जैसा आत्मा है, वैसा अन्दर ज्ञान की पर्याय में ज्ञात हुआ। आहाहा! भले वह चीज़-वस्तु है, वह पर्याय में आयी नहीं। क्योंकि पर्याय में कहाँ से? वस्तु तो वस्तु में है। परन्तु उसे उपलब्धि हुई पर्याय में कि यह आत्मा। जिस ज्ञान की पर्याय ने राग और पर को माना, वहाँ ज्ञान में आत्मा की उपलब्धि नहीं थी। ज्ञान की पर्याय में उस ओर ढलने से यह आत्मा शुद्ध अखण्ड अभेद पूर्णानन्दस्वरूप, वह आत्मा की पर्याय में प्राप्ति हुई, ऐसा कहा गया। आहाहा! समझ में आया? वह आत्मा की उपलब्धि-प्राप्ति हुई, आत्मा उसमें आया नहीं। समझ में आया? सुजानमलजी! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में वह पूरी चीज़ आयी है, उसका ज्ञान आ गया। अर्थात् उपलब्धि हो गयी, यह आत्मा ऐसे प्राप्ति हो गयी। प्राप्ति हुई, इसका अर्थ यह आत्मा पर्याय में आया नहीं। आहाहा! परन्तु पर्याय में वह जितना है, जैसा है, उसका ज्ञान आया; इसलिए आत्म-उपलब्धि हो गयी, ऐसा कहा। आहाहा!

उसे शुद्धात्मा ही निश्चल है। जो है, वह निश्चल। चित्त की आकुलतारहित है। आहाहा! जिसमें विकल्प का स्थान नहीं जिसमें। वह तो निर्विकल्प चैतन्य द्रव्य है, उसकी प्राप्ति पर्याय में हुई। आहाहा! ऐसा शब्द है न? आत्मस्वरूप की उपलब्धि हुई। अर्थात् कि जो आत्मा द्रव्यस्वभाव से शुद्ध चैतन्य अखण्ड अभेद, उसका अस्तित्व था, वह पर्याय में ख्याल में नहीं आया था, पर्याय में राग और पर का ख्याल आया था, उस पर्याय में यह द्रव्य ऐसा पूर्ण है, शुद्ध है, अभेद अखण्ड है—ऐसा पर्याय में उसका भान

हो गया (तो) द्रव्य की पर्याय में उपलब्धि—प्राप्ति हुई। आहाहा! समझ में आया? कान्तिभाई! मार्ग ऐसा है, बापू! अरे... इसे देह छूटने के काल में इसे यह आत्मा पर से भिन्न है अनुभव हुआ होगा, उसे वहाँ छूटने में निर्विकल्पता रहेगी। वहाँ भिन्न रहेगा, बाकी दब जायेगा। आहाहा!

अनादि का देह का यह अभ्यास और देह में कुछ रोग हो। देह में रोग आवे तो मुझे रोग आया, उसमें शूल चढ़े, शूल चढ़े। आहाहा! नसों का तनाव हो। अभी कौन कहता था तनाव हो। यह यह.. और... तनाव हो। देह की क्रिया हो। परन्तु वहाँ उसका वस्तुस्वरूप जो है, जिस प्रकार से और जितना, ऐसा जिसे ज्ञान में न आवे, तब तक तो उसकी बुद्धि राग में ही जाती है। आहाहा! उसके ज्ञान में राग की प्राप्ति है। आहाहा! ऐसा अनात्मदर्शी अरण्य और गाँव का अन्तर डालता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जिसे पर्याय में वस्तु ऐसी है सामान्य ध्रुव; उस ध्रुव की पर्याय में प्राप्ति हुई। वह आत्मा नहीं था पर्याय में, उस आत्मा का (ज्ञान) आया, वह आत्मा आया। आहाहा! समझ में आया? उस पर्याय में आत्मा नहीं था, उसकी पर्याय में रागादि, वह था। उस पर्याय में आत्मा आया। आहाहा! उसे कहते हैं कि निवासस्थान तो आत्मा है अब। जेठाभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! उसका निवासस्थान तो असंख्य प्रदेशी आनन्दधाम यह है। समझ में आया? अज्ञानी यह गाँव और अरण्य, ऐसे भाग करके वास मानता है। वह पर में कहाँ वास है उसे? जंगल में है आत्मा? गाँव में आत्मा नहीं?

मुमुक्षु : इसलिए जंगल में मुनि रहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका तो कुछ बेचारे को... अरे... इसकी कहीं अपने व्यक्ति को क्या कहें? वस्तु का स्वरूप ऐसा है, बापू! आहाहा!

ओहोहो! मुनिपना अर्थात्... अभी सम्यग्दर्शन किसे कहना, उसकी खबर नहीं होती। आहाहा! व्यवहार के क्रियाकाण्ड करे, वह साधुपना और वह मुनिपना। आहाहा! ऐसा तो अनन्त बार अभव्य ने माना और भव्य ने भी माना था। और ऐसी (क्रिया) कहाँ है? नौवें ग्रैवेयक जैनदर्शन की व्यवहार क्रियावाला द्रव्यलिंगी जो गया, ऐसी क्रिया कहाँ है अभी? आहाहा! व्यक्ति के लिये नहीं। सबकी जवाबदारी तो उसके परिणाम

की सबको सबमें है, बापू! यह कहीं जवाबदारी का दूसरे को कोई नुकसान-लाभ नहीं है। आहाहा! ओहोहो! क्या बात की!

जिसे ज्ञान की पर्याय में आत्मा प्राप्त हुआ। आहाहा! आत्मा जड़ा—हाथ आया। ऐई! ज्ञान की दशा में जो राग हाथ आया था। एक समय का अंश वह मैं, उसे हाथ वह आया। वह अनात्मदर्शी है। आहाहा! जिसके ज्ञान की पर्याय में और श्रद्धा की पर्याय में। श्रद्धा पचाती है न पूर्ण को? पूर्ण उसकी पर्याय में आता नहीं, तथा पर्याय पूर्ण में जाती नहीं। आहाहा! दो धर्म भिन्न हैं न? तथापि यहाँ कहा कि '**दृष्टात्मनां निवासस्तु**' ऐसा कहा न। '**दृष्टात्मनां**' जिसे आत्मा दृष्टि में आया है, ऐसा कहा न पाठ में? भाई! ऐसा आया था। '**ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।**' आहाहा! क्या परन्तु आचार्यों ने, आहाहा! मुनियों ने काम किया है! '**दृष्टात्मनां निवासस्तु**' परन्तु जिसने आत्मा को प्राप्त किया है, देखा है, ऐसा कहत हैं। आहाहा! पर्यायबुद्धिवाले ने आत्मा देखा नहीं। द्रव्यदृष्टि अर्थात् कि दृष्टि जो द्रव्य की हुई, तब उसने आत्मा को देखा। आहाहा! यह मार्ग ऐसा, बापू!

पाठ में तो '**दृष्टात्म**' है न? '**दृष्टात्मनां**' अर्थात् कि आत्मा के स्वरूप का अनुभव हुआ अर्थात् पर्याय में आत्मा है, ऐसा दिखाई दिया, है ऐसा अनुभव हुआ, है उसकी प्राप्ति हुई। आहाहा! उसे तो निवासस्थान तो आत्मा है। आहाहा! यह बाहर के मकान-फकान, गाँव और उपाश्रय, यह इसका निवासस्थान नहीं, कहते हैं। आहाहा! इसी प्रकार अरण्य का निवासस्थान इसका नहीं। आहाहा! जिसे पर्याय में द्रव्य हाथ आया—वह द्रव्य जहाँ पर्याय में ज्ञात हुआ, वहाँ पर्याय का वास तो द्रव्य में है। पर्याय तो पर्याय में रही है। समझ में आया? परन्तु उस पर्याय का ध्येय जो द्रव्य है ज्ञात हुआ है, उसके ऊपर उसका जोर रहने का है। आहाहा! समझ में आया? चेतनजी! ऐसी बातें हैं। यह सब इनकार करते हैं। अरण्य का इनकार किया। अरण्य और गाँव वह तो अनात्मदर्शी के लिये। इन्हें यह सिद्ध करना है न! इतनी बात। इसलिए यह व्यवहार उड़ाते हैं और इसलिए यह निश्चयाभास है, ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा!

जिसे पर्याय में द्रव्य भासित नहीं हुआ, उसे यह रहना, यहाँ रहना, गाँव में रहना,

जंगल में रहना, एकान्त में रहना—ऐसे भेद वह करता है, ऐसा कहते हैं। जिसे वस्तु हाथ आयी... आहाहा! जिसे पर्याय में प्रभु प्राप्त हुआ। वह पेड़ावाला है कोई। उसके ऊपर ऐसा लिखा है। राजकोट का पेड़ावाला। कोई है। वेदान्त के चारों ही पक्ष में लिखा है। भाषा बहुत... राम सच्चिदानन्द प्रभु जहाँ है, वहाँ दूसरा रागादि है नहीं। उसने व्यापक कहा। वह पेड़ावाला भाई होता है न वह बॉक्स। बॉक्स। रामजीभाई पटेल आज लाये थे। राजकोट से। उसमें चारों ओर... भले वेदान्त की शैली। सर्वव्यापक भगवान है, परन्तु जिसका प्रेम हो, उसे दिखता है।

मुमुक्षु : पेड़ा के ऊपर लिखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पेड़ा के बॉक्स पर। बॉक्स के ऊपर लिखा था। आहाहा! राम सच्चिदानन्द प्रभु, वहाँ दूसरा कहाँ है कुछ? भले उसने यह माना परन्तु वस्तुस्थिति तो यहाँ है। सर्वव्यापक वह कहीं क्षेत्र से नहीं। विभु अपने अनन्त गुण में व्यापक है। आहाहा! और पर्याय में सबको जाने, इस अपेक्षा से व्यापक कहा गया है। आहाहा! क्योंकि एक समय की पर्याय वह वस्तु जो द्रव्य पूरी है परमात्मस्वरूप, उसे जिसने पर्याय में हाथ में ले लिया, उसे उस पर्याय में लोकालोक का भी ज्ञान हाथ आ गया। आहाहा! समझ में आया? इसलिए उसके लिये स्थान ठीक और यह स्थान ठीक नहीं। (ऐसा नहीं)। आहाहा!

अब उसे कोई ऐसा कहे कि यह तो अकेली निश्चय की बात की। अरण्य में रहे नहीं? भाई! सुन न, किस अपेक्षा से बात है? ऐसे टीका (आलोचना) नहीं होती। आहाहा! स्वयं अरण्य में रहे—जंगल में रहे, गाँव में रहे नहीं और फिर कहे कि अरण्य में रहे, वह अनात्मदर्शी। ऐई!

मुमुक्षु : वह तो द्रव्य की अपेक्षा से।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो किस अपेक्षा से, बापू! जहाँ जाये अपने में है वह। आहाहा!

श्रीमद् को किसी ने पूछा न! श्री कृष्ण कहाँ हैं, भाई! श्रीकृष्ण आत्मा में है। लोगों को बाहर की वह गति-फति के विवाद होते हैं न, उसकी दिक्कत। वे जहाँ हैं,

वहाँ आत्मा में हैं, भाई! वे राग में और नरक के स्थान में वे नहीं हैं। आहाहा! व्यवहार हो, उसे जानते हैं। भाई! आत्मज्ञान और आत्मदर्शन तो अलौकिक चीज़ है। आत्मदर्शन न? आत्मदर्शन न? और आत्मज्ञान न? आहाहा!

पूर्ण स्वरूप परमात्मस्वरूप जिसकी पर्याय में भासित हुआ, वह परमात्मपना पर्याय में भासित हुआ। परमात्मा अर्थात् परमस्वरूप जो है, परमपारिणामिक ज्ञायकभाव। आहाहा! वह पर्याय में भासित हुआ, उसे तो अब आत्मा में निवास है। वनवास का यहाँ निषेध किया है, ऐसा नहीं। मात्र वनवास और गाँव में अन्तर पड़ने से आत्मा का साधन हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! गाँव के नजदीक तो सियार और श्वान होते हैं, ऐसा कहे। लिखा था ऐसा भाई ने। मोक्षमार्गप्रकाशक में। बात ऐसी है। जंगल में पशु भी गाँव के समीप नहीं रहते। श्वान और सियार ऐसे नजदीक आकर (रहते हैं)। आहाहा!

इसी प्रकार जिसे अरण्य में अपना साधन होता है, ऐसी वस्तु की स्थिति अरण्य के कारण नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा जहाँ अन्दर दृष्टि में आया, वस्तु दृष्टि में आयी और वस्तु ज्ञान की पर्याय में आयी अर्थात् ज्ञात हुई, ऐसा। 'वह तो प्रभु ने ही दिया।' आता है न? लो, आत्मा दिया, इसका अर्थ क्या हुआ? कि पर्याय में जो आत्मा नहीं था, वह ज्ञात हुआ, यह आत्मा आया। यह आत्मा प्राप्त हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरु ने दिया, ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार की बातें। पर्याय में द्रव्य आया, यह व्यवहार की बातें। द्रव्य कहाँ आया? द्रव्य तो द्रव्य में है। उपलब्धि हुई। पर्याय में उतना जितना है, उसका ज्ञान हुआ अर्थात् उपलब्धि हुई, ऐसा कहने में आया। भाई! भाषा पकड़े तो अन्त नहीं आवे। उसका हार्द क्या है? भाव क्या है? ओहोहो!

यह शरीर के अवयव-अवयव से पृथक् पड़ना हो जब, तब जिसे पृथक् आत्मा ज्ञान की पर्याय में आया नहीं जिसे, उसे तो वहाँ दब जायेगा। प्रतिकूलता होने पर उसे द्वष हुए बिना रहेगा नहीं। क्योंकि आत्मा जो वस्तु है, वह पर्याय में तो आयी नहीं, तब उस पर्याय में तो यह आया। आहाहा! शरीर में प्रतिकूलता हो, तो मुझे दुःख उसके कारण हुआ, ऐसा इसने माना। आहाहा! और देह छूटने के समय ऐसा अन्तड़ियाँ-

अंतड़ियाँ... पृथक् पड़ना है न असंख्य प्रदेश से। पृथक् तो है, परन्तु यह अभी अज्ञानी को क्षीर-नीर की भाँति इकट्ठा दिखता है। बाकी क्षीर, क्षीर में—दूध, दूध में और पानी, पानी में है। ओहोहो! दिगम्बर सन्तों ने केवलज्ञान का कक्का घुंटाया है? केवलज्ञान कैसे प्राप्त हो? पूर्णदशा कैसे प्राप्त हो? कि पूर्ण को दृष्टि में लेने से और पूर्ण में स्थिर होने से केवलज्ञान होता है। आहाहा! यह संहनन है, इसलिए केवलज्ञान होता है, मनुष्यपना मिला, इसलिए होता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो मार्ग अन्दर की जिसे पड़ी हो, उसकी बातें हैं, भाई! अकेली बातें करके प्रसन्न हो जाये (कि) अपने को आया, हम सीखे हैं। अब अपने को कुछ नया सीखना नहीं है। आहाहा! समझते हो? भाषा समझते हो न? गुजराती थोड़ी-थोड़ी। यह तो अभ्यास हो जाये तो हो जाये, हों!

अपने भाई आये हैं न रोहतक। क्या नाम? ज्योतिप्रसाद। नाम क्या? ज्योतिप्रसाद, रोहतक से आये हैं। थोड़ी-थोड़ी भाषा गुजराती। यहाँ हिन्दी चलती है, जब वह कक्षा चलेगी न तब। हिन्दी लोग आवें, तब हिन्दी चले। परन्तु ऐसा तत्त्व स्पष्ट हिन्दी में आना बहुत मुश्किल है। यह तो सहज अन्दर से... ओहोहो!

भावार्थ - जिसको आत्मा का अनुभव नहीं है,... अर्थात् आत्मा क्या चीज़ है, उसकी पर्याय में प्राप्ति नहीं। आहाहा! और उसकी पर्याय में राग की तथा पर के निमित्त की प्राप्ति है। आहाहा! ऐसे **भेदज्ञान नहीं है, उस पुरुष को ग्राम या जंगल में बसने का विकल्प आता है।** वह भी व्यवहार से बाकी... मुनि को भी आता है। परन्तु वह तो एकान्त में स्थान होता है, ऐसा विकल्प आता है। परन्तु एकान्त में स्थान है, इसलिए आत्मसाधन वहाँ अधिक होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! जंगल में रहने का ही विकल्प होता है, परन्तु उस जंगल में रहूँगा, इसलिए आत्मा में निवास अधिक होगा, ऐसा विकल्प नहीं है। समझ में आया?

उस पुरुष को ग्राम या जंगल में बसने का विकल्प आता है। जो आत्मदर्शी है- जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है,... आहाहा! आत्मा का अनुभव का अर्थ कि पर्याय में, आत्मा है—ऐसा ज्ञान आता है, ऐसा अनुभव है ऐसा। **उसका निवास स्थान वास्तव में अपना शुद्धात्मा ही है।** आहाहा! देह छूटने पर किसी को निर्विकल्पदशा भी होती है,

किसी को सविकल्प होती है, तथापि समाधिमरण है। क्योंकि वह दृष्टि और पर्याय का जोर वहाँ द्रव्य पर है और ऐसा द्रव्य है, उसका उसे भान हो गया है। इसलिए कदाचित् मरते हुए, देह छूटते हुए विकल्प हो कि यह... यह... इसमें कुछ होता है, वह मैं। उपसर्ग-परीषह का ख्याल भी आ जाये और देह छूट जाये। परन्तु तो भी पर्याय में जो द्रव्य का भान हुआ है, इससे उसे विकल्प वहाँ समाधि को नुकसानकर्ता नहीं है। आहाहा! निर्विकल्पता से देह छूटे, वह तो जोरदार अभ्यास। समझ में आया? विकल्प में हो, अन्दर समाधि में पड़ा है। देह से भिन्न और राग से भी भिन्न, ऐसी पर्याय में वस्तु की प्राप्ति होती है, उसे विकल्प की प्राप्ति पर्याय में नहीं हुई। आहाहा! समझ में आया? अरे... एक दिन ऐसा आयेगा। इस भव में आयेगा? आहाहा!

मुमुक्षु : नजदीक आता जाता है न प्रत्येक को।

पूज्य गुरुदेवश्री : नजदीक आता जा रहा है। जितने-जितने दिन जाते हैं, उतना मरण के समीप जाता है। प्राणभाई दूर बैठे हैं। प्राणभाई! जिज्ञासु बहुत हैं। बोटाद में यह एक पके हैं। आहाहा!

वस्तु, उसकी-वस्तु की दृष्टि का-रुचि का जोर इसे चाहिए पहले। उस रुचि के जोर से जब अनुभव हो, तब पर्याय में आत्मा आ गया। आहाहा! नहीं था, भटकता (था इसलिए) नहीं था इसकी पर्याय में। आहाहा! उसे कहते हैं **निवास स्थान वास्तव में अपना शुद्धात्मा ही है।**आहाहा! ऐसा अब व्याख्यान। गिरधरभाई! वह शीघ्रता से बुलाते हों, ऐसे सब ५० हजार लोग, लाख लोगों के अन्दर। ऐसा होता है और ऐसा होता है और ऐसा होता है। बापू! सब मार्ग समान हैं, सबके प्रति समभाव रखो।

अपने-अपने धर्म में जो-जो व्यक्ति पड़े हैं, वे सब धर्म के साधक ही हैं, ऐसा कहे। आहाहा! सबको कैसा अच्छा लगे! आहाहा! धर्म का साधक तो धर्मी जो चीज़—वस्तु है, वह दृष्टि में न आवे, ज्ञान में न आवे और साधक कहाँ से हो? उसे समन्वय डालना कहाँ से? आहाहा! वह गाया था अभी वहाँ। भावनगर में नहीं गाया था? एक मन्दिरमार्गी पण्डित है न। वहाँ थे, तुम आये थे भावनगर? यह पंचकल्याणक के समय। हाँ, वह। रात्रि में नहीं गाया था? घण्टे, सवा घण्टे गाया था। घण्टे के पन्द्रह

सौ रुपये दिये थे एक घण्टे के। ऐसा करके आया हुआ निश्चित करके, इसलिए क्या करे? था तो कुछ नहीं।

मुमुक्षु : पिनाकीन शाह।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तुम्हारे यहाँ आया था। यहाँ अभी उसके यहाँ आहार था न हमारे। नजदीक प्लेन में आना था तब आहार था। आहार के पहले पहुँचे थे हम पहले, इसलिए वहाँ आया था। दो गायन बोले थे।

ऊँचा मंदिर ने माळिया, सोड ताणीने सूतो,
काढो काढो रे अेने सहु कहे, जाणे जन्म्यो नहोतो।

परन्तु यह तो वैराग्य की बातें। मूल तत्त्व की दृष्टि बिना का वैराग्य हो ही नहीं सकता।

मुमुक्षु : वैराग्य भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह वैराग्य कहाँ है? आहाहा!

मुमुक्षु : वैराग्य तो आत्मा का....

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर अस्तित्व का भान होकर राग से भिन्न पड़े, वह वैराग्य है। आहाहा! 'सगी नारी रे तारी कामिनी, ऊभी टग टग जोवे रे, आरे कायामां हवे कांई नथी, धुसके धुसके रोवे।' दो गायन बोला था न, नहीं? दो बोला था। आहार के समय, फिर समय था न। पहले आ गये थे न वहाँ। दिशा को बाहर गये थे, गाँव में से आना था। यह तुम्हारे दाद... के दर्शन करके। दाद... के दर्शन करके गये थे न वहाँ। तुम्हारे वहाँ पहले आये थे। फिर आहार करने में देरी थी, वहाँ यह गाया था। कहा, लोग ऐसी बात में सब मान लेते हैं कि आहाहा!

परन्तु जिसे आत्मा दृष्टि में नहीं आया, उसका उसे वैराग्य ही नहीं कहलाता। वह तो मिथ्यात्व-सहित मन्द कषाय हो। आज ही लेख आया है उसमें, हों वापस। कान्तिलाल का। दूसरे से वह उस दिन गजट में आया है। आज पढ़ा। उस दिन पढ़ा नहीं था। विशुद्धभाव से निर्जरा होती है। यह राग नहीं, भले राग साथ में हो। अरे... अरे... भगवान! दुनिया को अच्छा लगे और अपनी मान्यता का पोषक हो, विशुद्धभाव (के

साथ का) राग बन्ध का ही कारण है। अंश भी निर्जरा का कारण नहीं। हाँ, भले शुभराग से उसे जरा थोड़ा अशुभ टले, परन्तु वह कहीं अशुभ मूल टलता नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं जिसे **वह राग-द्वेषादि रहित और निश्चल होने से,...** आत्मा। शुद्धात्मा अपना आत्मा है, वह राग-द्वेषादि रहित और निश्चल होने से **उसकी ग्रामनिवास या वननिवास के लिए प्रेम नहीं होता।** बस इतना। **और उसका चित्त संकल्प-विकल्प से आकुलित होता नहीं। वह ग्राम अथवा वन को अपने आत्मस्वरूप से बहिर्भूत समझता है;...** दोनों बाहर है न? **इसीलिए किसी में भी आसक्ति रखना अथवा उसको अपना निवास स्थान मानना, उसको इष्ट नहीं है। वह तो शुद्धात्मस्वरूप को ही अपनी विहारभूमि...** आहाहा! वहाँ विहार कर! नहीं आता? समयसार में (गाथा-२०६ में)। वहाँ विहार कर, भाई! तेरा निवासस्थान महाप्रभु है।

वह तो शुद्धात्मस्वरूप को ही अपनी विहारभूमि बनाता है और सदा उसी में रमा करता है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल २, शुक्रवार, दिनांक ११-०७-१९७५, श्लोक-७३-७४, प्रवचन-८६

७३ गाथा का अन्तिम है। जहाँ-जहाँ आत्मा का भान हुआ है... नहीं हुआ उसे आत्मा का भान करना, यह बात है। अपना स्वभाव शुद्ध ध्रुव है, उसमें पर्याय को पसारना। पर्याय को द्रव्य की ओर ढालना। यह पहला कर्तव्य है। आत्मज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान की पर्याय में आत्मा द्रव्य आवे अर्थात् कि उसका ज्ञान आवे। यह पहले में पहला कर्तव्य तो यह है। अब कहते हैं कि जिसे आत्मज्ञान हुआ और दर्शी—आत्मदर्शी अर्थात् दृष्टि में, यह आत्मा है, ऐसा अनुभव में आया, उसे बाहर के आसनों की कोई आवश्यकता नहीं है। वह गाँव में रहे या अरण्य में रहे तो उसे लाभ हो, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! उसे तो अन्दर आत्मा का ही अवलम्बन है।

उसे **चटाई** हो तो उसका भी आधार उसका आश्रय नहीं है। है न? अन्तिम दो लाईनें। स्वयं ही आत्मा आनन्दस्वरूप ध्रुव, जिसमें से पर्याय खड़ी होती है। उस पर्याय का आधार जो ध्रुव है, उसका जहाँ अन्तर अनुभव हुआ, उसे अब विशेष आगे जाने पर ध्यान के लिये वह आत्मा ही साधन है। उसे चटाई अच्छी हो तो वहाँ ध्यान हो सके, ऐसा है नहीं। आहाहा!

पत्थर,... अच्छे हो बैठने की शिला बराबर ऐसी। वह भी कहीं आत्मा के अवलम्बन भाव में उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। आहाहा! **घास...** कोमल घास हो बैठने की तो इसे ठीक पड़े, ध्यान के लिये ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! नदी में, समुद्र में, साधु को डाला। आहाहा! वहाँ बहते-बहते भी आत्मा के ध्यान में थे। आहाहा! उसमें एकाग्र होकर वहाँ केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं, लो! वहाँ कुछ आसन भी नहीं है। आहाहा!

जिसे आत्मा ध्येय स्वरूप में पकड़ में आया है, उसे ध्यान के लिये वह अवलम्बन आत्मा है। आहाहा! कहो, मेरु पर्वत के ऊपर ऐसे पछाड़े साधु को। अब उसमें वहाँ आत्मा में ध्यान लगाया है। आहाहा! बाहर से विकल्प से हटकर, अन्तर के ध्यान में महा आधार भगवान आत्मा का वहाँ है। आहाहा! वह शरण है, वह आधार है। उसे ऐसे

बाहर की जमीन अनुकूल हो तो ध्यान हो, ऐसा कुछ है नहीं। निःसार है। आहाहा! निःसार है न अन्त में? ऐसा ज्ञानीजनों को मान्य है। है, निःसार देखो पीछे।

आत्मस्वरूप के अनुभव के लिए ग्राम-अरण्य की तरह, अन्य परपदार्थ भी निःसार हैं;... है? आहाहा! जहाँ दृष्टि में और ज्ञान की पर्याय में भगवान पूर्णानन्दस्वरूप जहाँ आया, उसे अब दूसरे आधार और अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! तथापि वह सामायिक करे, तब क्या ऐसा भी आता है रत्नकरण्ड श्रावकाचार में। सामायिक में बैठे, बाल-वाल बाँधना, कपड़े ऐसे करना, वस्त्र फर्र-फर्र हो न ऐसे। वह सब व्यवहार की बातें हैं। आती है न सामायिक? रत्नकरण्डश्रावकाचार में। सामायिक के समय सुख से ध्यान हो सके, ऐसा आता है। व्यवहार की बात आवे तो ऐसा बतावे। आहाहा! अर्थात् बाहर के वस्त्र फर्र-फर्र हो तो ध्यान न हो, ऐसा कुछ नहीं है। यहाँ तो मुनि की अपेक्षा से बात है, वहाँ उन्हें कपड़े-बपड़े... वस्त्र है ही नहीं जहाँ... आहाहा! अकेला शरीर, नग्नदशा। आहाहा! उसे अन्तर ध्यान के लिये बाहर के कोई पदार्थ निःसार है—सार है नहीं। आहाहा!

कहा नहीं था कि भगवान क्या ध्यान करे? भगवान तो केवली हैं। वे भगवान आनन्द का ध्यान करते हैं। आहाहा! आनन्द को अनुभव करते हैं, ऐसी बात है। आहाहा! प्रश्न चला है न? केवली क्या ध्यान करे? कि वह तो आनन्द का स्वरूप जो प्रगट हुआ है, उसे वेदते हैं। उसे ध्यान कहा जाता है। आहाहा! निचलीदशा में भी आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, जो दृष्टि में और ज्ञान में आया है, उसका स्वरूप आया है पर्याय में। वह पर्याय वहाँ ही बारम्बार ढला करती है। आहाहा! उसका आलम्बन ध्यान के लिये तो आत्मा है। कहो, सुजानमलजी! आहाहा! परमसत्य बात है।

यह गुफा में जाना और एकान्त में जाना, वहाँ ध्यान... परन्तु ध्यान करनेवाला तो वहाँ सर्वत्र तू है। इसलिए अन्दर में ढलना है, उसके लिये बाहर का कोई साधन अनुकूल हो कि यह कुछ है नहीं। आहाहा! इतना निरालम्बन। निरालम्बन आत्मा। समवसरण (स्तुति) में आया है न, जैसा निरालम्ब आत्मा ऐसा निरालम्ब भगवान, ऐसा (आया है)। अध्धर। क्या कहलाता है वह? कमल। सिंहासन होता है और उसके

ऊपर क्या कहलाता है वह? गन्धकुटी। भगवान कहीं गन्धकुटी में नहीं बैठते। देहसहित केवली हैं, तो उस गन्धकुटी को नीचे उनका शरीर स्पर्श नहीं करता। अध्धर रहते हैं। आहाहा! ऐसी दशा हो जाती है। करनी है कहीं उन्हें कि ऐसा करना है या ऐसा करना है? आहाहा!

और केवली भी तीर्थंकर की सभा में होते हैं। यह कहीं सुनने के लिये बैठे हैं? उस प्रकार की योग्यता के कारण शरीर वहाँ स्थिर हो गया। केवलज्ञान है, उन्हें सुनना कहाँ है और कहना कहाँ है? वहाँ भगवान की वाणी निकलती है। वे तो ध्यान में हैं। आनन्द के ध्यान में हैं, उस समय वे। आहाहा! परन्तु वह आनन्दस्वरूप है, ऐसा दल है आत्मा, ऐसा उसे ध्यान में-समकित में आना चाहिए। जो कुछ सुख तू चाहता है, तेरी आनन्द की भावना है, उस भावना को सार्थक करनेवाला तो आत्मा का स्वरूप है। क्योंकि वह आनन्दस्वरूप है। आहाहा! उसे स्पर्श करने से, पर्याय में उसे स्पर्श करे (तो) उस आनन्द की दशा प्रगट हो, उसके आधार के लिये तो आत्मा है। आहाहा!

यह तो पंचम काल के साधु हैं। कोई कहे, यह तो चौथे काल की बात है। आहाहा! काल-फाल वहाँ कोई है? चौथा भी नहीं और पाँचवाँ भी नहीं। मुनि स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य पाँचवें काल के साधु, अमृतचन्द्राचार्य पाँचवें काल के साधु हैं, लो! यह सब दूसरे हैं। आहाहा! यह लकड़ी का पटिया अच्छा हो बैठने का कोमल, व्यवस्थित तो ध्यान हो, ऐसा नहीं है, कहते हैं।

इत्यादि ध्यान के लिए निःसार हैं... है? आहाहा! **'नो फलको विनिर्मितः'** यह न? उस ओर है न श्लोक?

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः॥

धर्मात्मा ज्ञानी का तो यह मत है, कहते हैं। आहाहा!

क्योंकि जिसने राग-द्वेष और विषय-कषायरूपी शत्रुओं को दूर किया है, वैसे पुरुष को तो उसका आत्मा ही ध्यान के लिए सच्चा अत्यन्त निर्मल आसन है... आहाहा! यह निर्मल... निहालभाई ने कहा नहीं है एक जगह? मैं तो पालथी लगाकर

अन्दर बैठ जाता हूँ। भाषा ऐसी सादी कर डाली है। पालथी लगाकर मैं तो अन्दर में बैठ जाता हूँ, ऐसा। ऐई... चेतनजी! पालथी लगाकर, ऐसा (शब्द) है। वहाँ पालथी लगाते होंगे? इसका अर्थ कि मेरी पर्याय वहाँ स्थिर हो जाती है, ऐसा। आहाहा! लोगों को विशेष ऐसा लगे। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

पर्याय में द्रव्य को स्थापित कर—उसमें लीन किया, वह पालथी लगाकर बैठ गया, इसका अर्थ यह। आसन डाला ध्रुव में, ऐसा। ऐसा कठिन मार्ग, भाई! यह तो पंचम काल के साधु के लिये यह मार्ग है। ऐसा नहीं, यह चौथे काल की बात नहीं कहीं। अरे... जिसे सम्यक्त्व हुआ, उसे भी यही उपाय है। पाँचवें काल में भी और सम्यक्त्व होने के लिये भी एक ही भाग है। आहाहा! पाँचवें काल के लिये या चौथे काल के लिये (एक ही मार्ग है)। त्रिकाल आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसमें ध्यान करके उसे विषय में लेना, लक्ष्य में (लेना), वह सम्यक्त्व प्राप्त करने की कला और पद्धति यह है। और पश्चात् भी ध्यान करने के लिये आत्मा ही अवलम्बन है। बाहर का कोई साधन अवलम्बन है नहीं। आहाहा!

वैसे पुरुष को तो उसका आत्मा ही ध्यान के लिए सच्चा अत्यन्त निर्मल आसन है-ऐसा ज्ञानीजनों ने माना है। है न? '**सुधी**'। है न? सुधी है न? ज्ञानी-धर्मी जिसकी बुद्धि सम्यक् हुई है। ऐसे ज्ञानी ने ऐसा माना है कि बाहर के आसन की कोई उसे आवश्यकता नहीं है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसमें जिसने आसन लगाया है। आहाहा! उसमें जिसकी पर्याय स्थिर है, बस उसे पर के आसन की कोई आवश्यकता नहीं है। आहाहा!

आत्मस्वरूप के अनुभव के लिए ग्राम-अरण्य की तरह,... ग्राम-अरण्य तो पाठ में था न? और यह तो दूसरे श्लोक का आधार दिया न, इसलिए कहा। **अन्य परपदार्थ भी निःसार हैं;...** पाठ में तो यह था न ७३ में तो। '**ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्**' परन्तु कहते हैं कि इसके अतिरिक्त दूसरे भी अन्य पदार्थ निःसार हैं। **त्रिकाली शुद्धात्मा का अवलम्बन ही सारभूत है।** आहाहा! शरण यह, उत्तम यह, मंगल यह। आहाहा!

श्लोक - ७४

अनात्मदर्शिनो दृष्टात्मनश्च फलं दर्शयन्नाह -

देहान्तरगतेबीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥ ७४॥

देहान्तरे भवान्तरे गतिर्गमनं तस्य बीजं कारणं किं? आत्मभावना। क्व? देहेऽस्मिन् अस्मिन् कर्मवशाद्गृहीते देहे। विदेहनिष्पत्तेः विदेहस्य सर्वथा देहत्यागस्य निष्पत्तेर्मुक्तिप्राप्तेः पुनर्बीजं स्वात्मन्येवात्मभावना॥७४॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी के फल को दर्शाते हुए कहते हैं :—

आत्मबुद्धि ही देह में, देहान्तर का मूल।
आत्मबुद्धि जब आत्म में, हो तन ही निर्मूल॥ ७४॥

अन्वयार्थ - (अस्मिन् देहे) इस शरीर में (आत्मभावना) आत्मा की जो भावना है-शरीर को ही आत्मा मानना है, वही (देहान्तरगतेः) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्ति का (बीजं) बीज अर्थात् कारण है और (आत्मनि एव) अपनी आत्मा में ही (आत्मभावना) आत्मा की जो भावना है-आत्मा को ही आत्मा मानना है, वह (विदेहनिष्पत्तेः) शरीर के सर्वथा त्यागरूप मुक्ति का (बीजं) बीज / कारण है।

टीका - अन्य देह में अर्थात् अन्य भव में; गति अर्थात् गमन; उसका बीज अर्थात् कारण क्या? आत्मभावना। किसमें? इस देह में अर्थात् कर्मवश ग्रहित इस देह में। विदेहनिष्पत्ति का — विदेह की अर्थात् सर्वथा देहत्याग की निष्पत्ति का अर्थात् मुक्ति प्राप्ति का बीज अपने आत्मा में ही आत्मभावना (करना, वह) है।

भावार्थ - शरीर में आत्मबुद्धि करने से अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानने से, अन्य भव में भी शरीर की ही प्राप्ति होती है और अपने आत्मा में ही-निजस्वरूप में आत्मबुद्धि करने से अर्थात् आत्मा को ही आत्मा मानने से, मुक्ति होती है-देह का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है।

इसलिए पुनः शरीर की प्राप्ति न हो-पुनर्भव न करना पड़े, इसके लिए

ज्ञानी को शरीर में आत्मबुद्धि का त्याग करके, अपने आत्मा में ही आत्मभावना करना-यही योग्य है।

विशेष स्पष्टीकरण -

आचार्य कुन्दकुन्ददेव श्री प्रवचनसार में कहते हैं कि —

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु॥१५०॥

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति॥१५१॥

अर्थात्, जब तक देहप्रधान विषयों में ममत्व नहीं छोड़ता, तब तक कर्म से मलिन आत्मा बारम्बार अन्य-अन्य प्राण धारण करता है।

जो इन्द्रियों का विजयी होकर, उपयोगमात्र आत्मा को ध्याता है, वह कर्मों से रंजित नहीं होता; उसको प्राण कैसे अनुसरेंगे? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता)।

इष्टोपदेश, श्लोक-४६ में कहा है कि —

'जो अज्ञानी जीव, शरीरादिक पुद्गलद्रव्य को अभिनन्दता है; अर्थात्, उनको अपना मानता है-उनमें आत्मीयभाव करता है, उस जीव के साथ का संयोगसम्बन्ध, चारों गतियों में, वह पुद्गलद्रव्य नहीं छोड़ता।'॥७४॥

श्लोक - ७४ पर प्रवचन

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी के फल को दर्शाते हुए कहते हैं :— ७४।

देहान्तरगतेबीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥ ७४॥

टीका - अन्य देह में अर्थात् अन्य भव में; गति अर्थात् गमन;... दूसरा भव होना, उसका कारण **उसका बीज अर्थात् कारण क्या ? आत्मभावना। किसमें ? इस देह में...**

आहाहा! और परपदार्थ की अनुकूलता, वह मैं, रागादि अनुकूलता हो तो ठीक, शरीर की अनुकूलता हो तो ठीक, यह सब देहबुद्धि है। आहाहा! तब वे कहते थे न पेट में भूख हो, उसे फिर आत्मा की बात करो। एक कोई कहता था अभी। अन्दर में बड़बड़िया बोलता हो भूख का और उसे तुम आत्मा-आत्मा करो। अब परन्तु यह तो देह की क्रिया है, उसमें आत्मा को क्या? आहाहा! तुम्हारा वह नहीं? कांपवाला। कहाँ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कीरचन्दभाई। बोर्डिंग। यह वहाँ कहा था। ९० के वर्ष में राजकोट। बाहर जंगल गये थे न, साथ में आते थे। अब तो वहाँ मकान हो गये। जागनाथ-जागनाथ। मकान हो गये। यह खेत में वहाँ जाते थे। महाराज! तुम यह सब बातें करते हों परन्तु पेट में आहार न पड़ा, उसे आत्मा-आत्मा किस प्रकार बैठे? अब कहा, जब आहार न पड़े, तब तक आत्मा समझ में नहीं आता। आहार पड़ने के बाद पचे नहीं तब तक.... फिर जंगल व्यवस्थित न हो तब तक, अब, कब उसे आत्मा का करना? बाद में तो बदल गये थे।

यहाँ कहते हैं, **अन्य देह में अर्थात् अन्य भव में; गति अर्थात् गमन; उसका बीज...** कौन? उसका मूल कारण कौन? आहाहा! **आत्मभावना। किसमें?** आत्मभावना तो कही। ऐसा तो श्रीमद् कहे 'आतमभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे।' परन्तु इसमें आत्मभावना किसमें? वह आत्मभावना आत्मा में। आहाहा! आता है न यह? 'आतमभावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे।' बोले-रटे। परन्तु आत्मा क्या चीज़ है, उसका जिसे भान हुआ, वह उसमें एकाग्रता की भावना करता है। समझ में आया?

भाव, आत्मा का भाव—ज्ञायकभाव ज्ञात हुआ हो तो उसकी भावना करे। जो भाव दृष्टि में आया नहीं, उसकी भावना किस प्रकार करे? अर्थात् कि आत्मभावना भावता... बस हो गया लो रटो। रटने से क्या होगा? धुन लगाओ। धुन, वह तो विकल्प है।

मुमुक्षु : संस्कार तो पड़ते हैं न।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें संस्कार पड़े? वह तो सब विकल्प के संस्कार हैं। आहाहा!

यहाँ तो निर्विकल्प चैतन्य जो अभेद आनन्दस्वरूप है, उसके संस्कार अन्दर पड़े। वह तो निर्विकल्प से उसके संस्कार पड़े। ऐसी बात है।

आत्मभावना। किसमें ? इस देह में अर्थात् कर्मवश ग्रहित इस देह में। कर्म के आधीन हुए, कर्म के कारण से मिली जो देह, उसमें जिसकी आत्मभावना है। आहाहा! जिसे आत्मा पर से भिन्न, राग से भिन्न की खबर नहीं, उसकी यह भावना शरीर में ही जाती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो समाधितन्त्र है, भाई! यह कायर का काम नहीं है। यह तो वीरा का—वीर का काम है। आहाहा! **कर्मवश ग्रहित इस देह,** ऐसी भाषा है न ? '**कर्मवशाद्गृहीते देहे।**' है न ? संस्कृत में है। देह जो है, वह तो कर्म के कारण से प्राप्त हुई है। क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप नहीं और आत्मा के कारण से मिली नहीं है। आहाहा! आत्मा का स्वभाव तो कुछ मिले नहीं ऐसा है। आहाहा!

कर्मवश ग्रहित इस देह में। आत्मभावना। अर्थात् कि यह शरीराद्यं खलु धर्म साधनम्, आता है न ? शरीर अनुकूल हो, निरोग हो तो मन ठीक रहे और मन ठीक रहे तो ध्यान हो सके, ऐसा आता है। यह सब व्यवहार की बातें हैं। आहाहा! घाणी में पेले देह को, भगवान ध्यान में अन्दर रहकर केवल (ज्ञान) पा जाये। आहाहा! क्योंकि पर्याय का ध्येय जो वस्तु है, जिसकी पर्याय है, उसमें उसे झुकाया है। आहाहा! पर्याय जिसकी-ज्ञान की है, उस ज्ञान की पर्याय को ऐसे ज्ञायक की ओर जो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... है। उसकी ओर मोड़ा है अर्थात् उसे द्रव्य का ज्ञान होता है, इसलिए उसे गुण का ज्ञान होता है और इसलिए उसे पर्याय निर्मल का ज्ञान होता है। आहाहा! यह आ गया १५४ में, नहीं ? १५४, प्रवचनसार।

मुमुक्षु : द्रव्य, गुण और पर्याय तथा उत्पाद-व्यय।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य, गुण और पर्याय तथा ध्रुव और उत्पाद-व्यय। ध्रुव और उत्पाद-व्यय। वहाँ ध्येय ध्रुव का है न! ज्ञान की जो पर्याय है, वह पर्याय ऐसे अन्तर जो ज्ञानस्वरूपी वस्तु है, उसे ज्ञान की पर्याय वहाँ झुकाने से यहाँ द्रव्य का ज्ञान उसे होता है। उसे गुण का ज्ञान होता है और उसे पर्याय का ज्ञान होता है। यह आत्मा द्रव्य-गुण और पर्याय में है। वह राग में भी नहीं और पर में भी कहीं नहीं। आहाहा! ध्रुव और

उत्पाद, व्यय। जो पर्याय उत्पाद-व्ययवाली है, वह ध्रुव के अवलम्बन से है, अर्थात् उत्पाद की पर्याय में ध्रुव का ज्ञान होता है। इसलिए उस ज्ञान में ध्रुव अर्थात् द्रव्यस्वभाव यह कायम टिकता तत्त्व है, ऐसा पर्याय में ज्ञान होता है, वह ज्ञान ध्रुव को जाने और अपनी पर्याय को जाने। आहाहा! उसे यहाँ आत्मज्ञान और आत्मा का ध्यान कहा जाता है। जेठाभाई! कठिन बात! आहाहा!

बेचारा एक व्यक्ति कहता था, हों! वह वीरमगाँव से नहीं आया था? इनकमटैक्स। इनकमटैक्स न? कैसा?

मुमुक्षु : कस्टम।

पूज्य गुरुदेवश्री : कस्टम। कस्टम। कस्टम खाते का एक मन्दिरमार्गी आया था। बहुत वर्ष हो गये २०-२५ वर्ष। महाराज! हम रास्ते में चलते थे उसमें तुमने पत्थर मारे। हम शत्रुंजय दर्शन करने जायें। ऐई... जेठाभाई! वहाँ कैसे हमारे भाव हों। अब तुम कहते हो कि वह धर्म नहीं। आहाहा! घर की दुकान, धन्धा छोड़कर एकान्त निवृत्त जंगल जैसे जंगल में-तीर्थ में जायें, वातावरण उसमें कैसा! वह और स्थानकवासी कहता था। दीक्षा के पहले एक आया था। घूमता था। वह मिला था। वह कहे, यह शत्रुंजय जायें, वहाँ वातावरण बहुत अच्छा। अरे... परन्तु तू स्थानकवासी...

यह (संवत्) १९६८ की बात है। वहाँ एकान्त शान्त वातावरण। परन्तु शान्त वातावरण वह तुझे कहाँ से आया? शान्त वातावरण तो यहाँ अन्दर है... कुछ रहता है और मेंढ़क को खाता है। शान्त वातावरण है। मेंढ़क हों, (उसे) कौवा खाये। मोर निकले, सर्प को खाये-पकड़े। कहाँ गया शान्त वातावरण? बाहर के कारण से क्या है? इसलिए फिर यह कहे न, प्रतिमा के कारण कुछ नहीं। ऐसा कहकर उड़ावे। परन्तु यह प्रतिमा, जहाँ तक अन्दर स्थिरता न हो, वहाँ तक अशुभ से बचने के लिये ऐसा शुभभाव होता है और उस शुभभाव में यह लक्ष्य निमित्त वहाँ जाता है। वह धर्म नहीं, परन्तु धर्मी को ऐसा भाव शुद्ध पूर्ण जिसकी दशा प्रगट हुई है, उनकी प्रतिमा, उनका मन्दिर। देव कहा है न, भाई! मन्दिर को देव कहा है। सात देव, सात... नौ देव, नौ। मन्दिर देव, वाणी देव, जिनधर्म देव, दर्शन-ज्ञान-चारित्र देव... आहाहा! वे भाव परद्रव्य के ऊपर

लक्ष्य जाता है इसलिए उसे शुभभाव होता है। शुभभाव स्वयं से होता है, वह कहीं उसके कारण नहीं होता। ऐसा होता है, परन्तु वह व्यवहार है। वह पुण्यबन्ध का कारण है।

यहाँ तो उसका निषेध करना है कि उसके लक्ष्य से तो राग होगा। इसलिए यह कहीं एकान्त वहाँ जंगल में वहाँ ध्यान हो, ऐसा है नहीं। तेरा आत्मा ही जंगल है। आहाहा! विकल्प और संग रहित चीज़, वह तो असंग चीज़ है। उस असंग का परिचय कर तो तुझे संग के साधनों की आवश्यकता है नहीं। आहाहा! ऐसे उसके निरालम्बन तत्त्व को दृष्टि में, ज्ञान में पहले बैठना चाहिए। समझ में आया?

इसलिए वे कहते हैं न, भगवान के दर्शन से आस्रव टले, संवर बढ़े। ऐई... चेतनजी! आता है? देवचन्दजी। भगवान के दर्शन से आस्रव टले, संवर बढ़े। धूल भी नहीं। देवचन्दजी ने कहा। ऐसा कि भगवान के दर्शन से आस्रव टले, संवर बढ़े। जय... परद्रव्य के आश्रय से संवर बढ़े? बहुत विपरीतता है। आचार्य नाम धरावे, साधु नाम धरावे। वह सत् का अनादर करता है। परम सत् प्रभु, परम सत्य साहेबा, पूर्णानन्द का नाथ, जिसके अवलम्बन से केवलज्ञान होता है। उसे दूसरे अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! उसका उग्र आश्रय ले तो केवल(ज्ञान) होता है। मन्द आश्रय में समकित होता है, मध्यम आश्रय में चारित्र होता है और उग्र आश्रय में केवल(ज्ञान) होता है। परन्तु उसका माहात्म्य न आवे, तब तक उसे यहाँ से होगा... यहाँ से होगा... यहाँ से होगा... गिरनार में जायें तो होगा, सम्मेदशिखर (में) कंकर से कंकर से मुक्त हुए हैं। परन्तु वह है क्या? प्रत्येक जगह। इस जगह अनन्त मोक्ष गये हैं। क्योंकि यहाँ अनन्त कोई जगह में अनन्त बिना खाली नहीं ऊपर। इसलिए जाते हैं ऐसे सीधे जाते हैं। वहाँ भी हैं अनन्त और यहाँ से (भी) गये हैं। आहाहा!

जहाँ अभी बकरे कटते हैं, उस जगह से भी अनन्त मोक्ष गये हैं। क्योंकि वहाँ ४५ लाख योजन में अनन्त सिद्ध विराजते हैं तो वे यहाँ से सीधे गये हैं। आड़े-टेढ़े यहाँ से ऐसे जाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! ४५ लाख योजन का एक कण खाली नहीं है। समुद्र के पानी में भी अनन्त मोक्ष गये हैं। आहाहा! दो लाख योजन का लवण समुद्र, उसके ऊपर अनन्त सिद्ध हैं। उस क्षेत्र के ऊपर। उस क्षेत्र से ऊपर अनन्त कहाँ से

आये ? यहाँ से वहाँ गये हैं ? आहाहा ! वहाँ से सीधे गये हैं। आहाहा ! और यह सिद्ध की यात्रा का हेतु तो मूल तो यह है। यह वहाँ शुभभाव स्मरण में आवे कि यह सिद्ध। यह मोक्ष विराजे वहाँ। इतना नीचे उनका स्मरण का स्थान हो तो शुभभाव होता है। आहाहा !

मुमुक्षु : अब यात्रा-वात्रा हो गयी, इसलिए उसकी महिमा उड़ाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब यात्रा-वात्रा हो गयी, इसलिए उसकी महिमा उड़ा दो, ऐसा कहते हैं। वह तो होता है। अभी भी होता है, होवे तो सबको। ऐसा विकल्प होता है न... है वह परद्रव्य के स्मरण के कारण है, वह पुण्यबन्ध का कारण है।

एक बार कहा था, वे जगजीवनभाई थे न, बरवाळावाले नहीं ? बरवाळावाले दिनशा। दिनशा के भाई।

मुमुक्षु : सोना की चकलीवाले ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वे नहीं। वे चूड़ावाले वे तो। सोना की चकली चूड़ावाले। यह तो जगजीवनभाई थे। सन्तबाल के पक्के भगत थे। दिनशा नहीं था अपने यहाँ ? बरवाळा के। चिमनभाई ! अमृतलाल। उस अमृतलाल के भाई थे जगजीवनभाई। पक्के, पक्के स्थानवासी। फिर पहले गये न जब मुम्बई (संवत्) २०१३ के वर्ष में, तब यह आकर पूछा कि महाराज ! यह सब क्या ? यह यात्रा और यह सब ? तब यात्रा में जाना था न ? पहले-पहले वहाँ से शुरुआत होती थी न वहाँ से।

कहा, भाई ! ऐसी बात है, उस स्थान के ऊपर अनन्त सिद्ध उस क्षेत्र से ऊपर गये हैं, इसलिए उनके स्मरण का कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं। वे कुछ दे नहीं देते, उस क्षेत्र से और उस क्षेत्र से उनका स्मरण करे तो वहाँ निर्जरा और संवर होता है, ऐसा भी नहीं। तब कहे, हाँ। थे स्थानकवासी। बात सच्ची लगती है। भाई ! वस्तुस्थिति ऐसी है। भगवान परमात्मा का उसे ख्याल होता है। वे तो ऐसे होते हैं। इस क्षेत्र से इसी के ऊपर रहे हुए अनन्त सिद्ध विराजते हैं। उनकी अस्तित्वता का स्मरण हो, वह शुभभाव है। परन्तु वह शुभभाव, वह वहाँ गया और उस क्षेत्र से हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा ! वह तो हुआ स्वयं से, तब उसको (क्षेत्र को) निमित्त कहा जाता है। भारी कठिन बात !

विदेह की अर्थात् सर्वथा देहत्याग की निष्पत्ति का अर्थात्... विदेहनिष्पत्ति का—विदेह की अर्थात् सर्वथा देहत्याग की निष्पत्ति का अर्थात् मुक्ति प्राप्ति का बीज अपने आत्मा में ही आत्मभावना (करना, वह) है। है ? वहाँ आत्मस्वरूप स्थित है बड़ा महा परमानन्द, उसकी भावना अर्थात् एकाग्रता करना। वह मुक्ति का बीज है। है ? पाठ में है न, देखो न। '**बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना**' आत्मा में आत्मा की भावना। ऐसा। **सर्वथा देहत्याग की निष्पत्ति का अर्थात् मुक्ति प्राप्ति का (कारण) बीज अपने आत्मा में ही आत्मभावना (करना, वह) है।** 'आतम भावना भावता जीव लहे केवलज्ञान' यह। आत्मभावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे, परन्तु उस आत्मभावना की जिसे अन्दर खबर पड़ी है, दृष्टि में आया है, अनुभव में आया है। पर्याय में उसका पूर्ण स्वरूप है, वह ज्ञान में आ गया है। उस पूर्ण स्वरूप का ध्यान करता है, उसे मुक्ति का कारण कहा जाता है। आहाहा! सिद्ध का ध्यान और अरिहन्त का ध्यान, वह मुक्ति का कारण नहीं, ऐसा कहते हैं। आगे लेंगे थोड़ा निमित्त से कथन।

भावार्थ - शरीर में आत्मबुद्धि करने से... जहाँ प्रभु विराजता है, उसे न जानकर उसके अस्तित्व का सामर्थ्य कितना है, उसकी खबर को न लेकर, शरीर में अर्थात् अपना अस्तित्व वहाँ मानता है। **शरीर में आत्मबुद्धि करने से अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानने से,..** इसका अर्थ यह हुआ कि वह विकल्प है और राग है, उसे भी अपना माना, इसलिए वह शरीर को ही माना है। आहाहा! उसने आत्मा रागरहित चीज़ है, महाप्रभु है, भले पर्याय में पामरता दूसरे की अपेक्षा से, केवली की अपेक्षा से दिखाई दे, तथापि वस्तुरूप से तो प्रभु पूर्णस्वरूप है। आहाहा! ऐसे पूर्ण का ध्यान, वह आत्मभावना और वह मुक्ति का कारण है। यह सब क्रियाकाण्ड मुक्ति का कारण नहीं, ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, विद्यानन्दजी ने लिखा था वहाँ। कोटा में आया था। अखबार आया था। कोई जैनदर्शन (पत्र) में आया होगा, तब विद्यानन्दजी ने कहा होगा। प्रकाशित हुआ होगा। एक वह अभयकुमार है। मैंने तो पूछा था जम्बुभाई को। जम्बुकुमार है न ? शान्त व्यक्ति हैं सेठ गृहस्थ। जवान अवस्था है। गम्भीर व्यक्ति है। मैंने कहा, यह कौन है ? कि भाई पहिचानते नहीं। गाँव में कौन है। अखबार में नाम दिया हुआ अभयकुमार कोटा। कि यह सब श्रावक और साधु का जो आचार, उसका लोप करते

हैं, (वे) दिगम्बर धर्म का लोप करते हैं, कहो। उसे खबर नहीं कि श्रावक और साधु का आचार जो विकल्प है, वह तो संसार है। आहाहा! उसमें ऐसा कि मनाओ साधु धर्म। यह साधु है, यह श्रावक ऐसे हैं, ऐसे हैं। आहाहा! कहाँ थे? अरे... भाई!

अभी एक बड़ा अखबार आया है। पढ़ो, पढ़ाओ, मन्दिर में चिपकाओ। चार दिन बाद आया था। पाँचवें दिन सवेरे। कौन जाने? वहाँ तो पाँच-पाँच हजार लोग सवेरे, दोपहर, कहीं समाये नहीं। भाई का बहुत वह जुगलकिशोर। देने के काल में बोलते थे बीस मिनिट। शान्त व्यक्ति। बोले तो धारावाही।

मुमुक्षु : पक्के पण्डित।

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्का पण्डित होशियार। एक ओर हुकमचन्दजी और एक ओर वे तथा सेठरूप से जम्बुभाई। इसलिए सब व्यवस्थित है कोटा में। जम्बुभाई तो पीछे से बैठे। अरे... भाई! सामने आगे आओ न, तब मुश्किल से आवे सामने। उसे प्रेम था।

अरे! यह बातें, भाई! मोक्ष का कारण आत्मभावना। आत्मा में आत्मा की भावना। संसार का कारण शरीर में आत्मा की भावना। राग में, शरीर में यह भावना, वह संसार का कारण। यह राग, वह शरीर है, कारण शरीर है। आहाहा! शरीर का कार्य और शरीर का फल है वह सब। स्वभाव की अपेक्षा से। यह संसार का बीज है, कहते हैं। भव मिले उसका बीज देह में आत्मबुद्धि। कि जिस देह का वियोग नहीं हो इसे। जहाँ जायेगा वहाँ देह ही मिलेगी। आहाहा! और मोक्ष का बीज प्रभु आत्मस्वरूप जो पूर्ण शुद्ध चैतन्य, उसकी दृष्टि में आने के बाद, उसमें एकाग्रता... आहाहा! वह मुक्ति का कारण है। यह दो मोक्ष के कारण, ऐसा सिद्ध नहीं किया। मोक्षमार्ग दो हैं, ऐसा सिद्ध नहीं किया। यह तो आत्मा में एकाग्रता, वही एक मोक्ष का कारण है, यह सिद्ध किया।

मुमुक्षु : निश्चय और व्यवहार दो कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है कहाँ व्यवहार-फ्यवहार? वह तो निमित्त का कथन है। मोक्षमार्ग तो एक ही है। यह तो कथन की शैली करते हुए, राग साथ में है, उसे आरोप करके व्यवहार समकित कहा है। समकित है कहाँ? वह तो राग है। आहाहा! अभूतार्थ दृष्टि से बात की है। आहाहा!

भगवान आत्मा मोक्षस्वरूप ही है। उस मोक्षस्वरूप के आश्रय से जो क्रिया होती है अबन्ध की, वह क्रिया मोक्ष का कारण है। अबन्धस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा, उसे अबन्धरूप से दृष्टि में जहाँ लिया, वहाँ उस दृष्टि के परिणाम भी अबन्ध हुए। आहाहा! अबन्धस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान हुए, वह भी अबन्ध परिणाम हुए। और वे अबन्ध परिणाम पूर्ण अबन्ध अर्थात् मुक्ति का कारण है। आहाहा!

शरीर में आत्मबुद्धि करने से अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानने से, अन्य भव में भी शरीर की ही प्राप्ति होती है... प्रवचनसार में नहीं आया, एक जगह नहीं आया था? शरीर का संक्रमण होता है अर्थात् दूसरा मिलता है। आता है न? शरीर स्वयं शरीर के उदय का कारण होता है, संक्रमण होता है। आता है एक पद में। संक्रान्ति—हाँ, संक्रान्ति पाकर देह की। यह शरीर ही संक्रान्ति पाता है। आहाहा! है वह श्लोक। अभी सज्झाय में आ गया है।

शरीर में आत्मबुद्धि करने से अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानने से, अन्य भव में भी शरीर की ही प्राप्ति होती है और अपने आत्मा में ही... वापस अपना आत्मा, हों! यह पर का, ऐसा नहीं। **निजस्वरूप में आत्मबुद्धि करने से अर्थात् आत्मा को ही आत्मा मानने से, मुक्ति होती है-देह का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है।** देह के सम्बन्ध बिना की आत्मा के सम्बन्धवाली भावना, उसे देह का सम्बन्ध नहीं होता। आहाहा!

इसलिए पुनः शरीर की प्राप्ति न हो-पुनर्भव न करना पड़े, इसके लिए ज्ञानी को शरीर में आत्मबुद्धि का त्याग करके, अपने आत्मा में ही आत्मभावना करना... जिसे दूसरी माता करनी नहीं। यह तो धर्मी जीव की बात है। जिसे धर्म समझ में आया है, जिसे अनुभव हुआ है, वह ऐसा कहता है कि मुझे दूसरी माता करना नहीं है। आज है न यह चुन्नीलाल का पुत्र गुजर गया है न, आज दिन है न। कामाणी? दामाणी। यह आज ही दिन। तब गये थे न वहाँ? अस्पताल में था न? अकस्मात हो गया था न। बाबरावाला, यह कौन सा नाम? नरभेराम। उसकी पुत्री है न वह? वह बोली थी। कि फिर से माँ बनाना नहीं, भाई! परन्तु उसे भान कब था? फिर यहाँ कहा हो न? ऐसा बोली थी। नरभेराम को। चुनीभाई की पुत्री। वह तो यहाँ नहीं न अभी। अहमदाबाद है। तब गये थे न? अस्पताल में उसे दर्शन करने थे तो गये थे। वह बोली

थी। फिर से माँ बनाना नहीं, पुत्र! आहाहा! परन्तु कहाँ उसे भान है? धर्म क्या है, उसकी खबर नहीं। आहाहा! माँ बनाना नहीं, (ऐसा) किसे होता है? कौन कहता है यह? आहाहा!

जिसने आत्मा राग से और शरीर से भिन्न जाना है और उसमें जिसे लगन है। वह ऐसा कहता है कि माता! एक बार रोना हो तो रो ले। माँ! हम फिर से अवतार नहीं करेंगे। आहाहा! फिर से जननी! हम नहीं जन्मेंगे। आहाहा! वह यह एक ध्रुव का नाटक आता है न ध्रुव? ध्रुव और प्रह्लाद अविचल पद दिया। ऐसी बातें करे। वह ध्रुव का नाटक वहाँ भावनगर में था। राजकुमार था और उसकी माँ मर गयी थी और उसके पिता ने नया विवाह किया था। फिर वह स्वयं बाबा-साधु हुआ है। वह होती है न लकड़ी ऐसी। पावड़ी। ऐसे ध्यान में बैठता है।

उसे डिगाने के लिये अप्सरायें आती हैं। राजकुमार है न? नाटक में। (संवत्) १९६८-६९ की बात है। भावनगर में थियेटर है वहाँ। फिर वे अप्सरायें उसे बहुत ललचाती हैं कि यह देख! हमारा शरीर ऐसा सुन्दर। हमारा मुख कैसा, हमारे पैर कैसे, हमारा शरीर कोमल यह सब। हे राजकुमार! जरा ध्यान दे... ध्यान दे... हमारी ओर ध्यान दे... हम... फिर कहता है, माता! देवी! यदि जन्म करना नहीं हो, तब तो कुछ नहीं। उसकी यह शैली वहाँ। परन्तु यदि जन्म लेना होगा तो माता! तेरे गर्भ में लूँगा। दूसरा तो है नहीं, हों। आहाहा! जन्म करना होगा, बा! माँ! माता! तेरे गर्भ में आऊँगा। दूसरी बात नहीं है। ओहो! तब यह तो। पहले सब वैराग्य के नाटक थे। भले उसकी दृष्टि परन्तु... यह तो सब फिल्म-बिल्म करके मार डाला है। आहाहा! बाजार के बीच अहमदाबाद और मुम्बई बड़े फोटो। स्त्री ऐसे देखती है, आदमी ऐसे हाथ डालता है। अरे... यह सज्जनता के लक्षण? ऐसे।

मुमुक्षु : सिनेमा खेल।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिनेमा के खेल, वे भी कैसे खराब! आहाहा! सज्जन को न शोभे, ऐसा तो बाहर चिह्न करे। यह लड़के उसके... बहुत फेरफार कर दिया। अनीति की शिक्षा बहुत नीचे उतर गये।

यहाँ तो जहाँ लोकोत्तर नीति जहाँ प्रगट हुई, आहाहा! ऐसा आता है न। **'जिननीतिमलंघयन्तः'** (समयसार, कलश २६५) कलश में आता है न भाई पीछे? जिननीति अलंघ्यमानम्। आहाहा! जिसे वीतराग का मार्ग जो है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो उल्लंघनता नहीं, वह निश्चय से मुक्ति पाता है। आहाहा! उसे देह धारना होता नहीं और कोई एकाध देह हो तो भी वह ज्ञान का ज्ञेयरूप से रहता है, मेरेरूप से रहता नहीं। आहाहा!

इसलिए पुनः शरीर की प्राप्ति न हो-पुनर्भव न करना पड़े, इसके लिए ज्ञानी को शरीर में आत्मबुद्धि का त्याग करके, अपने आत्मा में ही आत्मभावना करना-यही योग्य है। आहाहा! यह वह जाते हैं न अपने शत्रुंजय। चार-छह महीने, आठ महीने अन्त में गये थे। फिर वहाँ वे सेठ के भाई हैं वे। वनमाली सेठ थे न, उनके भाई हैं। आते हैं, वहाँ आते हैं। मैंने कहा, देखो! यह दया, दान, व्रतादि के भाव, वे शुभ हैं। और यह भक्ति भी... तब तो यह कहा न, वह शुभ का बाप है, इसलिए अच्छा है ऐसा। यात्रा-बात्रा में आना। तुम भी आते हो, ऐसा कहे। वह तो ऐसा कि धर्म का बाप है। वह बेचारा... लोगों को ऐसा ठसा दिया है न! बाहर की क्रियाकाण्ड का भाव, यात्रा का, वह का वह सब धर्म है और मोक्ष का कारण है। शास्त्र में भी ऐसा आवे व्यवहार धर्म की बात। व्यवहारधर्म है, व्यवहार। व्यवहारधर्म अर्थात् पुण्य; पुण्य अर्थात् बन्ध का कारण। आहाहा!

विशेष - जब तक देहप्रधान विषयों में... यह अपने गाथा अभी आ गयी है। प्रवचनसार की १५० (गाथा)। **जब तक देहप्रधान विषयों में...** देह मुख्य है जिसे विषय में। **ममत्व नहीं छोड़ता, तब तक कर्म से मलिन आत्मा बारम्बार अन्य-अन्य प्राण धारण करता है।** नये-नये प्राण धारण करता है। यह आ गया अपने। १५०।

दूसरी १५१। यह भी आ गयी है। **जो इन्द्रियों का विजयी होकर, उपयोगमात्र आत्मा को ध्याता है,...** शुद्ध स्वभाव जो उपयोगस्वरूप। उपयोगस्वरूप त्रिकाल, हों! त्रिकाल शुद्ध उपयोग, वही आत्मा। यह शुद्ध उपयोग पर्याय की बात नहीं है। शुद्ध उपयोग त्रिकाल शुद्ध ज्ञान-दर्शन का उपयोग, वह त्रिकाल शुद्ध। ऐसे **उपयोगमात्र आत्मा को ध्याता है,...** ऐसे आत्मा का ध्यान करता है, वह पर्याय है। उपयोगमात्र

आत्मा, वह द्रव्य है—वस्तु है। उसे ध्याता है। **वह कर्मों से रंजित नहीं होता;... वह राग द्वारा और कर्मों से रंजित नहीं होता; उसको प्राण कैसे अनुसरेंगे ?** यह आ गया अपने। उसे प्राण किस प्रकार प्राप्त हों ? वह प्राणरहित ही होगा। यह दस प्राण हैं, इनसे रहित ही हो जायेगा। आहाहा!

जो अज्ञानी जीव,... इष्टोपदेश। श्लोक-४६। इष्टोपदेश का है। **जो अज्ञानी जीव, शरीरादिक पुद्गलद्रव्य को अभिनन्दता है; अर्थात्, उनको अपना मानता है...** शरीर अनुकूल होवे तो धर्म होगा, ऐसा माननेवाले शरीर को ही आत्मा मानते हैं। शरीर की निरोगता होती है।

मुमुक्षु : पण्डितों की चर्चा में प्रश्न हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न ? शरीर निरोग हो तो उसका यह होता है... यह होता है। अरेरे!

मुमुक्षु : शरीर बिना धर्म होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर बिना ही धर्म होता है।

उसको प्राण कैसे अनुसरेंगे ? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता)। आहाहा! **पुद्गलद्रव्य को अभिनन्दता है;...** इष्टोपदेश का। **उनको अपना मानता है- उनमें आत्मीयभाव करता है,...** वह एक साधन है, ऐसा जो मानता है, वह शरीर को ही अपना मानता है। **उनमें आत्मीयभाव करता है, उस जीव के साथ का संयोगसम्बन्ध, चारों गतियों में,...** उस जीव के साथ का सम्बन्ध संयोग **चारों गतियों में, वह पुद्गलद्रव्य नहीं छोड़ता।** जिसके ऊपर प्रेम है, वह चीज़ उसे छोड़ती नहीं। अर्थात् शरीर में भटकेगा, ऐसा कहते हैं।

तो मुक्ति-प्राप्ति का हेतु कोई गुरु होगा... यहाँ लाये देखो अब। **ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं—** मुक्ति-प्राप्ति का हेतु गुरु। गुरु मिले तो उसकी मुक्ति होगी ही।

मुमुक्षु : निमित्त तो चाहिए न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ निमित्त की बात ही नहीं है यहाँ। आहाहा!

वह मुक्ति-प्राप्ति का हेतु कोई गुरु होगा—ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं— कहेंगे विशेष... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ७५

तर्हि मुक्तिप्राप्तिहेतुः कश्चिद्गुरुर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह -

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्माऽऽत्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥ ७५॥

जन्म संसारं नयति प्रापयति। कं? आत्मानं। कोऽसौ? आत्मैव देहादौ दृढात्मभावनावशात्। निर्वाणमेव च आत्मानमात्मैव नयति स्वात्मन्येवात्मबुद्धिप्रकर्ष-सद्भावात्। यत एवं तस्मात् परमार्थतो गुरुरात्मात्मनः। नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः। व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु॥७५॥

तो मुक्ति-प्राप्ति का हेतु कोई गुरु होगा—ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं—

आत्मा ही भव-हेतु है, आत्मा ही निर्वाण।
यों निश्चय से आत्म का, आत्मा ही गुरु जान॥ ७५॥

अन्वयार्थ - (आत्मा एव) आत्मा ही (आत्मानं) आत्मा को, (जन्म नयति) देहादि में दृढ़ात्मभावना के कारण, जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमण कराता है (च) और (निर्वाणमेव नयति) आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्षवश, मोक्ष प्राप्त कराता है; (तस्मात्) इसलिए (परमार्थतः) निश्चय से (आत्मनः गुरुः) आत्मा का गुरु, (आत्मा एव) आत्मा ही है; (अन्यः न अस्ति) दूसरा कोई गुरु नहीं है।

टीका - जन्म अर्थात् संसार के प्रति दौड़ता है-प्राप्त कराता है। किसको? आत्मा को। कौन वह? देहादि में दृढ़ आत्मभावनावश आत्मा ही (जन्म प्राप्त कराता है); और अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्ष सद्भाव से आत्मा ही आपको निर्वाण के प्रति ले जाता है क्योंकि वास्तव में आत्मा, आत्मा का गुरु है; परमार्थ से अन्य कोई गुरु नहीं है; व्यवहार से वह हो तो भले हो।

भावार्थ - जो आत्मा, देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धि करता है, वह जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमण करता है अर्थात् आत्मा ही अपने आत्मा को स्व-अपराध से संसार में भटकाता है और वही आत्मा, यदि अपने आत्मा में ही दृढ आत्मबुद्धि करे, तो वह संसारभ्रमण से मुक्त होता है-निर्वाण पाता है अर्थात् आत्मा ही अपने आत्मा को

निर्वाण प्राप्त कराता है; इसलिए परमार्थ से आत्मा ही, आत्मा का गुरु है; अन्य कोई गुरु नहीं।

विशेष स्पष्टीकरण -

यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि जीव अपने शुद्ध या अशुद्ध उपादान से ही अपने आत्मा का हित-अहित करता है; उसमें कर्म या परपदार्थ अहेतुवत् हैं- अकिंचित्कर हैं।

जब तक जीव, अपने आत्मा की सामर्थ्य का भान करके अन्तरङ्ग रागादि शत्रुओं अर्थात् कषायपरिणति पर विजय प्राप्त करके, स्वयं अपने आत्मा के उद्धार करने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक वह संसाररूपी कीचड़ में फँसा रहता है और जन्म-मरण के असह्य कष्ट भोगता है परन्तु जब वह, आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करके, स्वभावसन्मुख विशेष उग्र पुरुषार्थ करता है, तब क्रम-क्रम से राग-द्वेषादि कषायभावों का व विभावपरिणति का स्वयं त्याग हो जाता है और रागादि भाव से सर्वथा मुक्त होने पर अर्थात् परम वीतरागता प्राप्त होने पर, वह मोक्ष प्राप्त करता है।

'आत्मा, अपने आत्मा में मोक्षसुख की सदा अभिलाषा करता है; अभीष्ट मोक्षसुख का ज्ञान कराता है और स्वयं कल्याणकारी आत्मसुख की प्राप्ति में अपने को जोड़ता है; इसलिए आत्मा ही आत्मा का गुरु है।[१]'

इसलिए आत्मा, पर का-निमित्त का अवलम्बन छोड़कर, स्वयं अपना गुरु बने, अर्थात् धर्म की सिद्धि के लिए स्वाश्रयी बने तो वह जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त होकर, निर्वाण को पाता है॥७५॥

आषाढ़ शुक्ल ३, शनिवार, दिनांक १२-०७-१९७५, श्लोक-७५, प्रवचन-८७

---

७५ गाथा, समाधितन्त्र। **तो मुक्ति-प्राप्ति का हेतु कोई गुरु होगा...** ऐसा पूछनेवाले के प्रति जवाब दिया जाता है।

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्माऽऽत्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥ ७५॥

---

१. श्री इष्टोपदेश, श्लोक-३४

आत्मा ही भव-हेतु है, आत्मा ही निर्वाण।
यों निश्चय से आत्म का, आत्मा ही गुरु जान॥ ७५॥

टीका - जन्म अर्थात् संसार के प्रति... 'नयति' है न **'नयति'**। ले जाता है यह। भटकने में संसार में जीव स्वयं अपने कारण से चला जाता है।

मुमुक्षु : ले जाने में कर्म का उदय अनादि का है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ बात ही नहीं यहाँ। भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचनम्। तस्यैव अभावतो बद्धा... ऐसी बात ली है। भेदविज्ञान के अभाव के कारण संसार में परिभ्रमण करता है और भेदज्ञान के सद्भाव से जन्म-मरणरहित मुक्ति को पाता है। उसमें कोई कर्म निमित्त है और वह यह गुरु... यह यहाँ तो गुरु को निकाल दिया। गुरु बिना ज्ञान नहीं होता, ऐसा आता है न? श्रीमद् में ऐसा आता है। 'उपादान का नाम ले, वे जो तजे निमित्त, नहीं पावे परमार्थ को रहे भ्रान्ति में स्थित।' ऐई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इनके पिता भी श्रीमद् के भगत थे न! यह बात ऐसी है यह तो। आहाहा!

जन्म अर्थात् संसार... चौरासी के अवतार में भटकना, वह स्वयं संसार—जन्म प्राप्त कराता है। कौन? **किसको? आत्मा को। कौन वह? देहादि में दृढ़ आत्मभावनावश...** आहाहा! राग, देहादि मेरे हैं, ऐसी मान्यतावाला जीव ही संसार में भटकता है। उसे कर्म भटकाते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : गोम्मटसार में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो निमित्त का कथन है। ज्ञानावरणीय, उसका क्षयोपशम हो तो यह होता है।

यह भी सब कहते थे। हंसराजभाई कहते थे, गढडा में (संवत्) १९८१ में आये थे। ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हो तो ज्ञान में क्षयोपशम आवे। वर्णीजी ऐसा कहते थे कि ज्ञानावरणीय कर्म के निमित्त के कारण से हीनाधिक दशा जीव में होती है। यहाँ तो इनकार करते हैं। ऐई!

भगवान आत्मा 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' उसे कोई कर्म भटकाते हैं, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।' यह बात है। निमित्तवाले को जरा कठिन पड़े, ऐसा है। आहाहा! अपना भगवान आनन्दस्वभाव -स्वरूप प्रभु, उसे भूलकर राग और शरीर की ओर लगी हुई बुद्धि, वह संसार में भटकने का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह नयी शोध की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नयी शोध है। यह नयी शोध है, ऐसा कहे सोनगढ़ की (नयी शोध है), ऐसा (लोग) कहते हैं। यह कथन किसका है? यह सोनगढ़ का है, यह कथन? उसने लिखा है भंवरलालजी ने। है न भंवरलालजी, नहीं? पद्मपुराण। भंवरलाल नहीं, पण्डित है न, यह पुस्तक निकालते हैं। ऐसा कहे, सोनगढ़ का नाम पड़े, वहाँ लोग भड़कते हैं। उसने तो अनुकूल के लिये कहा है। वह तो अनुकूल के लिये लिखा है। वह अभी वहाँ व्याख्यान दिया था वहाँ। बहुत लोग थे। पूरी सभा भर गयी थी। और जयपुर में व्याख्यान था, तो लोग समाते नहीं। बड़ा जोरदार मन्दिर। आहाहा! लोग तो बहुत आते हैं।

ऐसा कि सोनगढ़ है, वह निश्चय की एकान्त बात करता है और व्यवहार से भी लाभ होता है, व्यवहार से नुकसान होता है। गुरु से ज्ञान होता है, कर्म से विकार होता है—ऐसा कहता नहीं। अभी तो यह सब ऐसा कहते हैं। यहाँ इनकार करते हैं, देखो! '**नयत्यात्मानमात्मैव जन्म**' यह शब्द है। आत्मा अपने संसार को अपने संसार में स्वयं ले जाता है। भटकने का भाव स्वयं करता है। आहाहा! कर्म से होता है...

मुमुक्षु : स्वयं अपना नाक काटता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्वयं अपना नाक काटता है। आहाहा!

'**नयत्यात्मानमात्मैव जन्म**' यह शब्द है। आत्मा स्वयं जन्म अर्थात् संसार, परिभ्रमण। यह आत्मा स्वयं अपने से करता है। उसे कोई कर्म कराता है, निमित्त-फिमित्त, उसकी बात यहाँ नहीं है। आहाहा! और **आत्मा ही (जन्म प्राप्त कराता है);...**

देहादि में दृढ़ आत्मभावनावश... आहाहा! रागादि विकल्प जो है, उसके आधीन हुआ आत्मा स्वयं ही अज्ञान से संसार में भटकता है। आहाहा!

और अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्ष सद्भाव से... अपने, है न शब्द? '**नयति आत्मानमात्मैव निर्वाणमेव**' ऐसा लिया। मोक्ष भी स्व्यं ही आत्मा का स्वयं करता है। उसे कोई गुरु से मोक्ष होता है। आहाहा! कठिन काम, भाई! गुरु परद्रव्य है, उनसे आत्मा को लाभ होगा? स्वयं भगवान, स्वयं आत्मा, अपना गुरु है। जो राग से भिन्न पड़कर ध्रुव के अवलम्बन में स्वयं आता है, तब ध्रुव के आश्रय से उसकी मुक्ति होती है। आहाहा! कहो, चेतनजी! तो यह कर्म के कारण संसार नहीं और गुरु के कारण धर्म नहीं। यह तो दोनों बात। आहाहा! यह बात इसे बैठना भारी कठिन पड़ती है। वस्तु तो यह है, ऐसी आचार्य पुकार करते हैं। स्पष्ट बात कि संसार अर्थात् चौरासी के अवतार में जीव दौड़ जाता है, वह अपने मिथ्यात्व के कारण से। आहाहा! उसे संसार में ले जाने का दूसरा कोई कारण नहीं है। '**नयति**' है न? दौड़ जाता है, प्राप्त करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : दो कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो कारण, वास्तविक कारण एक ही है। यह उपादानकारण है। आहाहा! अशुद्ध उपादानकारण, विकल्प है, वह शुभाशुभभावरूप संयोगीभाव है। वास्तव में वह भी एक कार्मणशरीर ही है। भावकारण अन्तरंगभाव। भावकर्म है न वह? उसे दृढ़रूप से अपना है, ऐसा माननेवाला संसार में स्वयं भटकता है। आहाहा! समझ में आया?

अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्ष सद्भाव से... भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन निर्मलानन्द प्रभु, ऐसा अनुभव करके आत्मा स्वयं अपने ध्रुव के आश्रय से मुक्ति (प्राप्त) करता है। गुरु के आश्रय से मुक्ति करता है। ... यह गुरु का काम करे तो गुरु का आश्रय... वह तो निमित्त की बात से कथन है। सुना, उसे श्रुत कहना है न, इस अपेक्षा से बात ली है।

तब आये, तब यह बोलते थे न वे नरोत्तमदास। जेसिंगभाई के दामाद। यहाँ मील

में रहते न? भावनगर। तो एक बार आये थे। निमित्त-उपादान का नाम लेकर जो तजे निमित्त। परन्तु उपादान का नाम लेकर तजे निमित्त, उसकी बात है या नहीं? परन्तु उपादान का भाव लेकर निमित्त को तजे, वह तो वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! स्वयं भगवान आत्मा शुद्ध चिद्घन। राग की क्रियारहित और निश्चय से तो उसके स्वभाव में पर्याय की क्रियारहित जीव। ऐसे निष्क्रिय तत्त्व में जो लगता है, आहाहा! राग को अपना माननेवाला संसार को पाता है और निष्क्रिय ऐसा भगवान आत्मा ध्रुव, उसे अवलम्बन करनेवाला मुक्ति को पाता है। वह कहीं गुरु के अवलम्बन से यह होता है, यह देरासर-मन्दिर और भगवान की प्रतिमा के अवलम्बन से धर्म होता है, ऐसा यहाँ तो इनकार किया है।

मुमुक्षु : अब दिक्कत नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब हो गये, ऐसा कि यह सब। मन्दिर हो गया, मानस्तम्भ हो गया, समवसरण हो गया, उसमें यह हुआ। परन्तु हुआ, न हुआ वह तो... वह तो उसके कारण से हुआ है। यह रामजीभाई ने ध्यान रखा, इसलिए हुआ है? ऐई... वजुभाई!

मुमुक्षु : इन्होंने ध्यान रखा, इसलिए नहीं हुआ, वजुभाई ने ध्यान रखो, इसलिए हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी के ध्यान रखने से नहीं हुआ। वहाँ इसने यह किया है न यह? मानस्तम्भ। घीया का मानस्तम्भ है और समवसरण इसका है न वह कुंवरजीभाई का। बाहर से कहलाये निमित्त से। अभी तो यह मानस्तम्भ नहीं था न यह? बारह महीने का। वहाँ थे तब। किसे करे? कठिन बातें, भाई! पैसे इसने दिये, इसलिए इसने मानस्तम्भ बनाया। दे कौन और ले कौन? यहाँ तो वस्तु कहते हैं, वह अलग है।

मुमुक्षु : मानना कुछ और बोलना कुछ। यह कैसे माना जाये? कथनी कुछ, करनी कुछ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ रतिभाई का मुख्यपना है सब लो सबका। ध्यान रखते हैं। मन्त्री है। रामजीभाई तो यहाँ बैठे हैं। वहाँ नाम भले दे इन्हें। परन्तु यह कहते हैं कि वह पर का रतिभाई करते नहीं, वह समवसरण और मानस्तम्भ और वह... कितने साढ़े सात

लाख रुपये का सब इतने में बनाया, लो! मन्दिर, समवसरण, लो क्या कहलाता है? हॉल। वहाँ तो भाई का नाम है न मोहनभाई घीया। उस ओर क्या कहलाता है वह हॉल के पीछे? धर्मशाला। वह सब रतिभाई ने बनाया था। ध्यान नहीं रखते तुम सबका।

मुमुक्षु : बोलना कुछ मानना कुछ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो वहाँ निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराते हैं। निमित्त अकिंचित्कर है, यह लोगों को कठिन पड़ता है।

मुमुक्षु : निश्चय से अकिंचित्कर, परन्तु व्यवहार से किंचित्कर न?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से किंचित्कर का अर्थ यह झूठी दृष्टि है किंचित्कर ऐसा। झूठी दृष्टि से किंचित्कर, सच्ची दृष्टि से अकिंचित्कर। आहाहा!

मुमुक्षु : लोकवार्तिक में किंचित्कर कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो लोकभाषा में बोले कथन, उसमें यह वस्तु कहाँ आयी? यह देखो न, कहेंगे। वहाँ भी आता है न बन्ध अधिकार में, नहीं? अकिंचित्कर। आहाहा! टीका में है। आहाहा! जो आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को भूलता है, वास्तविक पदार्थ की दृष्टि जिसे नहीं और विपरीत दृष्टि में जो रुकता है, वह स्वयं रुकता है। उसके कारण से उसे नयति—संसार की प्राप्ति होती है। आहाहा! निगोद की प्राप्ति भी उसके अपने कारण से, ऐसा कहते हैं। कितने ही कहते हैं कि भाई! निगोद तक तो कर्म का बहुत जोर सही। वहाँ कर्म फिर जब पंचेन्द्रिय हो, क्षयोपशम हो, तब उसे पुरुषार्थ से वहाँ... वरना कर्म का जोर तब तक तो सही एकेन्द्रिय तक। यहाँ तो इनकार ही करते हैं। ऐई... कान्तिभाई!

कहते हैं कि प्रभु! तू डुग्गी ऐसे बजाये तो तू भटक और ऐसे बजाये तो मुक्ति हो, ऐसी बात है। आत्मा अपने विभावभाव को अपना माने तो डुग्गी पर के ऊपर बजाये तो संसार में जाये और आत्मा के आनन्द की ओर डुग्गी बजाये तो मुक्ति को पाये, ऐसी बात है। पर के कारण कुछ है नहीं। आहाहा! जिसे ऐसी स्वतन्त्रता की अभी खबर ही नहीं, उसकी श्रद्धा में ठिकाना क्या हो उसे? आहाहा!

कहते हैं... पुस्तक है कान्तिभाई ? नहीं होगी। यह साथ में है छोटूभाई के पास। आहाहा! गजब गाथा! समाधि पावे तो भी अपने कारण से और असमाधि हो तो भी अपने कारण से। समाधितन्त्र का अधिकार है न ? ओहोहो! **अपने आत्मा में ही...** आत्मा स्वयं यह आनन्दस्वरूप भगवान। राग की, विकल्प की क्रियारहित प्रभु ऐसा स्वयं अपने का जाने और अनुभव करे, उसमें कोई निमित्त की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! गुरु की कृपा वह समकित है। लो, ऐसा आता है।

मुमुक्षु : कर्म के अभाव में निमित्त की आवश्यकता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी में निमित्त की आवश्यकता नहीं। अभाव भी पुरुषार्थ से स्वभाव का आश्रय ले, तब कर्म उसके कारण से अकर्मरूप परिणम जाते हैं। आहाहा! वह भी अकर्मरूप परिणमन में यह मोक्ष की पर्याय प्रगट की, इसलिए ऐसा हुआ - ऐसा नहीं है। आहाहा! पर की अपेक्षा रखे बिना कर्म की पर्याय अकर्मरूप हुई। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो सोनगढ़ का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ का है या किसका है ? रमेशभाई! यह रमेशभाई बाहर बहुत जाते हैं वहाँ। वहाँ बहुत वाँचन करते हैं।

एक बाई ने तो यहाँ रहो, ऐसा पास किया था। कौन सा गाँव इटावा ? कौन सा ? इटावा को भाई कौन सा ? इटावा। आठ लाख रुपये की सब पूँजी थी। मकान-बकान, भाई जाते हैं न अपने ओर से वहाँ। रेकॉर्डिंग लेकर। प्रसन्न हुए हैं। भाई! तुम हमारे यहाँ रहो। तू मेरा पुत्र और मैं तेरी माँ। यह सब आठ लाख की पूँजी तेरी। और रहे। यह कहे, नहीं, मैं यहाँ नहीं रहूँगा। परन्तु वहाँ रहना, इसका अर्थ क्या ? आठ लाख पैसे (रुपये) मिले, इसलिए वहाँ रहना ? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तुझे जो संसार का जन्म-मरण निगोद और चार गति के भवसिंधु... ओहोहो! भव का महासिन्धु—समुद्र परिभ्रमण का। उसमें तू तेरे कारण से भटकता है। भव के अभावस्वभावस्वरूप प्रभु का आश्रय न लेकर, भव के कारणरूप रागादिभाव का आश्रय लेकर तू संसार को प्राप्त करता है। आहाहा! यह दिगम्बर सन्तों

की ऐसी वाणी है। समझ में आया? सनातन वीतराग जैनधर्म तो यह है। आहाहा! पंचम काल के मुनि पूज्यपादस्वामी, लो।

'गुरु बिना ज्ञान नहीं और गुरु से ज्ञान नहीं।' ऐसा कोई कहे। यहाँ तो, गुरु बिना ही ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं। वह तो निमित्तपना सिद्ध करना है। देशनालब्धि, लो। देशनालब्धि पाये बिना समकित होगा? ऐई! परन्तु उसके बिना ही पाता है यह। जो लक्ष्य में आया कि इन भगवान ने शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश दिया। आहाहा! गुरु ने ऐसा कहा। शुद्धात्मतत्त्व कहा न? कुन्दकुन्दाचार्य (ने कहा कि) हमारे गुरु ने हमें शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश दिया। उसमें से हमारे वैभव का जन्म हुआ। ठीक! ऐई! यह भाई ने लिखा है। हिम्मतभाई ने लिखा है यह सब। राजेश नहीं? आहाहा!

गर्जना तो सिंह की जैसे आत्मा अन्दर पुकारकर करे, अरे! मैं तो पूर्णानन्द का नाथ हूँ, मुझमें अल्पज्ञता नहीं और राग और संसार तो तीन काल में नहीं। आहाहा! समझ में आया? जैसे सिंह की गर्जना सुनकर हिरण का झुण्ड भागता है, वैसे आत्मा की गर्जना सुनते हुए अशुद्धता कहाँ चली जाती है सब! आहाहा! यह सिंह जैसा भगवान! अनन्त शक्ति का सामर्थ्यवाला प्रभु, उसका इसे विश्वास नहीं आता। ऐसा मैं होऊँगा? ऐसा इतना बड़ा! आहा! अरे! इतना बड़ा तो कितना! सिद्ध की पर्याय के समक्ष द्रव्य का जहाँ... सिद्ध की पर्याय की भी जहाँ कीमत नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय की कीमत वह तो सिद्ध की पर्याय। वह तो एक समय की दशा है। यह तो तीन लोक का नाथ अनन्त सिद्ध की पर्याय जिसके अन्दर में प्रविष्ट है एक समय में। आहाहा! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो...' ऐसा जाननेवाला, माननेवाला, स्थिरता करनेवाला कौन? वह तो स्वयं है। वह तो स्वयं गुरु है। आहाहा! एकान्त है, ऐसा माने। परन्तु बापू! यह सम्यक् एकान्त, यही वस्तु है। आहाहा!

आत्मा नित्य है सर्वथा, तब ऐसा कहे कि आत्मा द्रव्य से नित्य भी है और अनित्य भी है? वैसे आत्मा अपने आश्रय से सर्वथा मुक्ति करता है। आहाहा! अरे... इसे कहाँ श्रद्धा में बैठे यह वह प्रभु अन्दर है कौन? आहाहा! शास्त्र का श्रवण करूँ,

फिर उसका ख्याल आवे। ऐई! छोटाभाई! छोटाभाई! शास्त्र सुने तो ख्याल आवे न? यह यहाँ इनकार करते हैं, लो! आहाहा! व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। 'लक्ष्य होने को उसका कहे शास्त्र सुखदायी।' आता है न? परन्तु वह लक्ष्य किसने किया?

पूर्ण स्वरूप भगवान की प्रतीति उसके ज्ञेय की, ज्ञान की पर्याय में वह पूरा ऐसा आत्मा बैठे, वह पुरुषार्थ से बैठता है। वह कहीं गुरु से बैठता है और किसी की कृपा से होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! वह आत्मा की कृपा से होता है। आहाहा! करुणा सागर परमात्मा स्वयं आत्मा, उसका अन्तर आश्रय लेकर मुक्ति होती है। उसके गुरु से होती है, यह बात है नहीं। कहो, समझ में आया? तो फिर यह तुम उपदेश, उपदेश की यह सब... भाई! सुन भाई! उपदेश के कारण से, वाणी के कारण से योग में वाणी होती है, परन्तु उसकी योग्यता प्रमाण उसकी जिज्ञासा के भाव में वह सुनने को मिलती है। परन्तु मिलती है, इसलिए वहाँ ज्ञान होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! समझ में आया?

निरालम्बन ऐसा आत्मदेह... भाई ने लिखा नहीं है? समवसरण (स्तुति) में। ऐसा भगवान ऐसे अध्धर विराजता है। उसी प्रकार यहाँ भी भगवान किसी क्षेत्र के, किसी राग के आधार से विराजता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह आत्मा स्वयं आत्मा को ही आत्मा में ही **आत्मबुद्धि के प्रकर्ष सद्भाव से...** टीका में है सही न। '**स्वात्मन्येवात्मबुद्धि-प्रकर्ष**' विशेष अपने में बुद्धि पुरुषार्थ से। आहाहा! मेरा स्वामी पूर्णानन्द का नाथ, उसे जिसने स्वीकार किया... आहा! हे नाथ! तिराना। यह वाणी में सामने आया कि हे नाथ! तू। वह तारना तू तारना, ऐसा आया। सामने आवाज-ध्वनि ऐसी आयी। आहाहा! उसमें लिखा है, वह पुस्तक नहीं? कलकत्ता में। दिलीप का। भगवान तू, कहनेवाला तू। ऐसे सामने दो शब्द हैं सामने, पुस्तक में है। पुस्तक मिली है कलकत्ता की, मिली है भाई! मिली? कहाँ से? कलकत्ता की। यह लड़कों ने अभी प्रकाशित किया है। दिलीप और वह। कहाँ मिली?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा, ठीक लो। कहीं सामने शब्द है। ऐई... शान्तिभाई! पुस्तक मिली तुमको? ले जाना आज। लड़के ने बनाया दिलीप-दिलीप। यह जादवजीभाई

का पौत्र। उनके पुत्र जयन्तीभाई आये हैं या गये? हैं? यह जयन्तीभाई। इनका पुत्र इनका गुरु है वह। ऐई... शान्तिभाई! उसके पिता का और दादा का गुरु है वह। उसे समझने के लिये बैठे वहाँ उसके पास। बैठते हैं या नहीं? जयन्तीभाई बैठते हैं या नहीं? पढ़ता है तब। वह निमित्त होता है। परन्तु यह समझता है तब जीव अपने से समझता है। पर से समझते नहीं। आहाहा! ऐसी सत्य बात को लोग एकान्त मान लेते हैं, परन्तु वह सम्यक् एकान्त ही मोक्ष का कारण है। समझ में आया? आहाहा!

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का कारण, परन्तु वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र किसके आश्रय से होते हैं? गुरु के आश्रय से होते हैं? निमित्त या राग के आश्रय से होते हैं? आहाहा! अरे... पर्याय के आश्रय से होते हैं? आहाहा! पूर्ण आनन्द का नाथ प्रभु अनन्त शक्ति का सागर, जिसकी परमात्मदशा की बात क्या वस्तु की? उसका जिसने आश्रय (अर्थात्) स्वयं अपना आश्रय किया। आहाहा! तब वह मुक्ति का कारण स्वयं हुआ। गुरु नहीं तो फिर कर्म का अभाव कारण हो, यह भी यहाँ तो रहा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : .... गुरु थे, यह बात अभी की।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भाषा कही न? कहा तो सही यह। परन्तु वह निमित्त से कथन है। शुद्धात्मतत्त्व का हमें गुरु ने उपेदश दिया है, उससे हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है। वह तो निमित्त कौन था, यह बतलाया है। आहाहा! वही गुरु इस समाधिशतक के कर्ता गुरु उसी प्रकार के हैं। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य थे, वैसे योगीन्द्रदेव हैं, पूज्यपादस्वामी हैं। आहाहा! वह तो कोई भी मुनि है, वे सब कुन्दकुन्दाचार्य की जाति के हैं। सच्चे सन्त, दिगम्बर सन्त, हों! आहाहा! ऐसी बात सन्त की। भव का अन्त करनेवाला प्रभु! तू स्वयं है, कहते हैं। आहाहा! क्योंकि जिसमें भव और भव के भाव का जिसमें अभाव, ऐसे सद्भाव का जिसने आश्रय लिया... आहाहा!

भव नरकादि और उसका कारण भाव, उस भावरहित चीज़ जो है, ऐसा भगवान पूर्ण शुद्धस्वरूप, उसका जिसने आश्रय लिया, वह तो स्वयं लिया स्वयं का। आहाहा! उसे मुक्ति नयन नाम पाता है। वह मुक्ति को पाता है। आहाहा! नयन शब्द है न? दौड़ता है, प्राप्त करता है, पाता है। नय का अर्थ। नि—धातु लो न यहाँ अपने। नि—धातु। उसमें

से नयन। दौड़ता है, पाता है, ले जाता है। अपनी पूर्ण मुक्ति की पर्याय की ओर आत्मा ले जाता है। उसे कोई राग ले जाता है या गुरु ले जाते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे... ऐसा स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र जिसे कोई मुक्ति के लिये पर की अपेक्षा नहीं। अरे... जिसे संसार के मिथ्यात्वभाव के लिये भी पर की अपेक्षा नहीं। आहाहा!

कार्य के दो कारण होते हैं न? तत्त्वार्थराजवार्तिक में ऐसा कहा है। यह तो निमित्त से प्रमाण का ज्ञान कराया है। निश्चय से तो आत्मा स्वयं अपने कारण से एक ही कारण से मुक्ति पाता है, दूसरा कारण है ही नहीं। आहाहा! अरे... ऐसी जिसे दृढ़ता बैठनी चाहिए न पहली? वह दृढ़ता यह बैठावे या दृढ़ता कोई दूसरा बैठावे? आहाहा! यहाँ तो गुरु की ना है पाठ में, देखो। '**नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः।**' लो! परमार्थ से दूसरा कोई गुरु है नहीं। तू तेरा गुरु है। आहाहा!

उसमें आता है न, 'निश्चयवाणी सुनकर, साधन करना...' 'तजना नहीं, निश्चय रखकर लक्ष्य में साधन करना सब।' यह कौन? साधन क्या, ऐई? आहाहा! यह सब व्यवहार की बातें हैं। श्रीमद् में आता है न? कौन सा साधन? भाई! राग का साधन? विकल्प का साधन? गुरु का साधन, शास्त्र का साधन? आहाहा! वे कोई साधन है ही नहीं। भगवान पूर्ण शुद्धस्वरूप अनाकुल आनन्द के स्वाद से रहा हुआ ऐसे अनन्त गुण से भरपूर पदार्थ, ऐसा आत्मा उस आत्मा को, आहाहा! ऐसे आत्मा को, आत्मा ऐसे आत्मा को अपनी निर्मल पर्याय द्वारा उसे पहुँचता है, वह मोक्ष को पहुँचता है। ऐसा है, भाई!

व्यवहार के स्थान में व्यवहार होता है, परन्तु उससे कहीं निश्चय प्राप्त करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भले हो, कहते हैं न। '**व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवत्**' हो व्यवहार, उससे क्या? इस कारण उससे प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! स्वयं अपना गुरु होकर स्वयं अपने को तारता है, तब उसे बाह्य से गुरु उसे व्यवहार-निमित्त कहा जाता है। आहाहा! निमित्त को तो अकिंचित्कर कर दिया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब निमित्त कहा जाता है। कुछ करे तो निमित्त कहलाये कहाँ से? आहाहा!

आत्मा ही आपको निर्वाण के प्रति ले जाता है... नयति है न (अर्थात्) ले जाता है। आहाहा! पूर्णानन्द का आश्रय लेकर स्वयं ही अपने को आत्मा पूर्ण पर्याय की प्राप्ति को प्राप्त करता है। आहाहा! उसमें कोई विकल्प, गुरु और शास्त्र, ये सब अकिंचित्कर हैं। आहाहा! व्यवहार मोक्ष का मार्ग भी स्व के आश्रयवाले को अकिंचित्कर है। जेठाभाई! मार्ग बहुत यह... आहाहा! अब वे कहे कि कर्म के कारण विकार होता है, ऐसा मानो तो चर्चा करें जेठाभाई के साथ। यहाँ तो इनकार करते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत सब ऐसा ही कहते हैं। वर्णीजी ऐसा कहते थे। आत्मा में ज्ञान की हीनाधिकता वह ज्ञानावरणीय क्षयोपशम के कारण से होती है। अकेली नहीं होती। कहते थे। चेतनजी! उन्हें खबर है या नहीं? उन्हें यह मिला नहीं था न! मिला नहीं था। यह बात मिली नहीं थी।

आत्मा को विकार वह कर्म बिना नहीं होता। यहाँ कहते हैं, कर्म बिना अपने कारण से विकार होता है। आहाहा! ऐसा मनुष्यपना और संहनन वज्रनाराचसंहनन, संस्थान हो तो यहाँ केवल(ज्ञान) पावे, ऐसा नहीं। ऐसा यहाँ निषेध करते हैं। आहाहा! वह मुक्ति को प्राप्त करने के लिये अपना आश्रय स्वयं करे, तब मुक्ति पाता है। पर का निमित्तपना उसमें अकिंचित्कर है। आहाहा! यह बात अन्दर बैठना चाहिए, हों!

क्योंकि वास्तव में आत्मा, आत्मा का गुरु है; परमार्थ से अन्य कोई गुरु नहीं है;... टीका प्रमाण अर्थ किया है। **व्यवहार से वह हो तो भले हो।** व्यवहार से कहने में आवे निमित्त। हो, आहाहा! अर्थात् इसका अर्थ (कि) कुछ किया नहीं। आहाहा!

भावार्थ - जो आत्मा, देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धि करता है,... जो इसके स्वभाव में नहीं, ऐसे भाव को दृढ़बुद्धि से स्वयं करता है। आहाहा! जो भगवान आत्मा शुद्ध सिद्ध समान प्रभु, उसमें राग और भव का अभाव है। ऐसे भाव को जिसमें नहीं, उसे अपनी आत्मबुद्धि से मानता है, भाई! शरीर निरोग हो तो काम चले, निरोग हो तो मन में स्फुरणा रहे, मन में स्फुरणा हो तो अन्दर आत्मा की ओर उन्मुख होने का प्रयत्न करे। यहाँ इनकार करते हैं। आहाहा! नारकी के जीव होते हैं न, उनका शरीर, परमधामी,

लोहे के सरिया से ऐसे पूरा बाँधे। सिर और पैर सब इकट्ठा करके कसकर। लोहे के धगधगाते सरिया करके बाँधे। आहाहा! कहते हैं कि परन्तु उसमें उसे समकित प्राप्त करने में वे कोई व्यवधान नहीं करते। आहाहा!

अन्दर में पर्याय को ले जाते हैं, वे स्वयं ले जाते हैं। उसमें यह बाहर का यह कच्चरघाण ऐसा सब ऐसा हो गया। आँख फोड़ डाली हो, कान में कीले डाले हों और पूरा शरीर तथा सिर ऐसा... जैसे वस्त्र का (गोलाकार) पिण्डा करके बाँधे, वैसे पिण्डा करे। आहाहा! परन्तु वह तो देह की दशा है। आहाहा! भगवान आत्मा तो उस दशा से पार भिन्न है। फिर ऐसी दशा में समकित न पावे और निरोग शरीर और मजबूत शरीर हो अन्दर, ऐसी दशा से केवल(ज्ञान) पावे, ऐसा नहीं। आहाहा! खाने-पीने के साधन व्यवस्थित हों, पुत्र कमाता हो, स्वयं को निवृत्ति। इतना हो तो निवृत्ति ले सके न? यह दो व्यक्ति तुम हो तो पैसा कुछ है तो निवृत्ति ली। नहीं तो निवृत्ति ली जाये? कमाना पड़े तो, दौड़ना पड़े तो... आहाहा!

अन्तर में निवृत्ति लेने के लिये पर की कोई अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं। और अन्तर में ढलने के लिये बाहर की अनुकूलता हो तो यह अन्तर में ढल सकता है, आहाहा! उसके साथ सम्बन्ध क्या है? यह बात सुनने को मिलना भी कठिन पड़े ऐसा है। अनादि का गुलाम हो गया है न? कार्य निमित्त के बिना होता है अकेले उपादान से? ऐसी चिल्लाहट मचाता है। यह वह कहता था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा किसी की बात सुनता नहीं। यह कहता है, दूसरे को सुनाते हैं, परन्तु सुनता नहीं। सुनते नहीं मेरा कैलाशचन्दजी ऐसा कहते हैं। कैलाशचन्दजी। वह सब यहाँ कहा, परन्तु यह सुनते नहीं। हमारा तो कुछ गिना ही नहीं, कहते हैं। वह तो उनकी अपनी दिये रखते हैं। कहा था। समाचारपत्र में आया था। अभी समाचारपत्र में आया था। वे सबको सुनाते हैं, परन्तु किसी का सुनते नहीं। सुनाते भी नहीं और सुनते भी नहीं। सुन न! आहाहा! स्पष्टीकरण भाई ने-छोटाभाई ने अच्छा किया है।

जो आत्मा, देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धि करता है, वह जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमण करता है अर्थात् आत्मा ही अपने आत्मा को स्व-अपराध से संसार में भटकाता है... आहाहा! ६२ गाथा में आया न? पंचास्तिकाय की। यह वर्णीजी के साथ चर्चा हुई थी कि भाई! इसमें तो ऐसा कहा है कि मिथ्यात्व में और राग-द्वेष करने में कर्म का क्या कहा यह? कारक। कर्म के कारक की अपेक्षा नहीं है। (संवत्) २०१३ के वर्ष। १८ वर्ष हुए। वहाँ क्या कहलाता है वह? मधुवन। शान्तिभाई थे? शान्तिभाई नहीं थे, वहाँ आये होंगे। आहाहा! भारी कठिन काम! नहीं, यह तो अभेद का कथन है। परन्तु अभेद का कथन अर्थात् क्या कहा? पर की अपेक्षा विकार करने में बिल्कुल नहीं है। आहाहा!

देखो न, कितने पढ़े हुए बाहर में पुण्यशाली व्यक्ति, इज्जत, उस ओर तो बहुत प्रसिद्ध, बापू! यह बात नहीं बैठी। विकार होता है, (उसे) पर की अपेक्षा नहीं। वापस वहाँ कलकत्ता कहलाया। गजराजजी के यहाँ आहार था, गजराजजी के... गुजर गये न! गजराजजी कलकत्ता में। वहाँ आहार था। आहार था, उसमें भाई—सेठ आये। साहूजी-साहूजी। पत्र लेकर आये। आहार करके बैठे थे कुर्सी पर। ऐसा आया है, कहे। स्पष्टीकरण करो। विकार पर से नहीं होता तो स्वभाव हो जायेगा। कहा, सब उत्तर दिये हैं वहाँ। उठो। साहूजी हो या अमुक हो, हमारे क्या है?

स्पष्ट बात की थी कि विकार में परकारक की अपेक्षा नहीं है। संस्कृत ६२ गाथा, पंचास्तिकाय रखी थी वहाँ। भाई ने—फूलचन्दजी ने कहा, स्वामीजी कहते हैं कि निश्चय में विकार करने में पर की अपेक्षा नहीं है। स्पष्ट बात रखी थी। उन्होंने पकड़ी थी। वैसे ही निश्चय से मोक्ष होने में पर के कारण की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। आहाहा! यह वह आया था न एक पण्डित, वह? वज्रनाराचसंहनन से होता है, एक पण्डित आया था कुचामन का। यहाँ आया था न एक बार। बहुत वर्ष पहले। मनुष्यपना, संहनन बिना केवल(ज्ञान) होगा? आहाहा! यहाँ कहते हैं कि कर्म के अभाव की भी जिसे केवल (ज्ञान) प्राप्त करने में अपेक्षा नहीं। आहाहा! ज्ञानावरणीय का अभाव हो तो केवल(ज्ञान) होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! हो। अभाव तो उसके कारण से, उसमें यहाँ क्या है? आहाहा!

भगवान स्वयं अपने आश्रय में जहाँ पड़ा है... आहाहा! निर्विकल्प आनन्दस्वभाव में वह स्वयं पड़ा है जहाँ, वहाँ किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र स्वरूप ही है। भगवान ने जैसा था, वैसा कहा है। उन्होंने कुछ किया नहीं है, बनाया नहीं है पर का स्वरूप को। वह तो जैसा था वैसा बतलाया है, बापू! विकार कर तो भी तुझसे और मोक्ष कर तो भी तुझसे। यहाँ तो दोनों बात ली है। असमाधि उत्पन्न कर संसार में जाने की-भटकने की, आहाहा! तो भी तुझसे और समाधि प्रगट कर तो भी तुझसे। उसमें कोई पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! एक भाव भी इसे अन्तर में यथार्थ बैठना चाहिए। इसके बिना—अन्तर में बैठे बिना यह भाव अध्धर रह जाये, वह काम नहीं करे। समझ में आया? शान्तिभाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

लड़के सब काम से लगे, ऐसे कमाऊ हो जायें तो अपने को निवृत्ति मिले, यह यहाँ इनकार करते हैं। ऐसा है नहीं। इनकार करते हैं अर्थात्? कहो, भरत! तू अकेला यदि वहाँ काम करे तो इन खीमचन्दभाई को निवृत्ति मिली या नहीं इतनी? आहाहा! कहते हैं कि, अन्तर के परिणाम को रागरहित करना, उसमें पर की कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा! और रागसहित करना, उसे भी पर की—कोई कर्म की, निमित्त की अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

स्व-अपराध से संसार में भटकाता है और वही आत्मा, यदि अपने आत्मा में ही दृढ आत्मबुद्धि करे,... अर्थात् कि अपनी पर्याय को दृढ़—आत्मा में दृढ़ करे... आहाहा! **तो वह संसारभ्रमण से मुक्त होता है-निर्वाण पाता है अर्थात् आत्मा ही अपने आत्मा को निर्वाण प्राप्त कराता है; इसलिए परमार्थ से आत्मा ही, आत्मा का गुरु है; अन्य कोई गुरु नहीं।** आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो भावार्थ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आया न। इसमें नहीं। '**परमार्थतः व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु।**' व्यवहार अर्थात् कि नहीं, इसका अर्थ।

मुमुक्षु : व्यवहार हो तो भले हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भले हो इसका अर्थ क्या? कि यह तो भले अन्दर निमित्त

हो, परन्तु इसके कारण ऐसा हुआ है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

विशेष - यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि जीव अपने शुद्ध या अशुद्ध उपादान से ही... लो! शुद्ध या अशुद्ध उपादान। स्व का आश्रय लेना, वह शुद्ध उपादान और पर का आश्रय लेने की बुद्धि, वह अशुद्ध उपादान। परन्तु वह अपने से कारण है। आहाहा! **अशुद्ध उपादान से ही अपने आत्मा का हित-अहित करता है;...** शुद्ध उपादान से स्वयं हित करे और अशुद्ध से स्वयं अहित करे। **उसमें कर्म या परपदार्थ अहेतुवत् हैं...** है न? यह वहाँ भी कहा है अहेतुवत्। पंचाध्यायी में। ... मक्खनलालजी ने अर्थ किया है। पाठ में है। और वापस अर्थ करे तब कहे, यह क्या करता है प्रभु? भगवान की पेढी में ऐसा चले? वीतराग तीन लोक के नाथ का मार्ग है। उनके मार्ग में कल्पना से अर्थ करना, यह पेढ़ी को दूषण है। पेढ़ी का यह दीवाला निकालता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पेढ़ी की इज्जत बढ़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इज्जत करता है। कलंक लगाता है। आहाहा!

अहेतुवत् हैं-अकिंचित्कर हैं। भाषा स्पष्ट कर दी। आहाहा! गुरु ने आत्मा के मोक्ष के लिये अकिंचित्कर है और मिथ्यात्व तथा अज्ञान करने-होने में कर्म अकिंचित्कर है। **जब तक जीव, अपने आत्मा की सामर्थ्य का भान करके...** अपने स्वभाव के सामर्थ्य का भान करके **अन्तरङ्ग रागादि शत्रुओं अर्थात् कषायपरिणति पर विजय प्राप्त करके, स्वयं अपने आत्मा के उद्धार करने का प्रयत्न नहीं करता,...** आहाहा! अपने आत्मा के सामर्थ्य का भान करके, अन्तरंग रागादि शत्रु कषाय परिणति पर विजय प्राप्त करके स्वयं अपने आत्मा का उद्धार करने का प्रयत्न नहीं करता, **तब तक वह संसाररूपी कीचड़ में फँसा रहता है...** आहाहा! समझ में आया?

और जन्म-मरण के असह्य कष्ट भोगता है... लो! आहाहा! निगोद में एक अन्तर्मुहूर्त में एक श्वास में अठारह भव। उसका कारण? आहाहा! अपनी विपरीतता की बात है। कर्म के कारण से वहाँ अठारह भव करता है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। अपना जो स्वरूप है, उसका भान किये बिना अथवा उसका अनादर करके, जो उसमें नहीं, उसके राग में अपनापना मानता है, वह संसार भटकने का कारण है। कोई कर्म-

फर्म भटकने का कारण है... (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ७० कोड़ाकोड़ी का कर्म। लो! परन्तु वह तो उसकी स्थिति में है। यहाँ कहाँ से आया? वह तो स्वयं ऐसी अयोग्यता के कारण से कुछ जो विकार किया, उस काल में उस कर्म की स्थिति को होने के योग्य जीव, परमाणु उस प्रकार से हुए, वे तो उनके कारण से हुए, यहाँ वह मिथ्यात्व सेवन किया और विपरीत, इसलिए दर्शनमोह का परिणमन वहाँ हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह दर्शनमोह का परिणमन और मिथ्यात्व के भाव का अकिंचित्करपना है। आहाहा! और मिथ्यात्वभाव के परिणमन को दर्शनमोह का उदय अकिंचित्कर है।

मुमुक्षु : श्लोकवार्तिक में....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो व्यवहार की बात है। यहाँ अकिंचित्कर का स्वभाव है स्वयं से, तब निमित्त में अकिंचित्कर का आरोप। अकिंचित्कर है पर, परन्तु स्वयं किया न अपने से? इससे उसे यहाँ किया, उसके कर्तापने का अकिंचित्कर का आरोप दिया वहाँ। वे सब आधार देते हैं। इसमें ऐसा कहा है और इसमें ऐसा। लाख बात की हो। 'लाख बात की बात निश्चय उर आणो।' आता है न? 'छोड़ी जगत द्वंद्व फंद...' आहाहा!

यह चौरासी का भवसिन्धु महासमुद्र। उसकी खान में अनन्त भव करने की सामर्थ्य वह स्वयं करता है। आहाहा! मिथ्या दृढ़ता की श्रद्धा स्वयं करता है। इसके कारण वह भवसिन्धु में भटकता है। कर्म के कारण नहीं; और भवसिन्धु का अभाव, जिसमें भव और भव का भाव नहीं, ऐसा आत्मा आत्मा का आश्रय करके, केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त करता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में एक जगह लिया है। ऐसा करेगा तो उसे अच्छे निमित्त मिलेंगे और वहाँ धर्म पावे तो पायेगा। आता है न? परन्तु वह पायेगा तो पायेगा, इसका अर्थ क्या? इससे उसके कारण क्या है? आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो निमित्त। परन्तु निमित्त का अर्थ क्या? उसके कारण पायेगा, यह तीन काल में नहीं है। वह व्यवहार के वचन उसे। राग की मन्दता हो, तो पुण्य बाँधेगा और पुण्य बाँधेगा तो उसे निमित्त अनुकूल मिलेंगे और उसमें यदि प्राप्त करने का आश्रय करेगा तो प्राप्त करेगा, नहीं तो प्राप्त नहीं करेगा। यह तो उसके

आश्रय से हुआ, ऐसा कुछ हुआ नहीं। आहाहा! है मोक्षमार्गप्रकाशक में? यह शब्द है। यह तो याद आ जाये अन्दर से। आहाहा! उन्होंने भी स्पष्ट किया है। उसे जरा वहाँ कहे, भाई! ऐसे निमित्त अनुकूल होंगे तो वहाँ प्राप्त करना होगा तो प्राप्त करेगा। इसका अर्थ कि उस निमित्त से प्राप्त करेगा, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! यहाँ तो इनकार करते हैं।

तब तक वह संसाररूपी कीचड़ में फँसा रहता है... आहाहा! 'भावकलंक पहुरा' नहीं? गोम्मटसार में (आता है)। कर्म तीव्र है, इसलिए निगोद में रहा, ऐसा वहाँ नहीं कहा। भावकलंक पहुरा। प्रचुर। भावकलंक की प्रचुरता स्वयं करता है। आहाहा! उसमें कोई कर्म के निमित्त की अपेक्षा है, ऐसा है नहीं। आहाहा! भारी कठिन बातें। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है, वहाँ क्या हो?

और जन्म-मरण के असह्य कष्ट भोगता है... आहाहा! जन्मना और मरना, यह तो निमित्त से कथन है। वहाँ विकार के भाव को वेदता रहता है। असह्य विकार ऐसे भाव को वेदता है। ओहोहो! एक श्वास में १८ भव! जिसे राग का, मोह का प्रेम है न? वह बारम्बार ऐसे भव करे। आहाहा! स्त्री को वस्त्र का प्रेम होता है न? वह दस प्रकार की साड़ियाँ रखे। दिशा को जाये तब दूसरी, घूमने जाये तब दूसरी, उसमें जाये तब दूसरी। आहाहा! शाम को मातम पर और मर जाये तो। नहीं? थोड़े दिन चलता है। रोने जाये नहीं? चार बजे जाये। अब नहीं होगा, पहले था। चार बजे जाये सब इकट्ठे होकर आधे घण्टे रोये। पाँच, सात, दस दिन करे, फिर बन्द हो जाये। तब साड़ी दूसरी। विवाह में दूसरी। प्रेम है न, बदला बदल करते हैं। इसे-अज्ञानी को भव का प्रेम है। आहाहा! बदला बदली करता है।

परन्तु... है न? **पुरुषार्थ करता है,... जन्म-मरण के असह्य कष्ट भोगता है परन्तु जब वह,...** यह विशेष लेंगे अब...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ४, रविवार, दिनांक १३-०७-१९७५, श्लोक-७५-७६, प्रवचन-८८

समाधितन्त्र। ७५ गाथा। इसका विशेष। फिर से। **यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि जीव अपने शुद्ध या अशुद्ध उपादान से...** अर्थात् अपने स्वभाव से या विभाव से **अपने आत्मा का हित-अहित करता है;...** शुद्ध उपादान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय, अशुद्ध उपादान में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और राग की पर्याय। वह स्वयं अपने से करता है। किसी दूसरे का उसमें सहचर निमित्त नहीं है।

कहा है न वहाँ सहचर निमित्त को उपचार से कहना। मोक्षमार्गप्रकाशक। सहचर निमित्त और व्यवहार से उसका उपचार करना। इसका अर्थ कि वह तो दूसरी वस्तु थी इतनी। उससे आत्मा होता है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन का आरोप दिया है। वास्तविक व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! स्वयं ही स्वरूप शुद्ध आनन्द के अपने स्वभाव के साधन द्वारा स्वयं ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करके, स्वयं ही मुक्ति को प्राप्त करता है। और स्वयं ही अपने स्वभाव के सामर्थ्य के भान बिना अपनी सामर्थ्यता जानता नहीं, ऐसा मानकर रागादि या मोक्षमार्ग की पर्याय पर से होती है, ऐसा मानता है, वह संसार के दु:ख में परिभ्रमण करेगा। दु:ख में परिभ्रमण करेगा। आहाहा!

जब... है? **परन्तु जब वह, आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करके,...** स्वभावसन्मुख विशेष उग्र पुरुषार्थ आदरता है, **तब क्रम-क्रम से राग-द्वेषादि कषायभावों का व विभावपरिणति का स्वयं त्याग हो जाता है...** स्वयं त्याग हो जाता है। त्याग करना पड़ता नहीं। **तब क्रम-क्रम से...** त्याग होकर **और रागादि भाव से सर्वथा मुक्त होने पर अर्थात् परम वीतरागता प्राप्त होने पर, वह मोक्ष प्राप्त करता है।** अपने कारण से प्राप्त करता है। उसके कोई गुरु या देव या शास्त्र या धर्म मित्र कोई उससे होता नहीं, ऐसा कहते हैं।

यह इष्टोपदेश का ३४ वाँ श्लोक दिया है। कोई पूछता था न दोपहर के आहार के समय। कि करना, कराना और अनुमोदन करना अपने धर्म का, वह क्या? कौन पूछता था, नहीं? भाई! वह आया था न टीका में। कृत, कारक, अनुमोदन शुद्ध उपादान में। अब वह बात यहाँ श्लोक है।

स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥३४॥

आत्मा, अपने आत्मा में मोक्षसुख की सदा अभिलाषा करता है;... परमानन्दस्वरूप की स्वयं अभिलाषा करता है कर्ता होकर। परमानन्दस्वरूप पूर्ण स्वरूप आनन्द का धाम, ऐसा जो मोक्ष, उसकी सदा अभिलाषा करता है। वह स्वयं कर्ता हुआ। **अभीष्ट मोक्षसुख का ज्ञान कराता है...** लो! यह प्रयोजक हुआ। **अभीष्ट मोक्षसुख का ज्ञान...** स्वयं कराता है अपने को। यह कर्ता होकर कराता है, ऐसा। **और स्वयं कल्याणकारी आत्मसुख की प्राप्ति में अपने को जोड़ता है;...** कराना आया था न? जोड़ना, जोड़ना। यह करावे। स्वयं करावे अर्थात् जोड़ता है, ऐसा। आहाहा! उसमें कोई गुरु या शास्त्र वहाँ मददगार नहीं होते। आहाहा! शास्त्र दिशा दिखाकर अलग रहते हैं, ऐसा एक शब्द है आनन्दघनजी का। आनन्दघनजी में है। दिशा दिखाकर अलग रहते हैं अर्थात् यह तेरी चीज़ अन्दर है, अब इसे करना तो इसे करना है।

मुमुक्षु : गुरु मदद तो करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी मदद नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। कहो, छोटाभाई! यह योजे (जोड़े) कहा। करे स्वयं और जोड़े स्वयं। आहाहा!

भगवान पूर्णानन्दस्वरूप ऐसी परिणति को स्वयं करे। और उसे जोड़े अथवा मोक्षसुख का ज्ञान करावे स्वयं अपने को। मोक्षसुख की अभिलाषा करे और स्वयं मोक्षसुख का ज्ञान करावे। आहाहा! आत्मा आत्मा का गुरु है, ऐसा यहाँ तो सिद्ध करते हैं। व्यवहार हो, ऐसा लिखा है, देखो न! '**व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु**' हो। इसलिए उससे हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! तब तो इसमें गुरु का माहात्म्य उड़ जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ ऐसा कहा है। इष्टोपदेश में कहा है। शब्द है, फिर इस जगह यह गाथा हो या दूसरी हो। इस प्रकार तो उनका माहात्म्य तो उड़ जायेगा। इष्टोपदेश में है। वह इस गाथा का हो या इसके पहले-बाद का। यह पर का माहात्म्य यहाँ है ही नहीं। आहाहा! अपना जो स्वभाव ध्रुव अनन्त गुण की गाँठ, उसका जो

अनुभव करता है, वह तो आत्मा स्वयं करता है। उसे कोई गाँठड़ी... दूसरा लक्ष्य बतावे यह तेरी चीज़, ऐसा। परन्तु उसे करने का तो इसे स्वयं को है न? आहाहा!

ध्रुव स्वभाव, जिसके स्वभाव में अचिन्त्य शक्तियों का भण्डार ऐसा सामर्थ्यपने का ज्ञान करावे कौन? स्वयं। कहा न? **अभीष्ट मोक्षसुख का ज्ञान (स्वयं) कराता है...** आहाहा! **और स्वयं कल्याणकारी आत्मसुख की प्राप्ति में...** भाषा तीनों में यह आ गया है। मोक्षसुख की अभिलाषा, अभिष्ट प्रिय ऐसे मोक्षसुख का ज्ञान करावे। स्वयं अपने को करावे। प्रभु! तू प्रभु है न! आहाहा! तेरे स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है न। यह कौन करावे और कौन सिखावे? यह तो स्वयं। आहाहा!

मृग की नाभि में कस्तूरी, उसे उसकी खबर नहीं। उसे खबर पड़े, तब स्वयं खबर पाड़ता है। कि ओहो! जहाँ मैं खड़ा हूँ, वह तो पर्याय है। और वह पर्याय जिसकी है, वह तो महातत्त्व है। वह पर्याय उसके ऊपर खड़ी रही है। है ऐसी भाषा? चिदानन्दजी! कहाँ गये चेतनजी? नहीं आये? निहालभाई में यह शब्द है। किसी ने ऐसा पूछा कि न्याय से यह बात मस्तिष्क में बैठती है, परन्तु अभी ध्रुवस्वभाव के सन्मुख (लक्ष्य) नहीं जाता, इसका क्या कारण? आता है न? आता है, कहीं आता है। बड़ा समुद्र है। तब कहते हैं कि जिस पर्याय में तुझे न्याय से बैठता है विकल्प से—न्याय से। वह पर्याय किसी के ऊपर खड़ी है या नहीं? समझ में आया?

जिस पर्याय में तुझे न्याय से बैठता है तो, वह पर्याय कहाँ है? किसके आधार से है? निश्चय से आधार वह कुछ लेना नहीं (कि) पर्याय पर्याय का आधार। जिसके ऊपर पर्याय रहती है, ऐसा जो ध्रुव, उसका लक्ष्य कर तो तुझे अनुभव होगा। आहाहा! पर्याय में तुझे यह बात बैठी हो तो वह पर्याय किस पर खड़ी है? अर्थात् कि उसका उत्पाद किसके आधार से, किसके आधार में? अध्धर उत्पाद हुआ है? जिसके ऊपर वह पर्याय हुई है, खड़ी है, है, उसके आधार में जा। आहाहा! ऐसी बात भारी सूक्ष्म! इसे करने का तो यह है। बाकी सब बातें हैं। आहाहा! बातें करे कि इसका ऐसा हो और इसका ऐसा हो। उसमें दूसरा क्या?

यह आयेगा कहीं। विकल्प में। इसमें ही आयेगा न अब। ७८ है न?

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ ७८॥

टीका करके व्याख्यान क्यों किया?

टीका - व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है, उसमें (विकल्प के स्थानरूप) अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति... रूप ऐसा जो विकल्प। आहाहा! शुभ करूँ या अशुभ से निवृत्त होऊ, ऐसा जो विकल्प। उसमें **जो सोता है—प्रयत्न परायण नहीं है,...** वह स्वरूप में प्रयत्न परायण नहीं है। व्यवहार में सोता है, वह आत्मा में जागता नहीं। सोता अर्थात् यह समझ में आया? विकल्प व्यवहार में जो सोता है वह **प्रयत्न परायण नहीं है, वह आत्मदर्शन में अर्थात् आत्मविषय में जागता है...** उसमें प्रयत्नपरायण नहीं ऐसा। सोता है अर्थात् उसमें प्रयत्नपरायण नहीं। **वह आत्मदर्शन में अर्थात् आत्मविषय में जागता है...** आहाहा!

यह शुभ करूँ और अशुभ से निवृत्तना ऐसा जो विकल्प व्यवहार, ऐसा कहना है। उसमें जो तत्पर—परायण नहीं, वह आत्मा में जागता है। आत्मा का प्रयत्न करता है। आहाहा! व्यवहार की धुन है न? भक्ति की, पूजा की, व्रत, तप और ऐसे विकल्प की धुन है न जिसे, वह विकल्प में सोता है, उसमें उसका प्रयत्न है। आहाहा! इसमें नहीं। और जिसे आत्मा में प्रयत्न है। है न? **परन्तु जो इस उक्त प्रकार के व्यवहार में जागता है, (उसमें तत्पर है) वह आत्मविषय में सोता है** आहाहा! बहुत सूक्ष्म!

बाहर के त्याग-ग्रहण को अन्दर में शुभ को ग्रहण करूँ और अशुभ छोड़ूँ, ऐसा विकल्प में जो तत्पर है, वह व्यवहार में जागता है, वह आत्मा में सोता है। जो आत्मा तत्पर है, वह व्यवहार में सो गया है। हो भले, परन्तु उसकी ओर के प्रयत्न से मेरा कर्तव्य है, यह नहीं। आहाहा! व्यवहारवाले को भारी कठिन लगे। बात यह कहे। जो विकल्प से रहित है, उसे विकल्प में प्रवृत्ति की प्रयत्नता है, उसे यहाँ प्रयत्न नहीं है। वह व्यवहार में जागता है। आहाहा! जयन्तीभाई! ऐसा कठिन काम है, भारी! तुम्हारे भावनगर के लोगों को यह कठिन पड़े सबको। पूजा, भक्ति यह और यह और यह...

जो परसन्मुख के विकल्प में तत्पर है, भले शुभ में (प्रवृत्ति) या अशुभ की

निवृत्ति करूँ, उसकी भावना। परन्तु दोनों विकल्प का व्यवहार है। वह आत्मा में जागता नहीं। वह वहाँ तत्पर है। आहाहा! और जो पर में विकल्प की निवृत्ति या प्रवृत्ति के विकल्प में तत्पर नहीं, उसमें प्रयत्न परायण नहीं, वह आत्मा में जागता है, वह आत्मा में प्रयत्न परायण है। कहो, व्यवहार की व्याख्या की, भाई! विकल्प की प्रवृत्ति-निवृत्ति का शब्द देखो न! यह आता है न अपने सर्वविशुद्ध में? शुभ में रहूँ या अशुभ से निवृत्त होऊ यह सब विकल्पभाव है।

प्रतिक्रमण नहीं, निन्दा-गर्हा, वह सब शुभविकल्प है। उस शुभविकल्प में अशुभ से तो निवृत्त हुआ है न? ऐसा जो विकल्प है। आहाहा! ऐसा जो व्यवहार है, उसमें जिसकी प्रीति और रुचि और तत्पर है, वह व्यवहार में जागता है। वह निश्चय में सोता है। आहाहा! यह यहाँ कहा।

अपने आत्मा में... अपने आत्मा में। भगवान के आत्मा में, ऐसा नहीं। '**स्वस्मिन्**' है न? इष्टोपदेश-३४। **अपने आत्मा में मोक्षसुख की सदा अभिलाषा करता है;...** और एक जगह ऐसा आता है, अभिलाषामात्र मिथ्यात्व है, राग है। ऐई! पंचाध्यायी। पंचाध्यायी में ऐसा आता है। अभिलाषामात्र। वह यहाँ अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो जिसे अन्तर में मोक्षसुख की भावना है। अर्थात् वर्तमान प्रयत्न स्वभावसन्मुख है, इसलिए उसे मोक्षसुख की भावना है, ऐसा। समझ में आया? वह यहाँ शुभभाव नहीं लेना। पूर्ण आनन्द की ओर की जिसकी गति मुड़ी है, इतना। शरीर की गति, ऐसा आयेगा। गति अर्थात् नाश। गति का नाश होता है शरीर का। तब अज्ञानी उलझन में आता है। यह आयेगा।

आत्मा, अपने आत्मा में... अब उसे पर की कहाँ आवश्यकता रही? **मोक्षसुख की सदा...** अन्तर में जिसकी रुचि में वीर्य मोक्षसुख की भावना में है, और **अभीष्ट मोक्षसुख का...** प्रिय जो मोक्ष का सुख, उसका आत्मा स्वयं अपने को ज्ञान कराता है। **और स्वयं कल्याणकारी आत्मसुख की...** स्वयं कल्याणकारी आत्मसुख की **प्राप्ति में अपने को जोड़ता है;...** पूर्णानन्द का नाथ भगवान स्वयं, उसे आनन्द में स्वयं अन्दर जोड़ता है। आहाहा! योग करता है, जोड़ता है। **इसलिए आत्मा ही आत्मा का गुरु है।** गुरु क्यों? उसका कारण दिया कि स्वयं मोक्ष का अभिलाषी, मोक्ष की भावना करता

है। अभीष्ट सुख का उसे ज्ञान कराते हैं। स्वयं भी ज्ञान कराता है, उसमें गुरु कहाँ आये? और कल्याणकारी सुख की प्राप्ति में स्वयं अपने को जोड़ता है। आनन्दस्वरूप भगवान में जोड़ना-जुड़ान स्वयं करता है। उसमें कहीं गुरु के कारण जुड़ान होता है, ऐसा नहीं है। कठिन बात, भाई! वीतरागमार्ग निरालम्बी है।

मुमुक्षु : वीतरागता व्यवहार को कहे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहे, वह तो उसकी उपेक्षा। उपेक्षा कराने के लिये कहते हैं। तात्पर्य, कहने का आशय तो वीतरागता का है। तो चाहे जो बात करे तो उससे उसकी उपेक्षा करके वीतरागता करे। इसके लिये कहते हैं। आहाहा! पर का ज्ञान करके भी पर में स्थिर नहीं होना, इसलिए उसका ज्ञान कराते हैं। स्थिर तो यहाँ होना है। आहाहा! कठिन बातें! ऐसा धर्म!

इसलिए आत्मा ही आत्मा का... किस कारण से? कि स्वयं मोक्षसुख की भावना करता है, स्वयं। प्रिय मोक्षसुख का ज्ञान स्वयं कराता है और कल्याणकारी आत्मसुख की प्राप्ति में स्वयं अपने को जोड़ता है अन्दर। आहाहा! **इसलिए आत्मा ही आत्मा का गुरु है।** अब एक अर्थ में कितना निकला? कहो, नवरंगभाई! करना, कराना, अनुमोदन सब आ गया इसमें। वह आया था न टीका में सवेरे। भाई ने, यह क्या? मोक्षसुख का कर्ता भी स्वयं, जोड़नेवाला स्वयं, करानेवाला स्वयं और अनुमोदन अर्थात् यह ठीक है, यही ठीक है, ऐसा हित का माननेवाला भी स्वयं। आहाहा! व्यवहार ठीक है या व्यवहार का कर्ता स्वयं है या व्यवहार का जुड़ान करनेवाला, वह आत्मा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार स्वयं अनात्मा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनात्मा है तो आत्मा अनात्मा में कैसे जुड़े? जानता है। है, ऐसा जानता है। है, ऐसा जाने, इसलिए उसने मदद की?

पहले नहीं आया था एक बार भाई का? कौन यह भाई कल्याणभाई नहीं? इन्दौरवाले नहीं वह क्या नाम, भूल गये।

मुमुक्षु : भंवरलाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, भंवरलाल नहीं। वह नहीं। यह तो अपने यहाँ काम करते-करते बैठ गयी बात पहले। दुलीचन्दजी के साथ। छोटालालजी। छोटेलालजी। छोटेलालजी, ब्रह्मचारी छोटेलालजी। वे कहे कि व्यवहार में... पहले कहते थे बेचारे, हों! व्यवहार में आवे तो जरा इसे विश्राम मिले। फिर अन्दर में जाने को ठीक पड़े, ऐसा। ऐसा आया था पहला। फिर यहाँ आकर बदल गये। पहले माना था, फिर बदल गया और फिर वापस... अब पहला। मार्ग तो यह ही है। ऐसा कि व्यवहार में आवे तो बड़ी थकान उतरे वहाँ। अन्दर मानो थकान लगती होगी। परन्तु व्यवहार में आना, वही थकान है। वह स्वयं थकान है। उस थकान को उतारने के लिये तो अन्दर में जाना पड़े। आहाहा!

इस गाथा का अर्थ हुआ, इष्टोपदेश का। स्वयं सार लिखते हैं। **इसलिए आत्मा, पर का-निमित्त का...** पर का अर्थात् निमित्त का **अवलम्बन छोड़कर, स्वयं अपना गुरु बने, अर्थात् धर्म की सिद्धि के लिए स्वाश्रयी बने...** स्व-आश्रयी बने। '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' भूतार्थ भगवान सत्यार्थ त्रिकाल का आश्रय ले तो वह स्व-आश्रयी बना। आहाहा! **तो वह जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त होकर, निर्वाण को पाता है।** स्वयं यह करे तो निर्वाण पावे। कोई दूसरा करावे, ऐसा है नहीं। आहाहा! अरे! परन्तु जिसे जन्म-मरण के दुःख की थकान लगी हो, उसे यह बात है। परन्तु ऐसे लहर करता हो, उसमें बाहर से... आहाहा! शरीर कुछ ठीक हो, पाँच-पच्चीस लाख पैसे मिले हों, स्त्री-पुत्र कुछ ठीक हो, धन्धा कुछ ठीक चलता हो, लड़के भी कमाने में पहुँच गये हों। आहाहा! पहुँच गये हों, ऐसा। दो-चार लड़के हों।

मुमुक्षु : स्वयं को कमाना न पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं को कमाना न पड़े, इसलिए निश्चिन्तता से... आहाहा! तब हम सुखी हैं। धूल में भी नहीं। आहाहा! पर की अनुकूलता से सुखी, यह मान्यता भ्रम और पाखण्ड है। सुजानमलजी!

मुमुक्षु : योग मिले तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं, यह योग किसका? किसका? भगवान आत्मा पूर्णानन्द का योग मिले, ऐसा कहते हैं। यह लड़का वहाँ कमाता है और स्त्री वहाँ घर

में पड़ी है, इसलिए अपने यहाँ निवृत्ति यहाँ रोटियाँ पूरे। यह तो दृष्टान्त। यह कुछ है नहीं। आहाहा!

बाहर की ऐसा कि अनुकूलता हो, बाहर का संयोग जिसमें रहता है, ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अनुकूलता हो तो उसे ठीक पड़े अन्दर में आत्मा का कल्याण करने के लिये। ऐसा नहीं है। आहाहा! स्वआश्रय कल्याण का कारण है, ऐसा कहते हैं। स्वआश्रयी बनना। भगवान पूर्णानन्द का नाथ है, उसमें उसके पक्ष में जाना और व्यवहार के, निमित्त के पक्ष का लक्ष्य छोड़ देना। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का। झगड़ा व्यवहार और निश्चय के, इतने सब। सोनगढ़ के नाम से आवे तो कहे, यह सोनगढ़ तो निश्चय की बातें माननेवाला। ऐसा करके सब कहे, लो। सब ऐसा कहे, लो। बाबूभाई ने अभी लिखा था। उनके लोगों में दो भाग पड़ गये हैं न। बंटवारा कर डाला, तथापि बंटवारा किया है, वह धर्मशाला उन्हें दी, यह अमुक, यह दिया, उसे एक व्यक्ति, परन्तु अन्दर में कहे अन्दर यह द्वेष है। यह तो सोनगढ़ के नाम से भाग किये। मेरा एक जगह चलता था, उसमें भाग किये। यह धर्मशाला और एक कुछ दिया है न, दो नहीं? दूसरा? ... यह नहीं कुछ भाग किये। कुछ नहीं था, यह सोनगढ़ हुआ तो भाग पड़े।

अरे... भाई! व्यवहार और पर से लाभ माननेवाला पराश्रय, पराधीन दृष्टिवाले मिथ्यात्वी हैं। आहाहा! चाहे तो साधु होकर पंच महाव्रत पालन करे तो आत्मा का कल्याण होगा, वह सब पराश्रय दृष्टिवाले मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो मार्ग वीतराग का है, बापू! वीतराग में वीतरागभाव को प्रगट करने में पराश्रय की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। क्योंकि स्वयं वीतरागभाव से भरपूर पदार्थ है। अर्थात? चारित्र सम्पन्न वस्तु स्वयं है। अर्थात् अकषायस्वभाव स्वरूप ही वह है। इससे अकषायस्वभाव का आश्रय लेने से, अकषायभाव प्रगट होता है।

दूसरी भाषा से ऐसा कहा १४-१५ में कि आत्मा को अबद्धस्पृष्ट जानने से अबद्ध परिणाम प्रगट होते हैं। वे अबद्ध परिणाम प्रगट हों, वह जैनशासन, ऐसा कहा। आहाहा! आत्मा अबद्ध है, राग से बँधा हुआ नहीं। वस्तु है, वह वस्तु स्वयं है, वह राग से बँधी हुई (नहीं है), राग के सम्बन्ध में भी नहीं है। सम्बन्ध नहीं अर्थात् उसका बन्ध राग का

उसे नहीं है। ऐसा जो अबद्धतत्त्व, उसका आश्रय लेने से अबद्धपरिणाम, अर्थात् कि मुक्ति के परिणाम, मोक्ष के परिणाम उसे होते हैं। स्वआश्रय से मुक्ति के परिणाम होते हैं, मोक्ष का मार्ग। पराश्रय में जाने से तो राग और विकल्प उठेगा। आहाहा! चाहे तो देव, गुरु और शास्त्र हो। वहाँ तो ऐसा भी कहा मोक्षपाहुड़ में तो '**परदव्वादो दुग्गइ**' त्रिलोक के नाथ ऐसा कहते हैं, हम तेरे हिसाब से परद्रव्य हैं और परद्रव्य पर तेरा लक्ष्य जाने से तुझे दुर्गति मिलेगी। आहाहा! अर्थात्? चैतन्य की गति का परिणमन तुझे नहीं होगा। राग का होगा, वह तो दुर्गति; वह जीव की गति नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग बेचारे लोगों को सुनने को मिलता नहीं।

मुमुक्षु : हमको तो मिला है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भाग्यवान, भाग्यशाली भाई! आहाहा! स्वयं वस्तु स्वयं है। यह तो राग के सम्बन्ध अर्थात् बन्धरहित, सम्बन्ध नहीं अर्थात् बन्धरहित चीज़ है। उसका आश्रय लेने से जो अबन्ध परिणामी अर्थात् मोक्षस्वभावी अर्थात् वीतरागभावी प्रभु का आश्रय लेने से वीतरागी पर्याय होती है। अर्थात् कि मोक्ष के मार्ग की दशा होती है, उसका उग्र आश्रय लेने से मोक्ष होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? बहुत कठिन, बापू! लोगों को ऐसा लगे, यह नहीं। भाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मनुष्य रहना नहीं। मनुष्य, यह आत्मा मनुष्य ही नहीं। शरीर तो नहीं, हों! मनुष्य की गति। यह गति आत्मा नहीं। आहाहा! शरीर आत्मा नहीं, वह तो जड़, वह कहीं गति नहीं। मनुष्य की जो गति है, वह आत्मा नहीं। आहाहा! मनुष्य की गति से भिन्न भगवान है; इसलिए मनुष्य की गति धर्म में कारण हो, मोक्ष में कारण। कारण कि मनुष्यगति में केवल(ज्ञान) होता है, इसलिए मोक्ष की गति—केवलज्ञान में कारण होती नहीं। आहाहा! जयन्तीभाई! यह सब समझना पड़ेगा, हों! बाहर में धूल में—पैसे में कुछ नहीं है। कुछ ठीक नहीं। अभी ऐसा कि हम पैसा कमा लेते हैं। बाद में यह पैसे में मैले हाथ हों नहीं। पैसे लेने-देने की बातें। उसमें किसी को मैले हाथ हों नहीं। कुछ गिनती दूसरी करनी पड़े नहीं। कपड़े का धन्धा हो तो अभी ऐसे फिराना पड़े

और ऐसे फिराना पड़े। यह तो पैसा और यह धन्धा। डेढ़ प्रतिशत ब्याज से यह लो न अमुक। अभी यह मँहगाई की अपेक्षा से, हों!

वह तो तुम्हारा लड़का है, वह तो सुनकर ऐसा कहे। आहाहा! एक बार कहता था, प्रवचनसार सुनकर। आहाहा! महाराज! यह सुनकर अब तो अन्दर में उतर जायें, ऐसी बात है। बाकी कोई अब... आहाहा! ऐई... लालजीभाई! कहता था एक बार। यह महीना रह गया न, प्रवचनसार अधिकार। कहो, उसके पिता के पास इतना पैसा है, दुकान चलाऊँगा और पैसा बढ़ाऊँगा, यह बातें नहीं करता। तब ऐसा बोला था जब। प्रवचन की सूक्ष्म बात आती थी।

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का जन्मकाल है, वह-वह पर्याय उस काल में वह उत्पन्न होगी, उसे दूसरा क्या करे? क्या करावे? आहाहा! मोक्षमार्ग की पर्याय... आहाहा! उसका भी जब जन्मकाल, उसकी उत्पत्ति का यह काल है। उसे दूसरा क्या करे? राग क्या करे और गुरु क्या करे? आहाहा! यह बात आयी थी। महीने भर सुनकर फिर एक बार बोला। भले अन्दर अव्यक्तरूप से परन्तु ऐसा इसका रस है उसे। आहाहा! ऐसा बोले, हों! ऐसा न बोले कि यह मुझे समझ में नहीं आता। ऐई... जयन्तीभाई! ऐसा सूक्ष्म कुछ समझ में नहीं आता, ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : दादा को और पिता को ना थोड़े ही करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दादा-बाप पड़े हैं दूसरे में। यह तो उसे भी खबर है न! अव्यक्तरूप से भी उसे भारी रस है। यह सुनकर ऐसा कहे, अब तो अन्दर में उतर जायें। दूसरा कुछ है नहीं। आहाहा! धन्धा करना और करना-फरना, यह तो कहीं नहीं। आहाहा! परन्तु व्यवहार के विकल्प करना, वह अब नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसा कहता था।

जहाँ पूर्णानन्द का नाथ है, वहाँ उतर जायें अन्दर। ऐई! आत्मा ही है न! यह क्या है? अव्यक्तरूप से भी अभी इसका प्रेम होता है न? आहाहा!

आत्मा, पर का-निमित्त का अवलम्बन छोड़कर, स्वयं अपना गुरु बने, अर्थात् धर्म की सिद्धि के लिए स्वाश्रयी बने तो वह जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त होकर, निर्वाण को पाता है। यह ७५ हुई।

श्लोक - ७६

देहे स्वबुद्धिर्मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह -

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम्॥ ७६॥

देहादौ दृढात्मबुद्धिरविचलात्मदृष्टिर्बहिरात्मा। उत्पस्यनवलोकयन्। आत्मनो नाशं मरणं मित्रादिभिर्वियोगं च मम भवति इति बुद्धयमानो मरणाद्बिभेति भृशमत्यर्थम्॥७६॥

देह में आत्मबुद्धि करनेवाला (बहिरात्मा), मरण नजदीक आने पर क्या करता है ? वह कहते हैं—

आत्मबुद्धि है देह में, जिसकी प्रबल दुरन्त।
वह तन-परिजन मरण से, होता अति भयवन्त॥ ७६॥

अन्वयार्थ - (देहादौ दृढात्मबुद्धिः) शरीरादिक में जिसकी आत्मबुद्धि दृढ हो रही है—ऐसा बहिरात्मा, (आत्मनः नाशम्) शरीर के छूटनेरूप अपने मरण (च) और (मित्रादिभिः वियोगं) मित्रादि-सम्बन्धियों से होनेवाले वियोग को (उत्पश्यन्) देखता हुआ, (मरणात्) मरने से (भृशम्) अत्यन्त (बिभेति) डरता है।

टीका - देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धिवाला अर्थात् अविचल आत्मदृष्टिवाला बहिरात्मा, अपना नाश अर्थात् मरण देखकर-अवलोककर तथा 'मित्रादि से मेरा वियोग होगा'—ऐसा समझकर, मरण से अत्यन्त त्रास पाता है, ऐसा अर्थ है।

भावार्थ - अज्ञानी जीव, शरीर को ही दृढ़रूप से आत्मा मानता है; इसलिए शरीर छूटने के समय अर्थात् मरण समय अपने आत्मा का नाश और उस कारण स्त्री-पुत्र-मित्रादि से वियोग-ये दो बातें जानकर, मरण से अत्यन्त ही भयभीत होता है।

'संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।'

जिस पुरुष का चित्त संसार से आसक्त है, उसके लिए मृत्यु, भय का कारण है

क्योंकि वह मानता है कि 'मेरे शरीर का नाश होने पर, स्त्री-पुत्रादि से वियोग होगा। अब मुझे उनके संयोग का सुख नहीं मिलेगा।'—ऐसे वियोग के दुःख से, वह मरण से बहुत डरता है॥७६॥

श्लोक - ७६ पर प्रवचन

७६, **'देह में आत्मबुद्धि करनेवाला (बहिरात्मा) मरण नजदीक आने पर क्या करता है?'** देह की स्थिति पूरी हो और उसे खबर पड़े। आहाहा! डॉक्टर एकान्त में कहे कि अब बहुत लम्बा नहीं टिकेगा और उसका मित्र-बित्र सुन गया हो, उसे कहे कि डॉक्टर ऐसा बोल गये हैं। बाहर में (कहते) नहीं परन्तु एकान्त में बोल गये हैं भाई! आहाहा! **देह में आत्मबुद्धि करनेवाला (बहिरात्मा) मरण नजदीक आने पर क्या करता है? यह कहते हैं :-**

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम्॥ ७६॥

आत्मबुद्धि है देह में, जिसकी प्रबल दुरन्त।
वह तन-परिजन मरण से, होता अति भयवन्त॥ ७६॥

टीका - **देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धिवाला...** देह और दृष्टिगोचर मित्र आदि... आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार, दुकान, मित्र यह सब दिखाई दे बाहर में। आहाहा! **देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धिवाला अर्थात् अविचल आत्मदृष्टिवाला बहिरात्मा,...** वहाँ ही उसकी प्रीति और प्रेम जिसका जगा है, बैठा है। आहाहा! वह **अपना नाश अर्थात् मरण देखकर...** गति का आता है दूसरे विषय का। अपना, है न?

अपना नाश अर्थात्... शरीर के नाश को देखकर... **अवलोककर...** आहाहा! यह शरीर अब छूट जायेगा। इसलिए बुद्धि तो वहाँ है। और देह के जो माता-पिता, मित्र, परिवार सब। सब छूट जायेगा। आहाहा! जिसके अनुकूल संयोगों में मैं रहा, पला हूँ, मैं अर्थात् देह, ऐसा। आहाहा! जिसकी सहायता से और मदद से मेरा शरीरादि की सुविधा और अनुकूलता हुई, अरे! उसका वियोग होता है।

'मित्रादि से मेरा वियोग होगा'... यह प्रिय मित्र, प्रिय पुत्र सामने देखे वहाँ रोवे लड़के। अरे... बापू जाते हैं अब। यह बापू जाते हैं, वे सुविधा के लिये रोते हैं। मरकर नरक में जाये तो इन्हें कहाँ नहाना है उसे? आहाहा! बराबर होगा? इसकी सुविधा को। बापू बैठे हों,

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। बापू थे, सिर पर छत्र था, छत्र। बापू थे तो छत्र था और तुम्हारे निश्चिन्त काम... बापू सिर पर छत्र हो उसे क्या? ऐसी पागल बातें करे। पागल इकट्ठे हों। इसमें भी उनकी अस्ति में तुम्हारी इतनी प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं थी। अब तुम्हारे सिर पर सब पड़ा। ऐई! कान्तिभाई! ऐसी सब बातें करे। आहाहा! वह मरकर कहाँ जायेगा? उसका इसने विचार किया है? और यह देह छूटकर मैं कहाँ? परन्तु इस देह को छूटने का माने, उसमें छूटकर जाना कहाँ था, कहाँ इसे? आहाहा! देह के नाश से अपना नाश और उसके मकान, वह दस-दस लाख के मकान हों और अभी की यह सब क्या कहलाता है? फर्नीचर। अलमारियाँ ऐसे भरी हों, खिलौने की, अमुक की, काँच की, दर्पण की, अलग-अलग प्रकार के आते हैं न अभी तो? पुतला एक ऐसा और वैसा। अब उसमें से इसे जाना।

एक बार वहाँ कहा था, वहाँ लीलाधरभाई को। लीलाधरभाई को। राजकोट। वहाँ तो सब सीढ़ियाँ एकदम साफ सब। उसके लड़का क्या छबील न? छबीलभाई। हम आहार लेने गये थे, तब सीढ़ियाँ-बीढ़ियाँ एकदम साफ पॉलिश ऐसा। सब ऐसे देखो तो। मैंने कहा, इसमें से निकलना कठिन पड़ेगा।

मुमुक्षु : चौबीस घण्टे नौकर साफ करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : किया ही करे। बड़े कपड़े रखें और लकड़ी को साफ ही किया करे। सीढ़ियों के वे पाटिया हों, उसमें फिर कुर्सियाँ हों। मेहमान आवे तब बैठे। बैठे-बैठे खाये।

अभी ही कहते थे भाई जयन्तीभाई। वह लड्डू खाते हैं न वहाँ? शत्रुंजय नहीं, वहाँ लड्डू मिलते? वहाँ वे तो थाली रखें... उस जगह तो अब कुर्सियाँ, टेबल, टेबल

और करोड़पति आया वहाँ कुर्सी पर बैठ जाये। टेबल पर थाली रखे और लड्डू आये। वह नीचे लड्डू खाते थे। हमने भी खाये थे। पहले बहुत वर्ष की बात है। हमारे शिवलालभाई और मैं, दोनों थे। हमारे शिवलालभाई यह नहीं? यात्रा की थी। गाँव में बहिन थीं। हरकुंवरबहिन बड़ी मोतीशा की धर्मशाला में प्रमुख। फिर यहाँ खाये। देरी हो गयी थी, फिर खाया था, वहाँ घर में और यहाँ लड्डू को खाया। आज कहते थे कि इतनी सुविधा हुई है अब। महाराज! आप एक बार आओ अब देखने। मन्दिर को पैंतीस लाख का तो एक दरवाजा बनाया है। श्वेताम्बर का मन्दिर है न जो मुख्य? उसके दरवाजे में पैंतीस लाख डाले। क्योंकि यह सब धर्म के पैसे सरकार ले जायेगी, इसकी अपेक्षा डालो इसमें—पत्थर में। ऐसे सब। ऐसा ठाठ पड़ गया था। सिर पर रखे। (संवत्) २००६ के वर्ष में गये थे न? २५ वर्ष हो गये।

अब तो बदल गया है ... पचास लाख के बँगले बड़े, यह शोभा है? आहाहा! हमने बनाये पैसा खर्च करके, यह भी वह मिथ्यात्वभाव है। परमाणु की पर्याय के काल में वह पर्याय उसमें जन्मक्षण है, इसलिए हुई। आहाहा! भारी कठिन! परमाणु का उस समय का उस पर्याय का काल था, इसलिए वहाँ होती है। जगत को ऐसी बात बैठना कठिन पड़ता है। अभिमानी है न! जहाँ हो वहाँ हम करते हैं... हम करते हैं... दुकान में पेढ़ी में हम बैठें, तब ग्राहक को सम्हालते हैं, आमदनी होती है। वह कहीं माल बिना बैठता है, उससे होता होगा? लो, यह सब। ... जल गया था सब, लो।

मुमुक्षु : बीमा कराया होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब जल गया था। फिर और कुछ मिला होगा। क्या कहलाता है वह? क्या कहलाता है वह? बीमा। यह तो हिम्मतभाई के वहाँ जल गया था न? पंच कल्याणक में और पैसे वापस मिल गये। पंच कल्याणक के समय, पाव, पाव घण्टे में उड़ गया सब। ऐसा भड़का हुआ।

मुमुक्षु : दूसरा जो बाद में बनाया, वह उड़ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होने के काल में बापू होता है, उसमें क्या? आहाहा! हिम्मतभाई जैसे होशियार व्यक्ति थे वहाँ, लो करनेवाले। आहाहा!

देहादि, मित्र आदि, मकान में शृंगारित की हुई वह सब मकान में क्या कहलाता है वह ? फर्नीचर, उसमें आत्मबुद्धि आवे, यह मेरे... मेरे... मैंने इकट्ठे किये। आहाहा! मैंने मेरे बाहुबल से यह सब इकट्ठा किया। पिता के पास कुछ नहीं था। ऐसा था कुछ ? हरजीवनभाई के पास इतना सब कहाँ था ? वह तो नौकरी करता था गढडे जाकर। हमने प्राप्त किया। हमने प्राप्त किया, ऐसा किया। लो! शान्तिभाई के यहाँ बहुत धनबाग में बहुत जमीन मिल गयी है। बहुत लाखों रुपये की जमीन। इन शान्तिभाई को। दस लाख रुपये की जमीन बड़ी। कितनी बड़ी ? ओहोहो! खड़ा रह परन्तु! किसकी जमीन और किसके पैसे बापू! आहाहा!

कहते हैं कि जिसे उसमें परपदार्थ... देहादि में सब आया फिर। शुरु तो यहाँ से किया। **देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धिवाला अर्थात् अविचल आत्मदृष्टिवाला बहिरात्मा,...** अर्थात् बहिर चीज़ को अपनी माननेवाला। शरीर से लेकर सब परचीज़। आहाहा! यह वजुभाई को बेचारे को देखो न कैद में डाला है। चिमनभाई के भाई। गये थे, हों, अहमदाबाद। तब घर में थे। और रूम का धारकर कुछ वह रखे। गये थे। गये और रोने लगे। नहीं तो व्यक्ति तो वीर्यवाला व्यक्ति है। फिर बहिन के घर में स्त्रियाँ कहें, क्या करते हो यह ? क्योंकि जेल में से अब कब छूटने का, यह निश्चित नहीं होता। आहाहा! गजब बात, बापू! आहाहा! जिसे प्रेम से पालन किये, बड़े किये, रखे, अब उनके वियोग में रहना....

कहते हैं यह **अपना नाश अर्थात् मरण देखकर...** आहाहा! देखा! **अवलोककर तथा 'मित्रादि से मेरा वियोग होगा'...** यह प्रिय पुत्र कहाँ मिलेंगे अब ? आहाहा! यह स्त्री ऐसे रोती हो सुबक-सुबक कर। छाती फाट आँख में से धारा चलती हो। अरे... यह कहाँ मिलेगी अब ? यह अज्ञानी को यह सब दुःख के दावानल सुलगते हैं उस समय—देह छूटने के समय। आहाहा!

ऐसा समझकर, मरण से अत्यन्त त्रास पाता है,... हाय... हाय... यह स्थिति होगी, यह सब ? यह छूट जायेंगे अर्थात् मेरा नाश हो जायेगा, ऐसा। देह का नाश अर्थात् मेरा नाश। आहाहा! देखो, यह समाधि-असमाधि के लक्षण का वर्णन किया है। देह

छूटने का काल तो आयेगा। यह देह आयेगी दूसरी देह में? आहाहा! हाय... हाय... हाथ भी ऊँचा होता नहीं। लो, मैं यह रहता था और नहीं करशनजी के बहनोई इस कमरे में। ९२ में। यह करशनभाई नहीं थे यहाँ वैष्णव? कैसे कहलाते हैं वे? करशनजी नहीं? लालूभाई के दामाद। लालूभाई लीमडावाले। करशनजी थे न? वे कहीं अन्यत्र गये हैं। यहाँ रहते थे।

मुमुक्षु : मोदी।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोदी, हाँ वे। वैष्णव। उनके बहनोई थे घोघा के वैष्णव। फिर तुम्हारे मकान में रहते थे। वहाँ उन्हें मांगलिक सुनाने गये थे। डॉक्टर-बॉक्टर पैसेवाले व्यक्ति, इसलिए ऐसा इंजेक्शन तैयार और ऐसा... मांगलिक सुनने का समय नहीं मिलता। परन्तु व्यक्ति जरा चतुर था, हाँ जरा। परन्तु था वैष्णव। ऐसा बोला, महाराज! वस्त्र जीर्ण हो गया है। अब नया वस्त्र आयेगा, ऐसा बोला भाई! शरीर का वस्त्र जीर्ण हो गया है, यह नहीं रहेगा।

समाधिशतक में तो ऐसा आया है। दूसरा क्या? मृत्यु महोत्सव में। वह कहीं है। वह इसमें ही होगा। श्लोक इसमें है। इसमें श्लोक है न। बाद में है न। है देखो! **ऐसे विचार से ज्ञानी मरण से भय प्राप्त नहीं होता, परन्तु मरण को वह मित्र समान गिनता है, उसे एक महोत्सवरूप से देखता है,...** ओहोहो! यह गति बदलने के कारण में तो मरण कारण है। और मुझे जो गति बदलकर जाना है मोक्ष में या स्वर्ग में... आहाहा! वह मृत्यु बिना कौन बदले? मृत्यु बिना, मुझे जाना है स्वर्ग में या मोक्ष में (तो) देह के छूटे बिना, यह बात कहाँ? इसलिए देह का छूटना तो मेरा मित्र है। आहाहा! मेरी दशा का प्राप्तपना मृत्यु के बाद होने का, वह मृत्यु ने ही मुझे कराया है। आहाहा! है न यह?

मित्र समान गिनता है, उसे एक महोत्सवरूप से देखता है और इसलिए वह निराकुलतापूर्वक आत्मस्वरूप में स्थिर होकर समाधि-मरण साधता है। आहाहा! यह वहाँ कहेंगे, लो! **गर्भ से लेकर आज तक, देह पींजर में तू अनेक प्रकार के दुःख भोगते हुए पड़ा रहा है। मृत्युरूपी बलवान राजा के अतिरिक्त दूसरा कौन तुझे देह-पींजर में से मुक्त कर सकता है?** आहाहा! डाला है सब खोजकर। है न? ७८ गाथा में है। आहाहा!

भावार्थ - अज्ञानी जीव, शरीर को ही दृढ़रूप से आत्मा मानता है; इसलिए शरीर छूटने के समय अर्थात् मरण समय अपने आत्मा का नाश... हो गया। अपने मर जायेंगे। कौन मरे? आत्मा मरे? आत्मा जन्मे? आहाहा! यह तो देह का संयोग, उसे जन्म कहा जाता है और देह के वियोग को मृत्यु कहा जाता है। आत्मा जन्मता नहीं और आत्मा मरता नहीं। सत्य होगा? यह लड़कों को जँचता है या नहीं यह? इन लड़को को समझ में आये, ऐसा है यह तो। यह देह छूटे तो कहीं मर जाये, ऐसा है यह? दूसरा जन्मता है? वह तो है, ऐसा है, अनादि का है। आहाहा!

ऐसा जानकर **शरीर छूटने के समय अर्थात् मरण समय अपने आत्मा का नाश और उस कारण स्त्री-पुत्र-मित्रादि से वियोग-ये दो बातें जानकर, मरण से अत्यन्त ही भयभीत होता है।** आहाहा! एक तो शरीर का नाश होगा अर्थात् मेरा नाश होगा, ऐसा। और मरण के समय अपना नाश अर्थात् स्त्री-पुत्र-मित्रादि का वियोग, दोनों का इसे त्रास है। आहाहा! यह प्रिय में (प्रिय), जिसकी रक्षा की है, वे सब कहाँ इकट्ठे आयेंगे? कौन आयेगा? आहाहा! सब यहाँ पड़े रहेंगे। रोते रहेंगे यहीं। अज्ञानी को शरीर के ऊपर प्रेम की बुद्धि में मरण के समय ऐसा उसे त्रास होता है। ज्ञानी को त्रास नहीं होता। आहाहा! यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ६, सोमवार, दिनांक १४-०७-१९७५, श्लोक-७६-७७, प्रवचन-८९

७५ गाथा का अन्तिम भाग। ७६ का। **जिस पुरुष का चित्त संसार से आसक्त है, उसके लिए मृत्यु, भय का कारण है...** देह छूटने का काल उसे भय का काल है। क्योंकि उसने देह, वह मेरी चीज़ है, ऐसा आसक्ति से माना है; इसलिए उसे ऐसे देह छूटने के काल में भय होता है। हाय... हाय... देह छूटेगी। **क्योंकि वह मानता है कि 'मेरे शरीर का नाश होने पर, स्त्री-पुत्रादि से वियोग होगा।** यह मकान पाँच-पाँच, दस लाख के हों, यह फर्नीचर हो, भैंसें, गायें दूध के लिये तैयार हो। अब उसमें से इसे हटना...

मुमुक्षु : चाकरी करनेवाले हों न।

पूज्य गुरुदेवश्री : रखनेवाले भी कहाँ रखें? परन्तु उनके प्रति जिसे आसक्ति है और उनसे जो स्वयं शोभा मानता है, उसे मृत्यु के समय छूटने पर भारी दुःख होगा।

मुमुक्षु : भगवान के नाम से सब... कैसे करे? चक्रवर्ती तो रखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पुण्य का उदय हो और ऐसा संयोग आवे। (पुण्य का उदय हो तो) चक्रवर्ती पद मिले, उससे क्या? वह चीज़ मुझे शोभादायक है और मुझे लाभदायक है, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : अपटूडेट रखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे अपटूडेट रखे? शरीर को रख सकता नहीं तो फिर कपड़े-बपड़े व्यवस्थित रखे और यह और टोपी और... आहाहा!

जिसे बाह्य पदार्थ के प्रति अनुकूलता से जिसे रस है और प्रेम है, उसे छूटने के काल में बहुत भय होगा, दुःख होगा। आहाहा! शरीर का टुकड़ा भी साथ में नहीं आयेगा। आहाहा!

मुमुक्षु : राख हो जायेगा राख।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह और बाद में होगा परन्तु छूटने के काल में तो ऐसा का ऐसा पड़ो रहेगा। आहाहा!

मुमुक्षु : शरीर को जीव दगा देता है, जीव उसे छोड़कर चला जाता है। यह कहे कि शरीर...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करे स्थिति पूरी हो तो जाता ह। परन्तु उसे छोड़ता नहीं, वह छूट जाता है। छोड़ता तो मैं आत्मा हूँ। आनन्दस्वरूप हूँ। आहाहा! सवेरे नहीं आया था वह? कि यह आनन्दस्वरूप हूँ, उसके परिणमनवाला जीव ऐसा मानता है कि यह शरीरादि के कर्ता, कर्म, करण—साधन मैं नहीं, ऐसा मानता है। आहाहा! भेदज्ञान हुआ है, वह ऐसा मानता है, ऐसा यहाँ कहना है। आहाहा! मैं एक आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति निर्विकार परमानन्द सुखरूप लक्षण सम्पन्न, तो उसकी पर्याय में आनन्द का परिणमन, शान्ति का परिणमन हो, वह भेदज्ञानी जीव इस शरीर और वाणी और मन का कर्तापना पुद्गल का है, वह मेरा नहीं, ऐसा वह कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

मेरी क्रिया तो उसे हो, उसको जानन की, उसका अस्तित्व है, इसलिए जानने की, ऐसा भी नहीं, परन्तु मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मुझे जानते हुए और पर को जानते हुए मेरी पर्याय स्वतन्त्र परिणमती है। आहाहा! वह परिणमन की पर्याय भी जिसे बदलनी नहीं। आहाहा! जिसका लक्ष्य, जो पर्याय है, उसका लक्ष्य भी ध्रुव पर है। आहाहा! इसलिए पर्याय का पलटा खाये, वह भी पर्याय से पलटा खाती है। आहाहा! ऐसा पर्याय जानती है। उसे यह परवस्तु का करना, अनुभवन करते हुए, वह मैं नहीं (ऐसा)। उसके ज्ञान में वह यथार्थरूप से आया, ऐसा। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ उसके ज्ञान में आसक्ति में जो पड़ा है, वह तो बहिरात्मा है। उसे शरीर का नाश होने पर, आगे कहेंगे ७७ में। शरीर की गति। गति कहेंगे। गति अर्थात् नाश, ऐसा। शरीर गति करता है—नाश होता है। आहाहा!

अब मुझे उनके संयोग का सुख नहीं मिलेगा। ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! जब तब गर्म-गर्म रोटी, चावल, दाल, आँधण ताजा गर्म। यह सब स्त्री, कुटुम्ब, परिवार हो तो मिले, यह न हो तो दे कौन?

मुमुक्षु : आप ऐसा कहते हो कि उपयोग होनेवाला हो, वह होनेवाला है....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा अज्ञानी मानता है। इसलिए उसे उनके वियोग से दुःख

होता है कि आहाहा! यह सब मेरे संयोगी अनुकूल के साधन थे। भाव में उसे अपनी चीज़ जो भिन्न है, ऐसा भासित नहीं हुआ; इसलिए इन संयोगी चीज़ों में मैं हूँ और उस संयोग का वियोग होने पर इसे दु:ख होता है। आहाहा!

अब मुझे उनके संयोग का सुख नहीं मिलेगा।'—ऐसे वियोग के दु:ख से, वह मरण से बहुत डरता है। आहाहा! ऐसे वियोग के कारण से। संयोग है, उसका वियोग। संयोग है, उसका वियोग होता ही है वह। आहाहा! संयोग के सम्बन्ध में जिसने ममता की है, उसे उसके वियोग काल में दु:ख हुए बिना रहेगा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जितना राग करे, उतना सामने दु:ख।

पूज्य गुरुदेवश्री : जितना अन्दर प्रेम है, उतना वियोग में उसे दु:ख होगा। आहाहा! यह ७६ कही।

श्लोक - ७७

यस्तु स्वात्मन्येवात्मबुद्धिः स मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह-

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम्॥ ७७॥

आत्मन्येवात्मस्वरूप एव आत्मधीः अन्तरात्मा शरीरगतिं शरीरविनाशं शरीरपरिणतिं वा बालाद्यवस्थारूपां आत्मनो अन्यां भिन्नां निर्भयं यथा भवत्येवं मन्यते। शरीरविनाशोत्पादौ आत्मनो विनाशोत्पादौ न मन्यत इत्यर्थः। वस्त्रं त्यक्त्वा वस्तान्तर-ग्रहणमिव॥७७॥

परन्तु जिसको अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि है, वह मरण नजदीक आने पर क्या करता है? वह कहते हैं —

आत्मबुद्धि हो आत्म में, निर्भय तजता देह।
वस्त्र पलटने सम गिनें, तन-गति नहीं सन्देह॥ ७७॥

अन्वयार्थ - **(आत्मनिः एव आत्मधीः) आत्मस्वरूप में ही जिसकी दृढ़**

आत्मबुद्धि है—ऐसा अन्तरात्मा (शरीरगतिं) शरीर के विनाश को अथवा बाल-युवा आदिरूप उसकी परिणति को (आत्मनः अन्यां) अपने आत्मा से भिन्न (मन्यते) मानता है अर्थात् शरीर के उत्पाद विनाश में अपने आत्मा का उत्पाद-विनाश नहीं मानता और इस तरह मरण के अवसर पर (वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव) एक वस्त्र को छोड़कर, दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह (निर्भयं मन्यते) अपने को निर्भय मानता है।

टीका - आत्मा में ही अर्थात् आत्मस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला-अन्तरात्मा, शरीर की गति को अर्थात् शरीर के विनाश को अथवा बालादि अवस्थारूप शरीर की परिणति को निर्भयरूप से (निःशङ्करूप से) आत्मा से अन्य-भिन्न मानता है; वह शरीर के उत्पाद-विनाश को, आत्मा का उत्पाद-विनाश नहीं मानता — ऐसा अर्थ है; जैसे - वस्त्र का त्याग करके, अन्य वस्त्र का ग्रहण करना, वैसे।

भावार्थ :- अन्तरात्मा, आत्मा को शरीर से भिन्न समझता है; दोनों को एकरूप नहीं मानता; इसलिए वह शरीर की अवस्था को आत्मा की अवस्था नहीं मानता अर्थात् शरीर की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं मानता। जैसे - एक वस्त्र तजकर, दूसरा वस्त्र ग्रहण करने से शरीर का कुछ नहीं होता; इसी प्रकार एक देह तजकर, दूसरी देह धारण करने पर आत्मा को कुछ नहीं होता-ऐसा समझकर वह मरण के समय में निर्भय रहता है; मरण से नहीं डरता।

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानी समझता है कि जैसे - मकान का नाश होने पर, उसमें रहे हुए आकाशद्रव्य का नाश नहीं होता; इसी प्रकार शरीर का नाश होने पर, उसमें रहे हुए आत्मा का नाश नहीं होता। ऐसी समझ के कारण, उसको किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं रहती। वह मरण-प्रसङ्ग में निर्भयता का सेवन करता है और आत्मस्वरूप में मग्न रहता है।

ज्ञानी, मृत्यु के समय अधिक दृढता के लिए आत्मा को लक्ष्य करके कहता है कि —

'हे आत्मन्! तुम तो ज्ञानरूपी दिव्यशरीर के धारक हो; इसलिए सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे इस जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजर के नाश के समय, तुमको भय करना उचित नहीं है।'

'हे आत्मन्! इस मृत्युरूप महोत्सव के प्राप्त होने से तू कैसे डरता है? क्योंकि इस मृत्यु द्वारा तो तू ज्ञानादि स्वरूप में स्थिर रहकर, अन्य शरीररूप नये नगर की ओर गमन करता है।'

'गर्भ से आज तक, तू देह पिंजर में अनेक प्रकार के दुःख भोगता पड़ा रहा है; मृत्युरूपी बलवान राजा के अलावा, अन्य कौन तुझे इस देह पिंजर में से मुक्त कर सकने योग्य है।'

'जिस पुरुष ने, मृत्युरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर भी, अपने आत्मा का हित नहीं साधा, वह फिर से संसाररूपी कादव (कीचड़) में फँसकर, अपना क्या कल्याण करेगा?[१] '

— ऐसे विचार से ज्ञानी, मरण से भय नहीं पाता, परन्तु वह मरण को मित्रसमान समझता है, उसको एक महोत्सव के रूप में देखता है; और इसलिए वह निराकुलतापूर्वक आत्मस्वभाव में स्थिर होकर, समाधिमरण साधता है॥७७॥

श्लोक - ७७ पर प्रवचन

परन्तु जिसको अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि है,... अर्थात् जिसे भेदज्ञान है। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूपी परमानन्द का धाम, ऐसा जिसे भान हुआ है। उसे आत्मा में आत्मबुद्धि है। समझ में आया? आहाहा! यह कहा था न, एक दामनगर में था एक सेठ। होशियार गिना जाता था, लौकिक के कार्य में सर्वत्र बहुत भाग लेता था। मरण के समय देखने आवे सब गाँव के सेठिया। खुशालभाई थे। यह जगुभाई नहीं थे बड़े जगुभाई? गढडावाले। यहाँ रहते न जगुभाई, नहीं? उनके बापू। जगुभाई यहाँ रहते बड़े अपने। दामनगरवाले वहाँ रहते नहीं वे मणिभाई के साथ? नहीं वळा के उतारा में। यह गढडावाले, नहीं? उनके पिता थे। इज्जतदार। बाहर में सेठिया और सब कामकाज संसार के हों, वहाँ पहुँच जाये। वहाँ जाये, उनकी छाप पड़े। इसलिए अन्त में स्थिति आयी तो गाँव के बहुत लोग देखने आवे। आँख में से आँसू की धारा बहे।

१. मृत्यु महोत्सव, श्लोक-९, १०, १२, १४

अरे रे! आहाहा! मैंने मेरा कुछ नहीं किया और यह सब संसार की अनुकूलता करने में मेरी जिन्दगी गयी। ऐसा बेचारा (बोले)। खुशालभाई थे। एक आँख वह थी। आहाहा! यह तो इतना कहलाते चतुर मनुष्य, लौकिक अपेक्षा से। आहाहा! यह ऐसे निधि जाये अन्दर से, भाई! आहाहा! और भणकार बजा करे, हो गया। यह सब गाँव का और सबको सम्हाला, वह कोई यहाँ मदद करने आता नहीं। आहाहा! यह सब छोड़कर अब जाना है। आहाहा! परन्तु यह भी मैंने मेरा किया नहीं और इसमें अब हो गया। आहाहा! आँसू की धारा बहती जाये।

वह नहीं अपने भाई, ९० में। वह म्युनिसिपल्टी के। नाम क्या था?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वे।

मुमुक्षु : प्रेमचन्दभाई थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रेमचन्दभाई। ९० में। प्रेमचन्दभाई थे। शरीर-बरीर बहुत मजबूत लट्ठ जैसा शरीर। परन्तु कहीं गये होंगे यह विवाह में और जलेबी-बलेबी खायी होगी, उसमें यह सब... उसमें से दोनों ऐसा हो गया। कसकर कफ। श्वास लेने पर लिया जाये नहीं, छोड़ने से छोड़ा जाये नहीं और पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... मन्दिरमार्गी थे। परन्तु चातुर्मास में मैं वहाँ था, इसलिए आदमी आया। महाराज! दर्शन करना है। मांगलिक सुनाओ। चलो भाई, कहा। बैठे। रजाई में सो रहे थे। सुन्दर शरीर खाये-पीये लट्ठ, परन्तु हो गया, दोनों यह नलियाँ कफ से भर गयीं। आँसू बहते जाते दोनों आँखों में से और स्त्री बैठी ऊपर। वहाँ खाट पर। पूछना, अब क्या यह जाता है तो पूछ लें। अरे... परन्तु यह क्या करते हो, परन्तु अब यह। आहाहा! अकस्मात् हो गया। क्योंकि विवाह में गये होंगे। दो-तीन दिन तब तो। (संवत्) १९९० की बात है न? कितने वर्ष हुए?

मुमुक्षु : विवाह में गये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : विवाह में गये थे। ४० वर्ष हुए। यह पहले तो सब बहुत था

न ? अब बहुत हो गया ठीक सा। तीन-तीन दिन सम्हाले, यह सब करे। मांगलिक सुनते थे परन्तु आँसू की धारा बहती जाये। सहन न हो। ऊपर स्त्री कौने में बैठे। रजाई पर बैठकर पूछे। क्या करते हो तुम यह ? कहा। अब यह जाने की तैयारी और यह देह छोड़कर। ऐई ! आहाहा ! अब इसे जाना है यह देह छोड़कर। उसे यह तुम यह सब क्या करते हो ? ऐई... रतिभाई ! यह तुम नहीं पहिचानते होंगे। प्रेमचन्दभाई थे। सदर में म्युनिसिपल्टी की नौकरी। भेड़-वेड़ को मारना हो तो वह जाँच करके मारा जाये। पास कर दे। सड़े हुए न हों, वैसे न हों। सब खबर है। मन्दिरमार्गी थे। परन्तु उसमें ऐसा तो हमारा प्रेम हो न सबको। तब कहाँ समझ थी ? मांगलिक सुनाते थे। आँसू की धारा। कहीं लेने से लिया जाये नहीं।

यह और दूसरे भाई नहीं अपने पुंजाभाई के पुत्र अमुलख बेचरभाई के परिवारी। बेचरभाई के नानालालभाई के। राजकोट। यह अन्तिम स्थिति पूरा परिवार इकट्ठा हुआ। कमरे में सब नानालालभाई, बेचरभाई, मोहनभाई, बहुएँ पूरा कुटुम्ब। अब यहाँ तैयारी। नवविवाहित और उसमें से यह तैयारी उठने की। आहाहा ! बुलाओ महाराज को, कहे चलो मांगलिक। परन्तु कहाँ बेचारे को ली जाये श्वास। बेचरभाई जरा उसे प्लेट दी। प्लेट में कुछ मौसम्बी या कुछ होगा अचेत। ऐसे दो। हाथ पकड़े रहे नहीं हाथ। बेचरभाई पकड़कर रखे। उसे तो पीड़ा का पार नहीं। आहाहा !

उसने माना है मेरा, उससे पृथक् पड़ा नहीं, उसे पृथक् पड़ने के समय में चिल्लाहट मचा जायेगा। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा ! सब बेचारे रोते हों। बेचरभाई रोवे, नारणभाई थे, सब थे। मोहनभाई सब थे। उसके काका का पुत्र है पुंजाभाई का पुत्र। आहाहा ! यह देखो संसार... यह संसार... पहिचानते थे तुम ? नहीं पहिचानते होंगे। थे ? लो। उस कमरे में।

मुमुक्षु : सुना....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह तो सुनाया है। .... यह तो सुनाया था। पूरा कुटुम्ब इकट्ठा हुआ। उसे तो पीड़ा का पार नहीं और दोनों फेफड़े भर गये। क्या कहलाता है तुम्हारे डबल ? डबल निमोनिया। आहाहा ! बापू ! वह तो जड़ की दशा, जिसने आत्मा

को जड़ से, राग से भिन्न है, इस प्रकार जाना नहीं, इस प्रकार माना नहीं, इस प्रकार माना नहीं। आहाहा! उसका मानना अर्थात् आनन्द की दशा में अन्दर प्रगट होकर मानना, इसप्रकार जिसने जाना-माना और अनुभव किया नहीं, उसे शरीर छोड़ने के काल में... आहाहा! आंतड़ियां-आंतड़ियां दबाव में आयेगी। यहाँ कहते हैं।

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम्॥ ७७॥

आत्मबुद्धि हो आत्म में, निर्भय तजता देह।
वस्त्र पलटने सम गिनें, तन-गति नहीं सन्देह॥ ७७॥

टीका - आत्मा में ही अर्थात् आत्मस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला... अर्थात् मैं तो ज्ञान और आनन्द का पिण्ड प्रभु हूँ, ऐसा आत्मा को जिसने अनुभव किया, जिसने राग से और देह से जिसकी चीज़ भिन्न है, ऐसी भिन्नता के भान में आया, उसे यहाँ अन्तरात्मा कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! भावार्थ में अन्तरात्मा लेंगे। मूल तो यहाँ भिन्न किये हुए जीव की बात है। जिसने राग और विकल्प से भिन्न जिसने किया है पर्याय द्वारा, वह पर्याय भी जहाँ द्रव्य से भिन्न है। आहाहा! जहाँ पर्याय का ध्येय है जो ध्रुव, वह तो त्रिकाल एकरूप है, ऐसा जिसने पर्याय से अन्तर में वस्तु के स्वभाव को पर्याय से स्पर्श किया है, इसका नाम अन्तरात्मा और इसका नाम आत्मा में आत्मबुद्धि। आत्मा में आत्मबुद्धि। आहाहा! यह इसे करने का है, यह इसे रमने का, स्थिर होने का यह है। आहाहा!

आत्मा में ही अर्थात् आत्मस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला... आहाहा! मैं तो ज्ञानस्वरूप से, आनन्दस्वरूप से, शुद्धस्वरूप से हूँ। आहाहा! ऐसा **अन्तरात्मा,...** देखो, भाषा प्रयोग की है न? टीका में ही है। '**आत्मधीः अन्तरात्मा**' अन्तरात्मा अर्थात् यह आनन्द और ज्ञानस्वरूपी जो वस्तु है, उसमें जिसने अपनापना स्थापित किया है, राग और देह की क्रिया और वाणी से जिसने अपनापन उत्थापित किया है। आहाहा! दृष्टि वहाँ से हट गयी है। यह कहीं बातों से वडा हो, ऐसा नहीं है। बातों के वडा नहीं कहते लोग? बातों से वडा नहीं होते। वडा किया, ऐसा हो और ऐसा हो, उड़द का आटा ऐसा

होता है, फिर उसे ऐसा करे और फिर उसे तेल में तले, फिर उसे ऐसा वडा हो पोचा। अन्दर में पोला। फूलकर ऐसे वडा हो। यह बातें हों, वहाँ वडा हो जाता है? आहाहा! इसी प्रकार इसे आटा चाहिए, उसकी चीज़ चाहिए, उसकी कला के लिये तेल चाहिए तलने के लिये। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा की बातें करे, इससे कहीं आत्मा हो जाये, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

आत्मा में ही अर्थात् आत्मस्वरूप में ही... आहाहा! आत्मस्वरूप अर्थात् कि उसका ज्ञान और आनन्द वह स्वरूप है। स्वयं अविनाशी ऐसा उसका ज्ञान और आनन्द अविनाशी है। ऐसे स्वरूप में ही अपनेपन की बुद्धिवाला आत्मबुद्धिवाला अर्थात् कि अन्तरात्मा। आहाहा! **शरीर की गति को...** पाठ है न? **'शरीरगतिमात्मनः' शरीर के विनाश को...** गति अर्थात् विनाश। आहाहा! शरीर के विनाश का अर्थ? शरीर की पर्याय जो है यहाँ नजदीक, वह दूर हो जाती है, रजकणों की पर्याय। वह शरीर का विनाश। आहाहा!

ऐसे **शरीर की गति को अर्थात् शरीर के विनाश को अथवा...** विस्तार किया है। **बालादि अवस्थारूप शरीर की परिणति को...** बाल अवस्था, युवा अवस्था, वृद्ध अवस्था, रूपवान अवस्था, स्थूल अवस्था, कृश अवस्था। शरीर की आदि। आहाहा! उसकी **परिणति को निर्भयरूप से (निःशङ्करूप से) आत्मा से अन्य-भिन्न मानता है;...** उसे समाधि होती है। आहाहा! परन्तु जो पर के प्रेम में पड़ा और पर छूटे, तब उसे असमाधि अर्थात् भय होता है। आहाहा! एक ओर दस्त रुके, उल्टी हो नहीं। आहाहा! कान में दर्द पड़े, रक्त का धबकारा... जितने रोग हैं, उतने तो बाहर दिखाई न दे। अँगुल-अँगुल में छियानवे रोग। एक अँगुल में छियानवे। यहाँ (आत्मा में) एक-एक प्रदेश में अनन्त आनन्द। आहाहा! ऐसे आत्मा को जिसने भिन्न जाना है, भिन्न माना है, जिसने भिन्न राग से और शरीर से भिन्न है, ऐसा जिसने अनुभव किया है। आहाहा! जो वर्तमान पर्याय को गहरे-गहरे द्रव्यस्वरूप है, वहाँ ले गया है, उसने शरीर को आत्मा से भिन्न जाना है। ऐसा है।

दामोदर सेठ को एक बार वायु हुआ वायु (रोग)। वे पैसेवाले थे न इस ओर के

बनिया। दस लाख रुपये तब। अब अभी तो कितने ही विधवा बाईयों में दस-दस लाख हो गये। यह तो तब की बात है, ६० वर्ष, ७० वर्ष पहले की। दशाश्रीमाली में दस लाख तो उसके पास थे। दामोदर सेठ। उसे रोग हुआ। ऐसा रोग... ऐसा रोग वायु का। फिर वह पारा नहीं बाँधते कुछ पारा, भाई! वा को पारा बाँधे। पारा काँच का। गर्दन में डाले। फकीर-बकीर देते हैं और सब था ऐसा सब। फिर पीड़ा। वह गाँव का सेठ, नगरसेठ पैसेवाला, संसार की बुद्धिवाला। कहता है कि मुझे बन्दूक मारो। मुझसे सहन नहीं होता। आहाहा! ऐसा सुना था। आहाहा! होशियार कहलावे, घर में घोड़ा साथ में। एक घोड़ा, ऐसा नहीं। घोड़ों की लाईन। बनिया दशाश्रीमाली, परन्तु दरबार जैसा। जमींदार। ऐई.. चिमनभाई! तुम्हारे रिश्तेदार होता है। और घोड़े पर बैठकर जब निकले। ऐसी घोड़ी रखी थी वह कुछ। बड़ा राजा दिखे। वह मरने... मरने के समय नहीं, उसके पहले की बात है। पहले की बात है। ओहो! मुझे सहन नहीं होता। बन्दूक से उड़ाओ। आहाहा!

मुमुक्षु : मरने के समय कहे मुझे कोई खींचता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो मरने के समय। यह तो पहले। मरने के समय तो मुझे कोई खींचता है। क्योंकि दृष्टि बहुत उल्टी थी और अभिमान बहुत सेवन किया हुआ। कठिन काम है। इसलिए ऐसी परिणति हीन होने लगी। आहाहा! बहुत कठिन काम बापू! यह वस्तु की स्थिति ऐसी है। आहाहा!

कहते हैं कि जिसने इस शरीर से आत्मा भिन्न जाना है, माना है, अनुभव किया है, उसे शरीर की गति अर्थात् नाश के समय निर्भय होगा। आहाहा! अर्थात् कि उसे समाधि और शान्ति रहेगी, ऐसा। परन्तु जिसने भगवान आत्मा शरीर की पर्याय और राग की दशा से भिन्न जाना नहीं, अन्तर में अनुभव में आया नहीं, उसे शरीर की गति के समय भय होगा, डर होगा। आहाहा! वहाँ कोई शरण नहीं है। आहाहा!

कहा था न यहाँ वह करशनजी के बहनोई थे। दो स्त्रियाँ थीं, दो स्त्रियाँ। वैष्णव थे। व्यक्ति चतुर दिमागवाला। यहाँ था। तुम्हारे मकान में। (संवत्) १९९२ के वर्ष की बात है। १९९२ की।

मुमुक्षु : सेनेटोरियम में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। उसके सेनेटोरियम में। तब तो सेनेटोरियाम कहाँ लिया था? बाद में लिया न? दूसरा ग्राहक न हो जाये, इसलिए पहले जाकर उसने ले लिया। छोटाभाई को। ऐसा सब सुना था। तब तो नहीं था उसका। तब वे रहते।

बड़े-बड़े डॉक्टर आये। उसने मुझे बुलाया। परन्तु डॉक्टर इंजेक्शन दे तो भी कहे, महाराज! मुझे मांगलिक सुनाओ। शरीर जीर्ण है, अब वस्त्र फट गया है। यह फटा हुआ वस्त्र अब नहीं रहेगा, ऐसा बोला था, हों! अब दूसरा वस्त्र आयेगा। था वैष्णव परन्तु बेचारा आदमी ऐसे... छोटी उम्र। दो स्त्रियाँ घर में और करशनजी थे। बड़ी उनकी बहिन। आहाहा! ऐसे पीड़ा हो। नाड़ियाँ पकड़ें, इंजेक्शन दें, परन्तु इंजेक्शन क्या करे वहाँ? आहाहा! क्योंकि शरीर से भिन्न आत्मा, ऐसा तो भान नहीं। परन्तु इस इंजेक्शन के कारण जरा उसे बाहर की पीड़ा कम दिखाई दे। परन्तु निश्चित तो हो गया कि अब यह शरीर बिल्कुल नहीं रहेगा।

महाराज! वस्त्र—शरीर जीर्ण हो गया है। अब यह दूसरा वस्त्र—शरीर आयेगा, ऐसा लगता है, ऐसा कहते थे। आहाहा! 'एक रे दिवस ऐसा आयेगा...' क्या कहे? सोता। 'महेल और माळिया में सुतो सोड तानकर सुतो, निकालो रे निकालो इसे सब कहे।' आहाहा!

अहमदाबाद में एक डॉक्टर का लड़का मर गया, फिर उसकी बहू बाँधने नहीं देती थी। क्या कहलाता है तुम्हारा वह? अर्थी। फिर अर्थी बाँधने नहीं देती थी, इसलिए डॉक्टर, डॉक्टर आदमी चतुर जरा। कहे, तुझे अब अपने इसे रखते हैं यहाँ सन्दूक में। वह भी इनकार करे। बाँधने देना नहीं अर्थी में, रखना पोसाता नहीं, तब क्या करना है तुझे? और वह तो रखकर वापस भूत होकर आवे तो? ले! आहाहा!

और एक जगह ऐसा बना था। मरा और यहाँ अभी मुर्दा पड़ा था और रोक्कल चली यहाँ। और वह व्यन्तर में गया भूत। तुरन्त आया। क्यों रोते हो तुम? मैं हूँ तुम्हारा पुत्र हूँ। देखो! मैं दृष्टान्त दो लो अपने पैसे दबाये थे ये। तुम कहो तो २५-५० वर्ष रहूँ यहाँ। नहीं। ले! हमको भय होता है कि यह तो भूत है। ऐसा नहीं चलता... ऐसा नहीं चलता... परन्तु तुझे क्या करना है? रोना छोड़ना नहीं, मुझे यहाँ रखना नहीं। वह आया

व्यन्तर में से तुरन्त। किसलिए रोते हो तुम? तुम कहो तो २५-५० वर्ष यहाँ रहूँ शरीर में। भाई! हमको लड़के भय पावे गाँव के, घर के। ऐई... जेठाभाई! लो, यह सब उसके सगे। आहाहा! अरे... जलाने दे न। डॉक्टर कहे, जाने दे न अब। रखना नहीं और जाने देना नहीं, क्या करना है तुझे? घर में यहाँ सड़ेगा। आहाहा! परन्तु दूसरा क्या हो? वह जड़ है, वह तो मिट्टी है। जीव निकले फिर तो उसमें (शरीर में) सड़ान शुरु होती है, सोजा शुरु होता है। सड़ान शुरु होती है। वह तो मिट्टी है।

जिसने मिट्टी को मिट्टीरूप से जाना और चैतन्य का धनी आनन्द का नाथ है... आहाहा! ऐसा जिसने भेदज्ञान किया है, वह शरीर के उत्पाद-विनाश को आत्मा का उत्पाद-विनाश मानता नहीं। है उसमें? **भिन्न मानता है...** वह। आहाहा! 'जगत को मरण की पीड़ा है, मुझे आनन्द की लहर है।' ऐसा कहे। मुझे तो आनन्द है। आहाहा! क्योंकि मरण के दबाव के समय मेरा दबावपना अन्दर में वर्तता है अब। आहाहा!

जिसका वीर्य अन्तर में ढलता है, उसे आनन्द है। आहाहा! उसे शरीर के वियोग के समय भी आनन्द ही है। और यह साताशीलिया होकर मरे कितने ही। पानी पीते हों और मरते हैं, देखो न! उन्हें रोग न दिखाई दे। आहाहा! परन्तु जिसने शरीर और शरीर के स्वरूप का अजीव अस्तित्व, उसके साथ मेरा सम्बन्ध इतना मैं वह... आहाहा! उसे उसके शरीर की गति अर्थात् नाश के काल में राख होगा, असमाधि होगी, दुःख होगा। आहाहा!

धर्मी को **शरीर के उत्पाद-विनाश को, आत्मा का उत्पाद-विनाश नहीं मानता— ऐसा अर्थ है;...** संस्कृत में है न। '**आत्मनो विनाशोत्पादौ (उत्पादविनाशौ इति साधुः) न मन्यत**' आहाहा! **ऐसा अर्थ है; जैसे - वस्त्र का त्याग करके,...** आहाहा! मलिन और सड़ा हुआ पहना हो वस्त्र, वह ऐसे छूटने के समय (और) नया ग्रहण के समय उसे दुःख होगा? आहाहा! धोतियाँ रेशम की, रेशम का कोट यह सड़ गये सभी वस्त्र निकालने के समय। आहाहा! और सुलगता हो वस्त्र, लो न। उस वस्त्र को छोड़ने के समय उसे दुःख होगा? सुलगता है न यह शरीर। यह वस्त्र... अग्नि में नाश होगा एकदम छोड़ दे। आहाहा! ऐसा कहते हैं।

वस्त्र का त्याग करके, अन्य वस्त्र का ग्रहण करना, वैसे। धर्मी को यह शरीर छूटकर दूसरे शरीर का संयोग होगा। उसमें मेरे आत्मा के साथ कुछ सम्बन्ध है नहीं। यह विनाश और उत्पाद, ऐसा कहते हैं। शरीर का विनाश, दूसरे शरीर का उत्पाद। मैं तो हूँ वह हूँ। आहाहा! बापू! यह कहीं बातों से कुछ मिले, ऐसा नहीं है यह। अन्दर भगवान आत्मा राग से भिन्न उसका अस्तित्व ही पड़ा है। राग से एकपने वह है ही नहीं। आया था न, नहीं? सन्धि। राग और आत्मा के बीच सांध है। नि:संधि हुआ नहीं। आहाहा! राग और भगवान स्वभाव, दोनों नि:सन्धि अर्थात् एक हुए नहीं। सन्धि है। आहाहा!

पत्थर के बड़े ढ़ेर पड़े हों, उसमें रग पड़ी हो रग। रग में बारूद की सुरंग मारे। वह अन्दर रग पड़ी है अन्दर। आहाहा! भगवान चैतन्यस्वभाव दल, भगवान स्वभाव स्वरूप का दल और राग विकारीभाव, दोनों के बीच सांध है। स्वभाव और विभाव दोनों एक हुए नहीं। आहाहा! कहाँ विकृत विभावभाव और कहाँ अविकृत त्रिकाली स्वभावभाव। उसकी जिसने सन्धि में, जिसने प्रज्ञाछैणी को मारा है। आहाहा! अर्थात् कि प्रज्ञा की पर्याय को जिसने अन्तर्मुख झुकाया है, उसने दोनों के बीच छैनी मारी है। आहाहा! यह लोगों को कठिन लगता है। यह सब यह करना और भक्ति, पूजा, दान और दया। आहाहा! परन्तु उसे ऐसा लगे, यह भपका लगे। हमारे जयन्ती कहते थे कल। एक ३५ लाख का तो वह किया है मन्दिर का दरवाजा। ३५ लाख का दरवाजा। महाराज! ऐसा अब २५ वर्ष हो गये हैं बहुत। (संवत्) २००६ के वर्ष। एकाध व्याख्यान रखकर दोपहर और सवेरे यात्रा होगी। एकाध दिन तो आओ, ऐसा कहता था बेचारा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ सब किया था न! बहुत किया था बाद में। ऊपर बहुत फेरफार किया। परन्तु उसमें क्या, परन्तु उससे आत्मा को क्या? आहाहा!

मुमुक्षु : उसकी महिमा कितनी....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी महिमा क्या? भगवान के समवसरण की रचना होती है, ऐसी तो रचना कहीं है नहीं। उसे देखना तो वह क्या? वह तो एक शुभभाव है। आहाहा! यह वह समवसरण देखने से कहीं धर्म होता है? आहाहा!

भगवान स्वयं है, उसे देखने से उसे आनन्द होता है। जो ज्ञान पर को जानने में रुका है, उस ज्ञान को स्व के जानने में रोकना, इस इसका नाम भेदज्ञान है, इसका नाम आत्मा में आत्मबुद्धि है। आहाहा!

भावार्थ :- अन्तरात्मा, आत्मा को शरीर से भिन्न समझता है;... रजकण-रजकण की यह क्रिया आत्मा से भिन्न है। आहाहा! कठिन काम, भाई! अन्तरात्मा-धर्मात्मा अर्थात् कि मैं शुद्धस्वरूपी, परमात्मस्वरूपी, आनन्दस्वरूपी आत्मा हूँ। मुझमें दुःख के परिणाम भी जो राग के, वे नहीं हैं। आहाहा! ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है। यह तो भाई! ऐसी बातें! बाहर से ऐसा हो...हा... करे और माने कुछ धर्म किया। बापू! यह धर्म अलग चीज़ है, भाई! एक समय का धर्म जन्म-मरण के अन्त को लाता है। आहाहा! चौरासी के अवतार कर-करके बापू! यह दुःखी है। यह भले थपाट मारकर लाल नहीं कुछ कहते? क्या कहते हैं? मुख रखे ऐसे। ऐसे लाल नहीं हो तो थप्पड़ मारकर लाल रखे। वह रक्त बाहर आवे न ऐसे थप्पड़ मारे तो। इसी प्रकार यह बाहर की चीज़ की अनुकूलता देखकर, राग की देखकर माने कि मैंने कुछ किया, मेरा धर्म किया। थप्पड़ मारकर लाल करने जैसा है। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि यह राग है, वह मेरा कर्तव्य है, (ऐसा मानता है), उसने आत्मा को जाना नहीं। क्योंकि आत्मा तो शुद्धस्वभाव का पिण्ड है। अनाकुल आनन्द का रसकन्द है। त्रिकाल कन्द प्रभु है, उसे इस राग का कण जो विभाव है, वह क्षणिक, कृत्रिम—उसका कर्ता उसे मानना, उसे स्वभाव का अनादर है। आहाहा! कठिन काम, भाई! वीतरागमार्ग ऐसा है और यह मार्ग पावे, उसे भव का अन्त हुए बिना रहता नहीं। भव ही न मिले जहाँ। आहाहा! अनन्त आनन्द... आनन्द समाधि सुख में। समाधितन्त्र है न!

कहते हैं, **अन्तरात्मा, आत्मा को शरीर से भिन्न समझता है; दोनों को एकरूप नहीं मानता;...** जड़ के काम जड़ से, मेरे काम मुझसे, ऐसे भिन्न जानता है। आहाहा! **इसलिए वह शरीर की अवस्था को आत्मा की अवस्था नहीं मानता...** युवा अवस्था इतना मैं; मेरी वृद्धावस्था हो गयी, मेरी बाल अवस्था गयी, ऐसा अज्ञानी मानता है।

आहाहा! बाल अवस्था, युवा और वृद्धावस्था, वह तो जड़ की अवस्था यहाँ है। आत्मा बाल भी नहीं, युवा भी नहीं और वृद्ध भी नहीं। आहाहा!

हाँ, यह राग और शरीर को अपना माननेवाला बाल अवस्था—अज्ञानदशा में है वह। वह बाल अवस्था है। और जिसने राग से भिन्न करके अपना अस्तित्व जितना, जितना है, उतने में बुद्धि को स्थापित करके भिन्न पड़ा, वह युवक है। वह धर्म में युवक है। भले आठ वर्ष का बालक हो। आहाहा! और जिसे आत्मा के ज्ञान से उपरान्त स्थिरता अन्दर बढ़ते-बढ़ते जिसे केवलज्ञान हो जाता है, वह आत्मा वृद्ध है। वह गुण में पक गया। आहाहा! शरीर की अवस्था तो मिट्टी की यह जड़ की है। ऐसी बात है, भगवान! बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! दुनिया को तो ऐसा लगे, यह सोनगढ़ की बातें सुनकर ऐई... एकान्त है... एकान्त है... वहाँ तो निश्चय। बापू! बात सुन, भाई! तुझे खबर नहीं, बापू! भाई! तेरा नाथ अन्दर विराजता है। वह ज्ञान का लड्डू है, वह आनन्द का पिण्ड है। आहाहा! वह शान्ति का सरोवर है। ओहोहो! अनाकुल वीर्य का अकेला कन्द है वह। अरे... भाई! तू कौन है, तुझे खबर नहीं।

हम यह दया पालनेवाले, व्रत करनेवाले, तपस्या करनेवाले, ऐसी मान्यता क्रिया के राग की, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! काम बहुत कठिन, भाई! इसे सत् कैसा है, इसकी खबर नहीं। चैतन्यस्वरूप से स्वरूप से स्व-रूप से तो शुद्ध आनन्द का नाथ है, ऐसा जिसे भेदज्ञान हुआ, वह शरीर की अवस्था को अपनी नहीं मानता। रोग हुआ तो वह मुझे रोग हुआ, अज्ञानी ऐसा कहता है। मैं तो पूरी जिन्दगी रोगीष्ट हूँ, बापू! कहते हैं। तू रोगी या शरीर? आहाहा! शरीर की निरोगता कभी देखी नहीं। पूरा रोग में और रोग में गया। यह स्त्री हो और पति ठीक सा न हो तो रोवे। अरे... कभी पति का सुख देखा नहीं। जब से क्या कहलाता है? शादी का सेहरा-सेहरा। तब से तो यह सब सुना हुआ है, हों! सब देखा हुआ है। सेहरा बाँधा तब से हैरान-हैरान। रोटियाँ व्यवस्थित नहीं। ऐई... चिमनभाई! यह संसार की दशा। आहाहा!

मुमुक्षु : अपने .... ऐसी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसका स्पष्टीकरण होता है। आहाहा!

जिसने अपने आत्मा का स्वभाव, विभाव और शरीर से भिन्न जाना, वह विभाव और शरीर की अवस्था मेरी मानता नहीं। आहाहा! और जिसने विभाव और शरीर से आत्मा भिन्न जाना नहीं, वह विभाव की और शरीर की अवस्था मेरी है, उसमें वह हैरान होकर मर जाता है बेचारा। वह दुःखी है।

शरीर की अवस्था को आत्मा की अवस्था नहीं मानता अर्थात् शरीर की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति... उसमें आता नहीं है? छहढाला में आता है। 'तन उपजत' आता है। यह सब उसमें से निकाला है। आहाहा! स्वयं उपजे और स्वयं नाश हो। आहाहा! 'तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान...' परन्तु वह तो अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है। आत्मा उपजे और आत्मा मरे? आहाहा! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ का यह हुकम है, भाई! तुझे तेरी खबर नहीं, इसलिए तू पर की खबरों में चला गया, दुःखी है, भाई! आहाहा! और देह छूटने के समय तू तड़पेगा। आहाहा! पैर काँपेंगे। आहाहा!

वे कहते थे वे। फाँसी दी न अभी एक को, नहीं? लुहार नहीं राजकोट में? एक बाई को मार डाला था। शाम तक तो उसे उसमें होशियारी में रहा। हिम्मत में। सोता था। खबर है, सवेरे तो फाँसी चढ़ानी है। सोया, तीन घण्टे नींद ली। जगा तो कुछ गत नहीं। और जहाँ ले गये। वहाँ गये थे न हम एक बार जेल में। कैदी कहे हमें दर्शन करना है, हमें सुनना है। राजकोट की जेल में गये थे। अभी भी गये थे, कहा न यह बेगमगढ़। चालीस डाकू, बड़े डाकू है न बड़े? उन्हें जय नारायण की शरण में जाकर छूटे हैं। वहाँ बेगमगढ़ है, वहाँ हमारा आवास था और वहाँ जेल थी, इसलिए तीन-चार बार वहाँ हमें जाना पड़ा था।

एक बार डाकू कहे, हमारे महाराज के दर्शन करना है। भाई! और महाराज बहुत प्रसिद्ध हैं। डाकू, भारी डाकू वे। कितनों का खून किये हुए। परन्तु उन्हें छूट थी। घर में जाना हो तो आठ-दस दिन जा आवे। फिर यहाँ आना पड़े वापस। गये थे दस मिनिट अन्दर। चालीस डाकू थे। चालीस आये थे। चार तो बड़े जबरदस्त डाकू थे। हमारे पास बापू कुछ नहीं मिलता। आत्मा तो भगवान है, बापू! यह अज्ञानरूप से यह सब करके

दु:खी होता है। उसे दूसरा क्या, उस बेचारे को। वह बेचारे प्रसन्न होते थे। तालियाँ बजाते थे। प्रसन्न होते थे।

अभी वहाँ थे न! उस ओर आवे न! सागर की उस ओर आया नहीं? सागर के यह सेठ साथ में विदा करने में थे। भगवानदास साथ में थे। सामने ध्वजा लेकर चलते थे ठेठ सागर से। उस खडखडिया पर। क्या कहलाता है तुम्हारे? जीप। नहीं, नहीं जीप नहीं। यह खड़खडिया साईकिल, मोटरसाईकिल। सागर से वे वहाँ तक साथ में। उसके ऊपर दो व्यक्ति और ध्वजा। सेठ साथ में थे न! सेठ की छाप बहुत बड़ी। भगवानदास करोड़ोंपति। करोड़पति ही कहलाते हैं न, बहुत अधिक पैसे। बड़े बादशाह, परन्तु तो भी नरम व्यक्ति, हों! वे साथ में आये थे जेल में। वे आये थे। चलो सब डाकू को देखें तो सही। आहाहा! परन्तु उसे हृदय में अन्दर में कुछ भान नहीं होता और त्रास में। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि भाई! यह मरण के समय जिसने आत्मा की दशा को अपना माना है, 'शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें सुखी।' ऐसा आता है न कहीं? यह आता है। 'शरीर से सुखी, वह सर्व बातें।' ऐसा आता है कहीं। विद्यालय में या ऐसा। ऐसा जरा याद रह जाये। 'शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें।' यह मूढ़ जीवों के लक्षण। ऐसा आता है विद्यालय में आता है। कविता आती है। आहाहा! बापू! शरीर की स्थिति जड़ की... आहाहा! वह तो मिट्टी परमाणु पुद्गल की अवस्था है। एक-एक रजकण की दशा भिन्न है। उसकी अवस्था मुझसे होती है और मैंने रखी, की, बापू! तेरे ज्ञाता-दृष्टा आत्मा को तूने मार डाला है। मैं यह नहीं।

ज्ञान-दर्शन-आनन्द का पिण्ड प्रभु, यह नहीं। मैं तो यह। यह नहीं, इसलिए उसकी हिंसा की। आहाहा! परन्तु यह मैं और यह नहीं, उसने जीव की दया पालन की। स्वयं की हों! पर की कौन पालता था? आहाहा! नरसिंह मेहता नहीं कहते? 'मैं करूँ मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' कर्तापना। मैं करूँ, (ऐसा) नहीं (अर्थात्) कर्ता नहीं, ऐसा कहे। पर के काम सब मैं करता हूँ। परन्तु मैं करता हूँ, ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। यह तो वह है मानता है न। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि 'शरीर की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं मानता।' धर्मी। 'जैसे एक वस्त्र तजकर दूसरा वस्त्र ग्रहण करने से शरीर को कुछ होता नहीं...' शरीर को कुछ होगा? वस्त्र मैला हो तो छूटकर दूसरा वस्त्र पहने। उसमेमं शरीर को कुछ होगा? क्या कहा यह? एक वस्त्र शरीर पर है, उसे छोड़कर दूसरा वस्त्र पहने, उसमें शरीर को कुछ होगा? इसी प्रकार एक शरीर छोड़कर दूसरा आवे, उसमें आत्मा को कुछ होता है? आहाहा! ऐई...!

इसी प्रकार एक देह तजकर, दूसरी देह धारण करने पर आत्मा को कुछ नहीं होता... उस वस्त्र के दृष्टान्त से। एक वस्त्र छोड़ने पर, दूसरा ग्रहण करने पर शरीर को कुछ नहीं होता। आहाहा! **इसी प्रकार एक देह तजकर, दूसरी देह धारण करने पर आत्मा को कुछ नहीं होता...** सर्दी हो और मोटा वस्त्र ओढ़े तो शरीर को कुछ हो, यह यहाँ नहीं लेना है। यहाँ तो शरीर की स्थिति है, ऐसे एक वस्त्र ऐसा का ऐसा हो, उसे छोड़ा और वैसा ही वस्त्र दूसरा ग्रहण किया, उसमें शरीर को कुछ है नहीं। इसी प्रकार एक शरीर को छोड़ते हुए दूसरा शरीर आया, उसमें आत्मा को कुछ है नहीं। आहाहा! जिसने आत्मा को राग और शरीर से भिन्न जाना है, ऐसे अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव... आहाहा! उसे देह छोड़ते हुए और नया देह ग्रहण करते हुए उसे आत्मा में कुछ भी फेरफार नहीं होता। आहाहा!

ऐसा समझकर वह मरण के समय में निर्भय रहता है;... आहाहा! अन्तरात्मा जीव। अन्तरात्मा अर्थात् अन्दर का आत्मा जो पूर्ण है, उसे जिसने माना उसे जिसने अनुभव किया, उसे जिसने आनन्द से, आनन्द के वेदन से जिसने जाना। आहाहा! वह **मरण के समय में निर्भय रहता है; मरण से नहीं डरता।**

ज्ञानी समझता है कि जैसे - मकान का नाश होने पर, उसमें रहे हुए आकाशद्रव्य का नाश नहीं होता;... मकान जल जाये, उसमें आकाश जो अन्दर है, वह जल जाता है? आकाश है न सर्वव्यापक? आकाश नाम का अरूपी पदार्थ। मकान जलने पर... आहाहा! अभी वहाँ थे न मुम्बई? वहाँ एक चार मंजिल का मकान सुलगता था। दूसरी मंजिल से कुछ था नहीं? नीचे से। परन्तु दिशा को जब निकलते थे। हळ... हळ...

हळ... ऐसी लपटें। तब सब अन्दर सुलगता है। आहाहा! खिड़की में से लपटें निकलती थीं। वहाँ अन्दर सब हो न ऐसा फर्नीचर। सब सुलगता हो। लपटें जूतों से निकलती थीं। उसमें वह सुलगा तो उसमें आकाश सुलगता होगा वहाँ? आहाहा!

मकान का नाश होने पर, उसमें रहे हुए आकाशद्रव्य का नाश नहीं होता; इसी प्रकार शरीर का नाश होने पर, उसमें रहे हुए आत्मा का नाश नहीं होता। आहाहा! **ऐसी समझ के कारण, उसको किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं रहती। वह मरण-प्रसङ्ग में निर्भयता का सेवन करता है...** निर्भयता का सेवन करता है। समाधि आनन्द... आनन्द... आनन्द... है। आहाहा! **और आत्मस्वरूप में मग्न रहता है।** लो! देह छूटने के काल में भी आत्मा को—अपने को भिन्न माना है, उसमें वह स्थिर रहता है। उसे दु:ख नहीं होता। अज्ञानी ने शरीर मेरा माना है, उसे छूटते हुए और मित्र तथा कुटुम्बी, स्त्री और सब सुविधा के सुखवाले अरे रे.... कहा जायेगा? चला जायेगा? मुझे कौन देगा? ऐसी चिन्ता में भय पाकर देह छोड़ता है। उसको समाधि होती है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ७, मंगलवार, दिनांक १५-०७-१९७५, श्लोक-७७-७८, प्रवचन-९०

७७ गाथा का विशेष। **ज्ञानी, मृत्यु के समय अधिक दृढता के लिए...** ज्ञानी कहो या धर्मी कहो। कोई कहे कि भाई! ज्ञानी तो बहुत ज्ञान हो, वह ज्ञानी। धर्मी तो हम राग को करते हैं, पुण्य को करते हैं, वह धर्मी। ऐसा नहीं है। ज्ञानी तो ऐसा कि जिसे बहुत ज्ञान हो, वह ज्ञानी कहलाये। परन्तु हम ज्ञानी नहीं, हम धर्मी हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव करते हैं तो हम धर्मी हैं। परन्तु धर्मी ही नहीं। ज्ञानी और धर्मी एक ही चीज़ है। जिसे राग से (भिन्न) चैतन्यस्वभाव अन्दर वीतरागमूर्ति प्रभु का जिसे अवलम्बन— आश्रय हुआ है, उसे राग से भी जहाँ भिन्नता भाव में परिणति में वीतरागता वर्तने से राग से भिन्नता वर्तती है, उसे धर्मी कहते हैं, उसे ज्ञानी कहते हैं, उसे साधक कहते हैं।

तो कहते हैं कि ज्ञानी अर्थात् धर्मी **मृत्यु के समय अधिक दृढता...** दृढ़ता तो है पहली। आत्मा शुद्ध चिद्घन, आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है। ऐसा श्रद्धा में, ज्ञान में, अनुभव में आया है, उसे आत्मा के प्रति दृढ़ता तो है। कि मैं निष्क्रिय चैतन्यघन हूँ। ऐसा परिणाम में स्वीकार करके, परिणाम में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अंश जिसे परिणमित हुआ है। आहाहा! उसे यहाँ धर्मी कहते हैं, उसे यहाँ ज्ञानी कहते हैं।

तो **ज्ञानी, मृत्यु के समय अधिक दृढता के लिए आत्मा को लक्ष्य करके कहता है कि—** आहाहा! यह गाथायें हैं मृत्युमहोत्सव की। ९, १०, १२ और १४। मृत्युमहोत्सव नाम का ग्रन्थ-शास्त्र है, उसमें यह चार गाथायें हैं। **हे आत्मन्...** धर्मी हो, उसे राग भी होता है। विषयकषाय का राग भी होता है, तथापि उस राग से भिन्नता का जहाँ भान है, वहाँ राग का होना, उसका वह कर्ता नहीं होता।

सवेरे कहा था न! आत्मा में शरीर का अभाव है। जिसका अभाव है, उसका वह कर्ता कैसे हो? इसी प्रकार आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसे राग का उसमें अभाव है। जिसमें राग का अभाव, वह रागरूप भाव का कर्ता किस प्रकार हो? आहाहा! ऐसी दृष्टि तो पहले से हुई है। परन्तु देह छूटने के काल में भावना की अधिक दृढ़ता करता है। स्थिरता की। सम्यक्त्व की दृढ़ता तो है। पूर्ण शुद्ध परमब्रह्म आनन्द, वही मैं हूँ।

परिणाममात्र से—परिणाम में ऐसा माना है। आहाहा! कि मैं तो ध्रुव शुद्ध पूर्ण ब्रह्म आनन्द हूँ, ऐसे परिणाम से ऐसा माना है। समझ में आया?

वस्तु जो है, उसमें कुछ मानना नहीं। वह तो वस्तु है ध्रुव चैतन्य, परन्तु उसकी ओर ढलते हुए परिणाम ने माना है कि यह पूर्ण शुद्ध हूँ, वह मैं हूँ। आहाहा! ऐसी दृढ़ता तो सम्यक्त्व होने पर हो गयी है। परन्तु मरण के काल में अधिक स्थिरता हो, इसलिए भावना भाता है।

हे आत्मन्! तुम तो ज्ञानरूपी दिव्यशरीर के धारक हो;... देखो! यह कौन मानता-धारता है? पर्याय। आहाहा! मैं तो ज्ञानस्वरूप, ज्ञान जिसका विग्रह अर्थात् शरीर अर्थात् स्वरूप है। वह तो ज्ञानस्वरूप है। **दिव्यशरीर के धारक हो;...** भाषा देखो! ज्ञानरूपी दिव्य शरीर का धारक। आहाहा! आत्मा लेना है न! आत्मा ज्ञानरूपी दिव्य शरीर का धारक। कहो, समझ में आया?

हे आत्मन्! तुम तो... आहाहा! ऐसे परिणाम जो पर्याय है, उसने जो निर्णय किया हुआ है, उसमें अधिक दृढ़ता करता है। ओहोहो! श्रीमद् ने लिखा है एक पत्र में। ***भव के अभाव के समय जिसने भव का अभावभाव रखा, उसे लम्बा भव नहीं होता।*** एक जगह है। आहाहा! भव का अभाव अर्थात् देह छूटने का काल, ऐसा। भव के अभाव काल में। यहाँ ऐसा कहा, शरीर की गति कही थी। ऐसा है न, भाई! नाश। गति अर्थात् नाश। जो जाने की स्थिति में है। आहाहा! जाता है तो आत्मा उसमें से। शरीर तो यहाँ। परन्तु शरीर की गति अर्थात् वहाँ आगे आत्मा में रहने की क्षेत्र में, वह ऐसी भिन्नता हो जाती है। आहाहा! उस समय ज्ञानी विचार करता है कि तू तो... आहाहा! **ज्ञानरूपी...** ज्ञानस्वरूपी, अकेला ज्ञानस्वभाव ऐसा **दिव्यशरीर के (तुम) धारक हो;...** आहाहा! राग का भी धारक नहीं और शरीर का धारक भी वह आत्मा नहीं। आहाहा! देह छूटने का काल आयेगा या नहीं? आहाहा! इस भव में आयेगा? आहाहा! संयोगी चीज़ है तो छूटने का वियोग लेकर तो आयी है। आहाहा! संयोगी चीज़ है, अरे... राग भी संयोगीभाव है। तो एक क्षण में उत्पन्न होकर विध्वंस हो जाता है। आहाहा!

यह शरीर, वह मैं नहीं और राग, वह मैं नहीं—ऐसा जो न लेकर, नास्ति न

लेकर, पहले मैं तो ज्ञानरूपी जाननस्वभाव, प्रज्ञास्वरूप, जाननस्वभाव, इसरूप दिव्यशरीर का धारक आत्मा हूँ। आहाहा! यहाँ तो पर्याय का धारक भी नहीं लिया, भाई! पर्याय ने ऐसा निर्णय किया है, पर्याय ऐसी भावना करती है। यह मैं त्रिकाल ज्ञानरूपी शरीर। पूरा हों, पर्याय भी नहीं। पर्याय तो यह दृढ़ता की पर्याय में पड़ी है, परन्तु उस पर्याय के उस भाव में है कि मैं अर्थात् यह आत्मा... आहाहा!

ज्ञानरूपी दिव्यशरीर के धारक हो;... आहाहा! यह (जड़ शरीर) तो हड्डियाँ, चमड़ी, रक्त, वीर्य जिसमें भरे हैं, वह तो मिट्टी-जड़ है। आहाहा! मैं तो दिव्य ज्ञानशरीर का धारक हूँ। इसका अर्थ यह कि दिव्य शरीर का धारक, दिव्य आनन्द का धारक, दिव्य शान्ति का धारक, दिव्य पुरुषार्थ का धारक। उसे एक गुण से लें तो इसका धारक और सब समुदाय यह सब गुण का धारक है। आहाहा!

यह धीर का काम है, भाई! भाई ने पूछा था - चिमनभाई ने कि धीर का काम अर्थात् क्या कहते हैं? चिमनभाई। वेदन, वेदन है न? इस देश के कहाँ हैं? यह किस देश के? असंख्य प्रदेशी देश में रहता है। आहाहा! और ज्ञानरूपी जिसका शरीर है। धीर का अर्थ कि उसे अन्तर में बहुत शान्ति से, धीरे से आत्मा को कब्जे में लेना है। पर्याय में आत्मा को कब्जे में लेना है। आहाहा! पर्याय ने राग को कब्जे में लिया है। आहाहा! समझ में आया? राग को कब्जे में, उसमें क्या होगा? वह तो दुःख होगा। आहाहा! परन्तु पर्याय ने भगवान को कब्जे में लिया है। ज्ञानरूपी शरीर चैतन्यघन जाननस्वभावरूप त्रिकाल, हों! ध्रुव। उसरूपी दिव्य शरीर का मैं धारक हूँ। आहाहा!

इसलिए सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे... आहाहा! यह शरीर तो सैकड़ों कीड़ों से भरा हुआ है। डॉक्टर तो रक्त में भी जीव देखते हैं न अनन्त? परन्तु भगवान ने तो जीव कहे हैं न अन्दर कीड़े हों, क्या कहलाते हैं? कृमि हों। सिर सड़े, जीवान्त पड़ती है अन्दर। ऐसे करे तो जीवान्त निकले। यह शीतला निकलती है, लो न! दाने-दाने में कीड़े। कहा था न एक लाठी (गाँव) का। जवान महिला थी १८ वर्ष की। उसके दाने-दाने में कीड़े।

सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे इस जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी... आहाहा! **इसलिए**

सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे इस जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी... आहाहा! मरने के समय, देह छूटने के समय तो अनेक प्रकार के रोग भी होते हैं। आहाहा! श्वास ली नहीं जाती, कीड़े पडें अन्दर, डबल निमोनिया हुआ हो। आहाहा! पूरी छाती में मात्र कफ और जाल। कफ का जाल जम गया हो। आहाहा! भोजन का सब कफ ही हो जाये उसे। वह कफ के जाल और ऐसे श्वास ले। श्वास की क्रिया, वह जड़ की है। आत्मा ले सकता है या छोड़ सकता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि मैं तो दिव्य ज्ञानशरीर का धारक हूँ। यह श्वास लेना या छोड़ना, वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! यह तो मुद्दे के रकम की बात है, भाई! आहाहा!

आनन्द की लक्ष्मी से भरपूर भगवान, ऐसा मैं अर्थात् तू। ऐसा अपने को कहता है। **तुम तो आनन्दरूपी (ज्ञानरूपी) दिव्यशरीर के धारक हो;...** यह तो ज्ञान से लिया कि आनन्दरूपी शरीर है। आहाहा! आनन्द जिसका शरीर है, आनन्द जिसका स्वरूप है, आनन्द जिसका अतीन्द्रिय आनन्द जिसका स्वभाव है, उसका मैं धारक हूँ। क्योंकि आनन्द का और ज्ञान का धारक हूँ, ऐसी परिणति पर्याय में खड़ी हुई है। वह परिणति ऐसा जानती है कि मैं आनन्द का धारक हूँ। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वहाँ कोई बातें काम नहीं आती। शास्त्र की बहुत धारणा हो, वह वहाँ काम नहीं आती। आहाहा! शास्त्र का जानपना करके अभिमान सेवन किया हो। जहाँ उसने ज्ञानस्वभाव स्वरूप हूँ, ऐसी तो दृष्टि नहीं। उसे तो यह अधिकता लगी है। आहाहा! परन्तु इससे भिन्न मेरी चीज़। शास्त्र का जानपना पर्याय से तो मेरा ज्ञानरूपी शरीर भिन्न है। आहाहा!

इसलिए सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे... ओहोहो! वे ... नहीं? जीवान्त हो गयी... ऐसे घूमे वहाँ कीड़े निकलें। उसे सर्वत्र जीव हो गये। वहाँ कोई मोती पकते हैं? आहाहा! ऐसा **जीर्ण-शीर्ण...** जीर्ण शरीर अन्त में कहा है न? जीर्ण शरीर। जीर्ण अर्थात् बिखरने की तैयारी हो गयी अब। आहाहा! **पिंजर के नाश के समय,... सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे इस जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजर के...** पिंजड़ा अर्थात् यह। आहाहा! **नाश के समय...** पिंजड़े में पड़ा अन्दर से। आहाहा! बड़ा सिंह पिंजरे में बन्द है। आहाहा! ऐसा मैं भगवान ज्ञानस्वरूपी वह इस शरीर के **नाश के समय, तुमको भय**

करना उचित नहीं है। आहाहा! ऐसा जीव को मृत्यु काल में समझणरूपी बोध करता है। समझ में आया? ऐसे समय में तुझे भय करना उचित नहीं है। यह एक गाथा। मृत्यु महोत्सव की गाथा। १०वीं, ९वीं।

१०वीं। मृत्यु महोत्सव पूरी पुस्तक है। मृत्यु महोत्सव है। आहाहा! 'जगत को मरण की बीक है, ज्ञानी को आनन्द की लहर है।' आहाहा! दिव्य शरीर। साधक है न? पंचम काल की बात है यह। अर्थात् उसे दूसरा शरीर होगा। चाहे जैसा मुनि हो तो भी उसे इस भव में केवल (ज्ञान) नहीं है, इसलिए ऐसे जीव को लिया है न यहाँ! उस **समय, तुमको भय करना उचित नहीं है।** आहाहा!

हे आत्मन्! इस मृत्युरूप महोत्सव के प्राप्त होने से तू कैसे डरता है? देह छूटने के काल में तुझे डर क्या है? आहाहा! यह तो हड्डियों का पिंजर है; भगवान चैतन्य तो अन्दर भिन्न है। आहाहा! देहदेवल में भगवान जिनस्वरूप विराजमान है। यह देवल जले, इससे कहीं देव जल जाये साथ में... आहाहा! शरीर का नाश हो तो उसके आकाश का नाश हो जाये, ऐसा है? आहाहा! जिसकी दृष्टि दिव्य ज्ञानशरीर पर पड़ी है और उस सत्ता का अन्दर जहाँ स्वीकार हुआ है, उसकी परसत्ता का जिसमें अभाव है, ऐसे स्वभाव के स्वीकार के काल में, जैसे पर से भिन्न भान हुआ था, उसके मृत्यु के काल में, देह छूटने के काल में... आहाहा! तू क्यों डरता है?

क्योंकि इस मृत्यु द्वारा तो तू ज्ञानादि स्वरूप में स्थिर रहकर,... तू जहाँ है, वहाँ स्थिर होकर **अन्य शरीररूप नये नगर की ओर गमन करता है।** आहाहा! अन्य शरीर, अन्य शरीर, नया नगर। नया नगर... आहाहा! की ओर गमन करता है। वस्त्र का दृष्टान्त दिया था न? वस्त्र पहला छूटता है और नया पहनता है, उसमें उसे खेद होता है? आहाहा! इसी प्रकार जीर्ण-शीर्ण होने के काल में दस्त हो गये हों एक ओर, २५-५०-१०० दस्त हों एक दिन में। मूत्ररोग, नहीं कुछ कहते? मूत्ररोग हों। मौसम्बी डाले तो वह पानी निकल जाये वहाँ।

हमारे राजपाल को ऐसा हुआ था। जीवराजजी के भाई थे न काका के पुत्र। गुजर गये न वहाँ। ९४ में। मौसम्बी यहाँ डाले और नीचे निकल जाये। अन्तिम स्थिति। एक

कार्यक्रम में इकट्ठे हुए थे। पारेख थे न राजकोट में। मस्जिद की उस ओर। नाम भूल गये। तब वे आते थे। सम्प्रदाय में थे। पचास, पिहत्तर दस्त। मूत्ररोग। नाम क्या भूल गये। राजकोट के पारेख थे। वृद्ध थे, वृद्ध। वह मस्जिद है न मुसलमान की नहीं? उसकी उस ओर थे। गये थे वहाँ दर्शन करने थे न। सम्प्रदाय में थे न। ८९ (संवत्) १९८९ की बात है। क्या कहलाता है झूला। झूले पर बैठे। बैठे और जाये, बैठे और जाये। पचास-पिचहत्तर। आहाहा! इस देह में दस्त न हो तो आत्मा में से होगी? आहाहा! ऐसे समय में शरीर छूटने के काल में, प्रभु! तू तो आनन्द है न, ज्ञान है न! तू तो जाननेवाला है। शरीर हो या जाये, उसका तू जाननेवाला है। शरीर को छोड़ना और नये को ग्रहण करना, यह स्वरूप में नहीं है। यह तो न्याय से इसे बात समझाते हैं। **शरीररूप नये नगर की ओर गमन करता है।** आहाहा!

गर्भ से आज तक,... यह तीसरा बोल। १२वीं गाथा। यह १०वीं हुई। इसलिए यह सेठीजी का पत्र था न? किसका था? निहालभाई का पत्र नहीं? चेतनजी! सेठीजी के प्रति। वह अपने सेठ की बात नहीं यह। वह भी सेठ की बात, दूसरे सेठ... ऐसा कि दुनिया चारित्र कैसे पावे, यह हमारा प्रयत्न है। सेठीजी ने लिखा है। दिया है न जवाब तुमने। तुम क्या कर सकते हो? परन्तु कर सकता हूँ, इतना निर्णय करे पहले। विकल्प का होना, वह भी दुःखदायक और ... है, उसके बदले दूसरे को कुछ धर्म प्राप्त कराऊँ, जगत में चारित्र की विशेषता हो, चारित्र सुधरे, ऐसा उनके पत्र में है। उसे ऐसा प्रयत्न है। उसे यहाँ जवाब देते हैं कि दूसरे के चारित्र सुधारने का तुम्हारा अधिकार है कहीं? आहाहा! किसका पर में सुधार के लिये तुमको यह सब हर्ष और उत्साह वर्तता है? तुम कौन हो और क्या कर सकते हो? इसका पहले निर्णय तो करो। पर को सुधारने के लिये दौड़धूप यह कर सकता है? अज्ञानी को भ्रमणा है। आहाहा!

बन्ध अधिकार में तो यहाँ तक आया है—दूसरे को मोक्ष करूँ, कर सकता हूँ, यह तेरा अध्यवसाय मिथ्यात्व है। आहाहा! क्योंकि उसके वीतरागभाव बिना उसका मोक्ष नहीं होगा। वह वीतरागभाव करे तो वह होता है। वह तुझसे होगा? आहाहा! कठिन काम, भाई! देह और ऐसा सब लक्कड़-फक्कड़ हो गया है न साथ में ऐसे मानो। आहाहा! रजकण-रजकण की पर्याय भिन्न है।

सवेरे उस शब्द का कहा नहीं था, भाई! शब्दरूप जो होते हैं न अनन्त परमाणु। उसकी पर्याय में भी उन परमाणु के सम्बन्ध में, परमाणु में भी शब्दरूप पर्याय की सत्ता वहाँ आगे हुई है। एक में न हो, दूसरे में न हो, तीसरे की... अकेला परमाणु हो, तब उसे शब्द की पर्याय नहीं है, परन्तु यहाँ इकट्ठे हों, तब उसे अपनी योग्यता से शब्द की पर्याय हुई है। आहाहा! समझ में आया? बहुत परमाणुओं के सम्बन्ध में यह परमाणु आता है, तब इसके अपने में भी शब्द की पर्याय प्रगट होने की योग्यता हो जायेगी। आहाहा! यह बहुत सम्बन्ध में आया, इसलिए नहीं। उस काल में बहुत परमाणु की पर्याय शब्द की है, वह उसके अपना परमाणु भी वहाँ तो अन्दर भिन्न ही है। शब्द की अनन्त परमाणु की पर्याय में वह परमाणु भिन्न है, वह कहीं इकट्ठा मिल गया है? आहाहा!

वह शब्द की अनन्त परमाणु के द्रव्य की पर्याय, उसके भी शब्द की योग्यतावाला परमाणु वह शब्द की पर्याय की प्रगटता योग्यतावाला वहाँ है। आहाहा! अकेला नहीं था और शब्द की योग्यता नहीं थी, इनकार किया है। इकट्ठा हुआ, तब उस सम्बन्ध के कारण हुआ या नहीं? आहाहा! वह शब्द की पर्याय अनन्त परमाणु के द्रव्य की पर्याय हो भाषा में। एक परमाणु में शब्द होने की योग्यता नहीं। अनन्त परमाणुओं की पर्याय पिण्डरूप एक पर्याय हो, तब उसे शब्द की पर्याय व्यक्त हुई, उसकी पर्याय स्वयं में, हों! ऐसी अनन्त परमाणु में शब्द की पर्याय की योग्यता हो... ओहोहो! कितनी स्वतन्त्रता है रजकण की!

अकेला था, उसे शब्द की पर्याय नहीं थी, बहुत परमाणुओं के सम्बन्ध में आया, तब उसकी पर्याय में शब्द होने की योग्यता प्रगटेगी। प्रगट है। शब्द की पर्याय अनन्त रजकणों में उस शब्द की पर्याय प्रगट उसमें है। आहाहा! उसका उस समय का काल ही वह है। आहाहा! उसका जन्मक्षण है। ऐसी बातें हैं, बापू! भेदज्ञान नहीं करे तो उसमें फँसकर मर जाये उसमें। भले वह पंच महाव्रत पालन करे, क्रियाकाण्ड करे, संथारा करे दो-दो महीने के। सब अज्ञान था। कान्तिभाई के भाई ने बहुत सब किया है। राजगिरी। ऐई... शान्तिभाई! खबर है या नहीं? अखबार में आया था, फिर हमने पढ़ा हुआ सब। अखबार में आया था भाई का। यह मकान इन्होंने बनाया है। ... मकान

इन्होंने बनाया है। सामने वहाँ वह फँस गया। संथारा के समय पैसे दिये। जगजीवन नहीं जगजीवन? तपसी के रिश्तेदार थे। मणिलालभाई तपसी थे न अपने? उनके रिश्तेदार थे जगजीवनजी। राजगिरी में, ऐई... लोग इकट्ठे हुए थे। हो..हा... हो..हा.. भारी कठिन काम!

किसका संथारा? दृष्टि ही मिथ्यात्व है वहाँ। दृष्टि तो पूरी मिथ्या है। गृहीत मिथ्यादृष्टि है पूरा पंथ। साधु, आर्यिका या गृहस्थ सब मिथ्यादृष्टि—गृहीत मिथ्यादृष्टि है। ऐई... शशीभाई! अब उसे संथारा कैसा? और धर्म कैसा? मिथ्यात्व के पोषक हैं। आहाहा! उसे अनुमोदना, अनुमोदना कि यह गजब किया। महामिथ्यात्व अनन्त संसार का पोषक है वह तो। कठिन बातें, बापू! वीतरागमार्ग की ऐसी... हे वीतराग! ऐसा कहा है न? भक्तामर में भाई! आहाहा! जिसे वीतरागभाव की प्रशंसा जगी है न, जिसका स्वभाव वीतराग चैतन्य का। ऐसा जिसे—परमात्मा को प्रगट हुआ, ऐसे परमात्मा को ... हे नाथ! तेरी वीतरागता की पर्याय आदि को देख लिया, प्रभु! आहाहा! दूसरे धर्मों की स्थिति हमने देख ली। फिर हमने तुम्हें माना और अनुभव किया है। आहाहा! आता है न चेतनजी! '**मन्ये वरं हरिहरादय एव द्दष्टा**' आता है न? तथापि मेरी स्थिति भी ... वीतरागभाव में है। आहाहा!

वीतरागभाव ऐसा मेरा स्वभाव। राग के कहनेवाले और राग से लाभ मनवानेवाले, उन सबको पहले से देख लिया। अब हमारा मन कहीं नहीं जाता। आहाहा! सुजानमलजी! कहते हैं, **गर्भ से लेकर आज तक, तू देह पिंजर में अनेक प्रकार के दुःख भोगता पड़ा रहा है;...** आहाहा! यह व्यवहार से बात करते हैं। देह के कारण दुःख नहीं। वह तो दुःख तो जितना राग है, उसका दुःख है। परन्तु इस देह की स्थिति में रोग अनेक देखो न, आहाहा! आठ-आठ डिग्री, छह-छह डिग्री बुखार आवे। धाणी फूटे, ऐसा लोग नहीं कहते? धाणी फूटे, ऐसा बुखार चढ़ा। भगवान तो अन्दर भिन्न है। आहाहा! ऐसे पिंजर में रहा, पड़ा—ऐसा कहा।

अनेक प्रकार के दुःख भोगता... अर्थात् कि ऐसी स्थिति शरीर में बनती है, उसमें रहता हुआ। **मृत्युरूपी बलवान राजा के अलावा,...** आहाहा! अब इस समय तो

मृत्युरूपी बलवान राजा के अतिरिक्त **अन्य कौन तुझे इस देह पिंजर में से मुक्त कर सकने योग्य है।** आहाहा! देह को मुक्त होने का तो यह मृत्यु ही स्वयं है। आहाहा! दूसरा कोई कर सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! ... देह से छूटा तब उसमें मृत्यु ही काम करती है। दूसरा कोई पृथक् कर सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! थोड़े दिन पहले नहीं एक बड़ी बकरी? चार बड़े कुत्ते। जीवित हों, जीवित। मैंने बहुत देखा नहीं था। वहाँ अच्छी बड़ी बकरी थी। चार कुत्ते, हों! खींच-खींचकर कुत्ते मुँह में लेकर खींचे। यह देह पिंजर। ऐसी स्थिति उसमें थी। उसमें तू रहा है अभी तक, ऐसा कहना है।

मृत्युरूपी बलवान राजा के अलावा,... आहाहा! **अन्य कौन तुझे इस देह पिंजर में से मुक्त कर सकने योग्य है।** है कोई? आहाहा! इसलिए (तुझे) मृत्युरूपी बलवान महोत्सव है। जिससे देह छूटती है। नयी देह मिलेगी और धर्मी को तो देह मिले वहाँ भगवान के पास भी मैं जानेवाला हूँ उस ... काल में। यह भगवान के पास है, इसलिए भगवान विराजते हैं वहाँ। आहाहा! क्योंकि धर्मी जीव है, वह तो स्वर्ग के वैमानिक में ही जाता है। उसे दूसरा शरीर नहीं होता। मरकर मनुष्य हो तो मिथ्यादृष्टि होता है। कोई ऐसा कहे कि मनुष्य महाविदेह में जाता है न, इसलिए तुरन्त उस भव से मोक्ष जायेगा। परन्तु मिथ्यादृष्टि हो वह जाता है। समकिती (मनुष्य मरकर) महाविदेह में नहीं जाता और भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी में नहीं जाता। वह स्त्री और नपुंसक शरीर में नहीं जाता। आहाहा! वैमानिक और पुरुष का शरीर, उसमें साधक जीव उत्पन्न होता है और तब उसे उपजे तब ओहो! दूसरे देव खड़े होते हैं, महाराज! प्रभु! धन्य अवतार! यहाँ लेकर आये तुम। भगवान की पूजा का अवसर है, भगवान की प्रतिमा है, शाश्वत् मन्दिर है। उसकी पूजा करे... कोई कोई पहली पूजा करे, नहीं तो उसे पूछे, ओहो! भगवान कहाँ है? सर्वज्ञ परमात्मा मनुष्यदेह में किस क्षेत्र में है? यह विकल्प आता है तो वहाँ जाते हैं। आहाहा!

कहते हैं कि बाह्य से भगवान की भेंट होने में मृत्यु बलवान राजा मित्र है। आहाहा! भय किसका तुझे? सहन नहीं कर सकता इतनी दशा जरा हो, वह दूसरी बात है। समझ में आया? जरा निर्बलता के कारण राग के कारण दुःख हो, परन्तु इससे शरीर छूटने के

काल में, यह शरीर छूटता है, इसलिए दुःख है—ऐसा नहीं है। शरीर छूटकर तो नया नगर मिलेगा—नया शरीर मिलेगा। आहाहा! एक तो इस भव में है, उसे अभी दूसरे भव में भी रहेगा, शरीर मिलेगा। आहाहा! ऐसी आस्था की बात की है। **देह पिंजर में से मुक्त कर सकने योग्य है।** कोई है नहीं। मृत्यु के अतिरिक्त कोई नहीं है।

अब चौथा श्लोक, १४वाँ। **जिस पुरुष ने....** पुरुष शब्द से आत्मा **मृत्युरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर भी,...** आहाहा! भाषा देखो! देह छूटने का काल तो कल्पवृक्ष है। मृत्युरूपी कल्पवृक्ष। कल्पवृक्ष में जैसे विचारा अनुसार फल मिलता है न उसमें? उसी प्रकार मृत्यु कल्पवृक्ष है। आहाहा! तीन लोक का नाथ वीतराग परमात्मा विराजते हैं, वहाँ जाने का काल तुझे अब आया है। मृत्यु कल्पवृक्ष है। भगवान का विरह था।... कुन्दकुन्दाचार्य ने नहीं कहा? 'आहा! सीमन्धरनाथ का विरह पड़ा भरत में।' यह तो भाव है न ऐसा। वहाँ पौन्नूरहिल। अरे! परमात्मा त्रिलोकनाथ भरतक्षेत्र में नहीं। परन्तु जहाँ है, वहाँ यहाँ का तो हमको विरह है। विरह। आहाहा! साक्षात् सीमन्धर भगवान विराजते हैं। स्थानकवासी के ३२ सूत्र में इन सीमन्धरस्वामी भगवान का नाम नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ... परन्तु उसमें नहीं। यह चर्चा हमारे हो गयी है। ५० वर्ष पहले बोटाद। बोटाद (में) बड़ी चर्चा हुई थी। कहा, यह तीर्थंकर, बीसवें तीर्थंकर सीमन्धर... दूसरे युगमन्धर का नाम है। यह पाठ में... सीमन्धर भगवान बीस के नाम वहाँ नहीं है। नहीं तो यह सीमन्धर भगवान की आज्ञा माँगते हैं। कहाँ सीमन्धर भगवान तो शास्त्र में है नहीं। और यहाँ तो पाठ में सीधे प्रवचनसार... यहाँ तीर्थंकर नहीं, तो महाविदेह में है। आता है न प्रवचनसार में? प्रत्येक-प्रत्येक को मैं वन्दन करता हूँ। है? प्रवचनसार में आता है पहले। गाथा में अन्दर। टीका में है उनका नाम। सीमन्धर भगवान भले यहाँ नहीं तीर्थंकररूप से, परन्तु महाविदेह में विराजते हैं। उन्हें प्रत्येक को मैं समुदायरूप से वन्दन करता हूँ और प्रत्येक को भिन्न-भिन्न लक्ष्य करके भी वन्दन करता हूँ। आहाहा!

देखो, यह पंचम काल के कुन्दकुन्द आचार्य है न? आहाहा! ऐसे अरिहन्तों को।

गाथा है अन्दर। टीका में भी है, लो। टीका में है? '**सर्वानेव सांप्रतमे तत्क्षेत्रसंभव तीर्थंकरा संभवान्महाविदेह भूमि संभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्र प्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरी कृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मी स्वयंवरायमाण परम नैर्ग्रन्य...** आहाहा! संस्कृत है।

आहाहा! टीका भी। अनन्त तीर्थंकर जो वर्तमान, इनके अतिरिक्त केवली, इनके अतिरिक्त वर्तमान यहाँ नहीं, वर्तमान महाविदेह में है, उन्हें समुदाय को सबको और प्रत्येक को भिन्न-भिन्न वन्दन करता हूँ कि जिन्हें केवलज्ञानदशा वर्तती है। ऐसे वीतराग, ऐसी वीतराग की जिसे अन्तर्दृष्टि वीतरागस्वभाव की हुई, उसे ऐसे वीतरागभाव के प्रति प्रेम और भक्ति आये बिना रहती नहीं। शुभभाव है, उस प्रकार का। वहाँ तो ऐसा भी कहा है न भगवान का नाम... नामस्मरण आता है न? आहाहा!

जिनका नामग्रहण भी अच्छा है। देखो, पहले आ गया है। आहाहा! नामग्रहण भी अच्छा है, लो। देखो, इसमें तो तीर्थंकर का नाम आया महाविदेह के। महाविदेह में तीर्थंकर विराजते हैं। कहाँ? ८वीं? ८वीं है।...यह? पहली। हाँ। '**साम्प्रतमेत्र भरतक्षेत्रे तीर्थंकराभावात् पंचमहाविदेह स्थित**' सीमन्धर नाम है, देखो, '**श्री सीमंधरस्वामी तीर्थंकर परम देव प्रभृति तीर्थंकरैः।**' सीमन्धर नाम भगवान है इसमें तो। टीका में है। और मूल पाठ में है। महाविदेह में। मूल गाथा है न? '**वट्टंते माणुस खेते**' यह तीसरी गाथा है। आहाहा! फिर टीका में नाम दिया है सीमन्धर भगवान आदि। ओहोहो!

मृत्युरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर भी,... आहाहा! **अपने आत्मा का हित नहीं साधा,...** देह छूटने का, मृत्यु समय मृत्यु का महोत्सव है। उसने जो महोत्सव नहीं किया, आत्मा का हित नहीं साधा, **वह फिर से संसाररूपी कादव (कीचड़) में फँसकर, अपना क्या कल्याण करेगा?** वह तो कुँए में पड़ेगा।

जिस पुरुष ने, मृत्युरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर भी,... कल्पवृक्ष लिया। आहाहा! **अपने आत्मा का हित नहीं साधा, वह फिर से संसाररूपी कादव (कीचड़) में फँसकर, अपना क्या कल्याण करेगा? ऐसे विचार से ज्ञानी, मरण से भय नहीं पाता, परन्तु वह मरण को मित्रसमान समझता है,...** लो! श्रीमद् में नहीं आया? 'वन में एकाकी

विचरता श्मशान में, अरु पर्वत में बाघ सिंह संयोग जो, मानो पाया मित्र का योग।' नहीं ?

मुमुक्षु : अडोल आसन....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। 'अडोल आसन अरु मन में नहीं क्षोभ हो, मानो पाया परम मित्र का योग जब।' लो। तुझे शरीर चाहिए नहीं और उसे चाहिए है, तो मित्र हुआ। आहाहा! 'अडोल आसन अरु मन में नहीं क्षोभ हो, मानो पाया परम मित्र का योग जब।'

यहाँ तो यह कहा, मरण तो मित्र है। देखो, कहा न? आहाहा! श्रीमद् को समाधिमरण और स्वर्ग में जाये। महाविदेह में न जाये। उतावल से केवलज्ञान प्राप्त कराने... मरकर महाविदेह में गये हैं। आठ वर्ष हुए। पूरा तत्त्व बदल जाता है, उसकी बात... आहाहा!

ऐसे विचार से ज्ञानी, मरण से भय नहीं पाता, परन्तु वह मरण को मित्रसमान समझता है, उसको एक महोत्सव के रूप में देखता है;... आहाहा! **और इसलिए वह निराकुलतापूर्वक आत्मस्वभाव में स्थिर होकर, समाधिमरण साधता है।** आहाहा!

श्लोक - ७८

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादरपरः यस्तु तत्रादरः स न बुध्यत इत्याह -

*व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ ७८॥

व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिस्वरूपे वा सुषुप्तोऽप्रयत्नपरो यः स जागर्त्यात्मगोचरे आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति। यस्तु व्यवहारेऽस्मिन्नुक्तप्रकारे जागर्ति स सुषुप्तः आत्मगोचरे॥७८॥

ऐसा ज्ञान उसको ही होता है कि जो व्यवहार में अनादर रखता है परन्तु जिसको वहाँ (व्यवहार में) आदर है, उसको वैसा ज्ञान नहीं होता—यह कहते हैं—

जो सोता व्यवहार में, वह जागे निजकार्य।
जो जागे व्यवहार में, रुचे न आतम-कार्य॥ ७८॥

अन्वयार्थ - (यः) जो कोई (व्यवहारे) व्यवहार में (सुषुप्तः) सोता है, (सः) वह (आत्मगोचरे) आत्मा के विषय में (जागर्ति) जागता है-आत्मानुभव में तत्पर रहता है (च) और जो (अस्मिन् व्यवहारे) इस व्यवहार में (जागर्ति) जागता है, वह (आत्मगोचरे) आत्मा के विषय में (सुषुप्तः) सोता है।

टीका - व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है, उसमें (विकल्प के स्थानरूप) अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति-आदिस्वरूप (व्यवहार में) जो सोता है—प्रयत्न परायण नहीं है, वह आत्मदर्शन में अर्थात् आत्मविषय में जागता है अर्थात् संवेदन में (आत्मानुभव में) तत्पर होता है परन्तु जो इस उक्त प्रकार के व्यवहार में जागता है, वह आत्मविषय में सोता है (अर्थात् आत्मदर्शन नहीं पाता)।

भावार्थ :- ज्ञानी, प्रवृत्ति-निवृत्तिस्वरूप सांसारिककार्यों में अनासक्त तथा

---

* जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि। जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥

अर्थात् - जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप के काय में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है।

(श्री मोक्षप्राभृत, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, ३१)

अप्रयत्नशील होता है और आत्मानुभव के कार्य में सजग रहता है-तत्पर रहता है; जबकि अज्ञानी, प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसार के कार्यों में प्रयत्नशील रहता है-जागृत रहता है और आत्मानुभव के कार्य में अतत्पर रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

यहाँ आचार्य ने यह बताया है कि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार में अर्थात् अहिंसा, भक्ति, व्रत, नियमादि शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहार में और हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभकार्य से निवृत्तिरूप व्यवहार में—इस प्रकार दोनों व्यवहारों में जो अतत्पर होता है, वही आत्मानुभव कर सकता है परन्तु भक्ति आदि शुभकार्यों की प्रवृत्ति से और अशुभकार्यों की निवृत्ति से आत्मानुभव की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह प्रवृत्ति विकल्पारूढ़ है-रागयुक्त है। राग, भले ही शुभ हो तो भी उससे आत्मज्ञान नहीं होता।

ज्ञानी तो आत्मस्वरूप में स्थिरतारूप प्रवृत्ति करता है; इसलिए उसको व्यवहारधर्म से स्वयं निवृत्ति हो जाती है। उसकी वह प्रवृत्ति, विकल्पारूढ़ नहीं है, अपितु निर्विकल्प है और उससे धर्म होता है।

ज्ञानी को अस्थिरता के कारण कदाचित् पूजा-भक्ति आदि का शुभराग आता है परन्तु वह उसको भला नहीं मानता, उसका उसे स्वामित्व अथवा कर्ताबुद्धि नहीं है; वह राग उसको हेयबुद्धि से वर्तता है; इसलिए उसकी प्रवृत्ति उसमें दिखने पर भी, वह वास्तव में निवृत्तिमय ही है।

अज्ञानी, शुभरागमय प्रवृत्ति में धर्म मानकर, उससे सन्तुष्ट होता है और आत्मस्वरूप की भावना के लिए अतत्पर होता है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' (पृष्ठ २२२ में) कहा है कि:—

'तथा कितने ही जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर, वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ, परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है; इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो; इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी, भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग का बाह्यनिमित्तमात्र भी जानते हैं परन्तु वहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते; शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते है।'

पञ्चास्तिकाय (गाथा-१३६ की टीका) में कहा है कि :—

'वह भक्ति, केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके, ऐसे अज्ञानी जीव के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ, कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।'

आशय यह है कि जब ज्ञानी, स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, तब उसको ऐसी भक्ति हेयबुद्धि से होती है॥७८॥

श्लोक - ७८ पर प्रवचन

ऐसा ज्ञान उसको ही होता है कि जो व्यवहार में अनादर रखता है... यह गाथा आती है। गाथा की भूमिका ७८ की। **ऐसा ज्ञान उसको ही होता है कि जो व्यवहार में अनादर रखता है....** व्यवहार होता अवश्य है परन्तु उसमें प्रयत्न परायण नहीं। आहाहा! यह करूँ और यह करूँ... व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, तप ऐसा विकल्प है, उसका आदर धर्मी को नहीं होता, भाव अवश्य होता है। छद्मस्थ है, उसे भाव होता है। परन्तु आदर नहीं, उपादेयबुद्धि नहीं। आहाहा!

जो व्यवहार में अनादर रखता है परन्तु जिसको वहाँ (व्यवहार में) आदर है,... व्यवहार में जो मग्न है। बस क्रियामूढ़ और व्यवहार के विकल्प में, **उसको वैसा ज्ञान नहीं होता...** उसे सच्चा ज्ञान नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार में मूढ़ कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार-मूढ़ है। व्यवहार में तत्पर है, वह तो व्यवहार में मूढ़ है। निश्चय-अनारूढ़ है। अनादिरूढ़, व्यवहार में मूढ़, निश्चय अनारूढ़। तीन शब्द है न? वह अनारूढ़ किसका? निश्चय और अनारूढ़। ४१३ गाथा (समयसार)।

उसको वैसा ज्ञान नहीं होता—यह कहते हैं — लो!

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ ७८॥

जो सोता व्यवहार में, वह जागे निजकार्य।
जो जागे व्यवहार में, रुचे न आतम-कार्य॥ ७८॥

आहाहा! **टीका - व्यवहार में अर्थात्...** इसकी व्याख्या की। **विकल्प नाम जिसका लक्षण है, उसमें (विकल्प के स्थानरूप) अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति-आदिस्वरूप (व्यवहार में)...** अशुभ से निवर्तना और शुभ में प्रवर्तना, ऐसा जो व्यवहार। आहाहा! भाषा कैसी की, देखा! '**विकल्पाभिधानलक्षणोप्रवृत्तिनिवृत्यादिस्वरूपे व्यवहारे**' ऐसा। व्यवहार की व्याख्या यह। '**व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणोप्रवृत्तिनिवृत्यादि-स्वरूपे**' '**व्यवहारे**' अर्थात्। है न? **व्यवहार में अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है, उसमें (विकल्प के स्थानरूप) अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति-आदिस्वरूप...** यह करूँ और यह करूँ और यह करूँ और यह करूँ विकल्प जो शुभभाव और इसे छोड़ूँ, अन्दर जाऊँ, यह भी एक विकल्प है। व्यवहार की प्रवृत्ति-निवृत्ति का विकल्प। आहाहा! कठिन है।

जो सोता है—प्रयत्न परायण नहीं है,... ऐसा। उसमें प्रयत्नपरायण नहीं। प्रवृत्ति-निवृत्ति के विकल्प में आदर नहीं, प्रयत्नपरायण नहीं। आहाहा! **वह आत्मदर्शन में अर्थात् आत्मविषय में जागता है...** व्यवहार के विकल्प हों, परन्तु उसमें उनका आदर नहीं। हेयबुद्धि से आते हैं। इसलिए वह व्यवहार के प्रयत्नपरायण नहीं। आहाहा! नहीं कहा? छह द्रव्य को जानना यह प्रयत्न—योगसार में नहीं आता? योगसार की गाथा में आता है। परन्तु प्रयत्न वह अलग वस्तु है, यहाँ तो प्रयत्नपरायण। उसी वस्तु में तत्पर हो जाना। समझ में आया? व्यवहार की क्रिया दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि भाव सब व्यवहार का विकल्प है। आहाहा! उस विकल्प में जिसका प्रयत्न तत्पर है, उसे आत्म-जागृति नहीं। और उसका प्रयत्न में नहीं तत्पर, उसे आत्मदर्शन और जागृति है। आहाहा! मोक्षपाहुड़ में है न नीचे? कुन्दकुन्दाचार्य, अपने आ गया है। मोक्षमार्गप्रकाशक में। मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है, और... विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

www.vitragvani.com